प्रमाण-प्रकाश



लेखिका
डॉ. इन्दुमती मिश्रा

2.4-Alm

प्रकाशक—

नवशक्ति प्रकाशन

जे. १३/२४ के. चौकाघाट, वाराणसी।

प्रकाशन वर्ष—

वि.सं. २०६५, सन्
२००८

प्रतियाँ—५००

मूल्य—२००/-

प्राप्तिस्थान—डॉ. इन्दुमती मिश्रा,
बी. ३६/४४ कबीरनगर, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

मुद्रक :
प्रभा प्रेस
जे. १३/२४, के.
चौकाघाट, वाराणसी
फोन : ०५४२-२२०२२३७, ९८३८९२७०९५

भूमिका

तव तत्त्वं न जानामि, कीदृशोऽसि महेश्वरः ।
यादृशोऽसि महादेव, तादृशाय नमो नमः ।।

जो वस्तु अज्ञान से आवृत्त तथा संशय युक्त हो, प्रयोजनवान सामान्यरूप से ज्ञात व विशेषरूप से अज्ञात होती है। जिज्ञासा भी उसी सन्दर्भ में होती है। न्याय-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र व तर्कशास्त्र का प्रारम्भ भी ऐसे ही जिज्ञासा का पारिणामिक स्वरूप है।

क्योंकि प्रमाणों के आधार पर अथवा युँ कहिये कि प्रमाणों की कसौटी पर हम प्रमेय को ही खरा देखने की जिज्ञासा करते हैं। इसी दृष्टिकोण को दृष्टिगत करते हुए प्रायः सभी दार्शनिक अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रमाण व्यवस्थापन करते हैं। परन्तु आस्तिक-नास्तिक के भेद से प्रमाण-व्यवस्थापन में भी अन्तर पाया जाता है। किसी ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना, किसी ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को प्रमाण व्यवस्थापन के लिये चुना, किसी ने अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को प्रमाण व्यवस्थापन के योग्य माना। प्रमेयों में सबसे पहला स्थान आत्मा का है वास्तव में भारतीय दर्शन की मुख्य रुचि उसके मुक्ति में है। आत्मा के विषय में भारतीय दर्शन में चार मत है। चार्वाक के अनुसार चैतन्य विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है; नित्य है एवं स्वप्रकाश चैतन्य है। न्यायवैशेषिक आत्मा को वस्तुवादी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है; जिसमें बुद्धि या ज्ञान सुख, दुःख, राग, द्वेष, इच्छाकृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में विद्यमान रहते हैं। न्यायसूत्र या न्यायभाष्य के अनुसार ईश्वर आत्मा का ही एक विशेष रूप है। जिस प्रकार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण है; उसी प्रकार ईश्वर में भी ये गुण है। इसलिये जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा

के ज्ञान आदि गुण अनित्य होते हैं और ईश्वर के नित्य। जीवात्मा बन्धन और मोक्ष का अधिकारी होता है और ईश्वर इन सबसे विरहित है। आत्मा और मोक्ष को प्रायः सभी आस्तिक नास्तिक दर्शन स्वीकार करते हैं और इसे सिद्ध करने के लिये प्रमाणों का सहारा लेते हैं। नैयायिकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये दस प्रमाण दिये हैं। जिसमें चार प्रमुख हैं—

१. ईश्वर जगत का निर्माता है।
२. धर्म व्यवस्था का अधिष्ठाता है।
३. धर्मग्रन्थों की प्रामाणिकता है।
४. आप्त वचनों द्वारा सिद्ध है।

न्याय दर्शन प्रमाण विचार के कारण ही उच्च और महान है। क्योंकि यह यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति खण्डन मण्डन की प्रक्रिया द्वारा ही करता है। परन्तु प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। नैयायिक प्रमा के करण को प्रमाण स्वीकार करता है। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। परन्तु मीमांसक प्रमा और प्रमाण में भेद स्वीकार नहीं करते। प्रभाकर के अनुसार अनुभुति ही प्रमाण है। जो स्मृति से भिन्न है। परन्तु कुमारिल भट्ट प्रमा और प्रमाण दोनों को एक मानते हैं। अर्थात् मीमांसक धारावाहिक ज्ञान को यथार्थ मानते हैं। नैयायिक प्रमा के करण को प्रमाण मानते हैं। मीमांसक अनधिगतार्थ को प्रमाण मानते हैं।

इस प्रकार प्रामाण्य विचार के सन्दर्भ में जब हम चलते हैं; तो यहाँ पर भी दार्शनिकों में विवाद दिखाई देता है। जैसे—

१. नैयायिकों के अनुसार—प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य परतः।
२. सांख्य के अनुसार—प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य स्वतः।
३. बौद्धों के अनुसार—प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्यपरतः।
४. मीमांसको के अनुसार—प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्यपरतः।

परतः प्रामाण्यवाद का खण्डन—नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान से निश्चित होता है। मीमांसक इसमें अनवस्था दोष मानते हैं क्योंकि एक अनुमान को सिद्ध करने के लिये दूसरा अनुमान दूसरे को सिद्ध करने के लिये तीसरा अनुमान इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। यह सत्य है कि किसी ज्ञान को सिद्ध

करने के लिये हम अनुमान का प्रयोग करते हैं। परन्तु इसका प्रयोजन सिद्धि के लिये है। सत्यता का ज्ञान तो स्वतः हो जाता है।

स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन—इनके अनुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों स्वतः होती है; परन्तु अप्रामाण्य परतः होता है। तात्पर्य यह है कि सत्य स्वयं सिद्ध परन्तु असत्य अन्य प्रमाणों से गम्य है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष अनुमानादि ज्ञान जब उत्पन्न होता है तो उनकी सत्यता में हमारा विश्वास विना किसी तर्क वितर्क के स्वभावतः हो जाता है। परन्तु किसी विरोधी प्रमाण्य में हम उसकी असत्यता का अनुमान करते हैं। मीमांसक लोग स्वतः प्रामाण्यवादी है। इस प्रकार प्रमाणों का स्वरूप अथवा भेद स्वतः अथवा परतः प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत ही होता है। परन्तु सभी प्रमाणों का उद्देश्य प्रमय सिद्धि ही है। चाहें उसका स्वरूप सुखवाद हो, आदर्शवाद हो, प्रयोजनवाद हो नैतिकतावाद हो, स्वेच्छावाद हो। जिसे इस पुस्तक के आधार पर प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। अर्थात् जो प्रमाणों को प्रकाशित करता है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

१. सर्वप्रथम् मैं ऋषि कल्प अपने पति पं. अनिरूद्धदत्तमिश्र (देवेन्द्र शास्त्री) जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ; जिन्होंने समाज के सन्मुख स्वयं प्रकाशित न होकर मुझे प्रकाशित करने का प्रयत्न किया और हर पल लेखन के पठन-पाठन के क्षेत्र में मेरा सहयोग दिया।

२. इसके बाद मैं अपने श्रद्धेय गुरु प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी जी को कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिन्होंने इस पुस्तक के लेखन में मुझे प्रेरित किया व भरपूर सहयोग दिया।

३. अनन्तर मैं अपने गुरु व (आत्मीय बन्धु) डॉ. हरिप्रसाद अधिकारी जी को कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनके प्रेरणा एवं अथक प्रयत्न के द्वारा यह लेखन कार्य सम्पन्न हो पाया।

४. मैं डॉ. नागेन्द्र पाण्डेय (ज्योतिष विभागाध्यक्ष) को भूरिशः धन्यवाद देती हूँ। जिनके प्रेरणा एवं आर्शीवाद से मैं पुस्तक लेखन का कार्य सम्पन्न कर पाई।

५. पुनः अपने अत्यन्त निकटस्थ सहयोगी डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी (का.हि.वि.वि. में प्राचार्य) को धन्यवाद देती हूँ जिनकी प्रेरणा से इस किताब को हिन्दी में पूर्ण कर पाई।

६. मैं प्रकाशक—गोपेश त्रिपाठी जी को धन्यवाद देती हूँ, जिनके अथक प्रयास से पुस्तक प्रकाशन का यह कार्य सम्पन्न हो पाया।

—इन्दुमती मिश्रा

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

न्याय की उत्पत्तिः–विभिन्न मत

न्याय की उत्पत्ति पर दृष्टिपात करने से पूर्व चिन्तन करना आवश्यक हो जाता है कि न्याय किसे कहते हैं? यद्यपि न्याय की परिभाषा विद्वज्जनों ने अपने अपने दृष्टिकोंण से प्रस्तुत की है। परन्तु न्याय की सामान्य एवं सिद्धान्तपूर्ण परिभाषा यहाँ पर द्रष्टव्य है।

न्याय विचारों की उस प्रणाली का नाम है; जिसमें वस्तुतत्त्व के निर्धारणार्थ सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। अथवा जिस अर्थ का साधन करना अभीष्ट है, उनकी सिद्धि जिस वाक्य समूह द्वारा होती है; उसे न्याय कहा जाता है। वास्तव में न्याय शब्द (नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिः अनेन असौ न्यायः) इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन साधनों से प्रतिपादन कर्ता के प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो; वही न्याय शब्द से बोध्य अर्थ होगा।

इसी कारण न्याय को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है; जो न्याय के समस्त पदार्थों के प्रतिपादन में सहयोग प्रदान करता है। (यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि-न्याय अथवा तर्क के द्वारा ही अतीन्द्रिय धर्म तत्त्व का भी ज्ञान होता है। इसी तर्क को ही आधार मान कर प्रवृत्त दर्शन न्याय शब्द से प्रयुक्त होते हैं।

चिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय[२] ने प्रतिज्ञादि पाँच के समुदाय को न्याय शब्द से प्रदर्शित किया है। ये प्रतिज्ञादि पञ्चक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन भेद से पाँच प्रकार का है। इसे सिद्ध करने के लिये एक उदाहरण द्रष्टव्य है—जैसे-कोई व्यक्ति पर्वत में वह्नि की सत्ता का ज्ञान नही रखता-परन्तु कोई प्रवुद्ध व्यक्ति पञ्चावयव वाक्यों के आधार पर पर्वत में अग्नि का ज्ञान कराता है। अर्थात्-सर्वप्रथम पर्वतो वह्निमान् इस प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग किया जाता है; तदनन्तर हेतु

का प्रयोग होता है; धूमात्। पुनः यह प्रदर्शित किया जाता है कि—पर्वत धूमवान् (हेतु) के आधार पर ही वह्निमान् है-इस प्रकार (यो यो धूमवान् स स वह्निमान् इस प्रकार तृतीय वाक्य उदाहरण का भी प्रयोग होता है-"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः"। तदनन्तर उपनय वाक्य का भी प्रयोग होता है-जिस प्रकार वह्निव्याप्य धूमवान् महानस है-उसी प्रकार पर्वत भी वह्निव्याप्य धूमवाला है। इसके बाद उपसंहार निगमन वाक्य प्रयुक्त होता है। अर्थात्-वह्निव्याप्य धूमवान् होने से पर्वत भी वह्निमान् है। यही कारण है कि साधारण व्यक्ति भी पञ्चावयव वाक्यों के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि पर्वत वह्निमान है। अतः यह सिद्ध होता है कि पञ्चावयव वाक्य ही पदार्थ तत्त्व के साधक होते हैं। इन्हीं पञ्चावयव वाक्यों को गौतमीयन्याय शास्त्र में (न्याय) शब्द से अभिहित किया गया है। यद्यपि यह न्याय विशेषतः अनुमान से प्रयुक्त होता है। अतः इस न्याय से आस्तिक और नास्तिक दोनो ग्राह्य हैं।

न्याय का उद्भव सामान्य रूप से पारस्परिक वाद-विवाद के मध्य विवेक के स्थिति द्वारा प्राप्त होता है। अतः इनके उद्भावक स्थलों का परिगणन करते हुए न्याय का विकास किस स्वरूप में हुआ है या हो रहा है-इस पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

यदि न्याय शब्द के व्यापक स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो यह ज्ञात होता है कि न्याय का प्रस्फुटन वाद-विाद वैचारिक मन्थन व संघर्ष के बीच से उत्पन्न हुआ। इसके व्यपकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण यही है कि-यह प्राचीनकाल से अब तक अपने स्वच्छन्द स्वरूप में निरन्तर विद्यमान है। जिसको किसी न किसी रूप में आस्तिक-नास्तिक, मूर्ख-विद्वान्, वैदिक-अवैदिक सभी लोगों ने स्वीकार किया है।

अतः इसके उत्पत्ति के सम्बन्ध में चिन्तन करने पर सर्वप्रथम हमारा ध्यान वात्स्यायन प्रणीत न्याय के परिभाषा के तरफ उन्मुख होता है। अर्थात् "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" यह परिभाषा हमे इस ओर संकेत देती है कि-"प्रमाणों का अर्थ परीक्षण" करना ही न्याय है। आज के वैज्ञानिक युग में निरिक्षण और परीक्षण इन दो शब्दों को अत्यधिक प्रयोग में लाया जाता है। न्याय में प्रमाणों के अर्थ परीक्षण की प्रयोगशाला केवल-ईश्वर, सत्य, भ्रम, ज्ञान, अज्ञान अनुभव, बुद्धि,

स्मृति एवं उपवर्ग ही हो सकता है। जो बुद्धिवाद, विज्ञानवाद-वस्तुवाद पर अवलम्बित होकर अपने प्रमाणों की अर्थ परीक्षा करते हुए न्याय का स्वरूप व्यवस्थित करते हैं। यद्यपि किसी भी विद्या का प्रारम्भ सृष्टि के प्रारम्भिक समय में ही बीज रूप में वेद के समान ही विद्यमान रहता है; परन्तु जब कोई व्यक्ति संक्षेप या विस्तार से विवक्षायुक्त ढंग से वर्णन करता है; तो उसे उस विद्या का कर्ता मान लिया जाता है। जयन्त भट्ट का यह कथन सर्वथा उचित ही है। क्योंकि न्याय में जिन मतों का निराश है; वे सब अत्यन्त चिरन्तन हैं-इन्ही पुरातन एवं नवीन मतों को बौद्ध एवं जैन नैयायिकों ने पल्लवित और पुष्पित किया। क्योंकि न्यायसूत्र में विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख प्राप्त होता है; जिनमें बौद्ध मत का प्रमुख्य पाया जाता है-तब वह ईसा प्रथमशती के पूर्व कथमपि नहीं कहा जा सकता। अत: न्याय सूत्र का रचना काल ईसा दूसरी सदी के मध्य मानना उचित है।

ऐतिहासिक विकास की परम्परा की तरफ जब हम उन्मुख होते हैं तो सर्वप्रथम वैदिक साहित्य के इतिहास पर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है, वेद शब्द विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विंदल्र लाभे, विद्-विचारणे अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

क्योंकि मृगवैदिक काल से ही तत्त्व-साक्षात्कार करने के लिये दो प्रकार की प्रवृतियाँ पाई जाती है; १-प्रज्ञामूलक २-तर्कमूलक। प्रज्ञामूलक-प्रवृत्ति के द्वारा सूक्ष्म-तत्त्व को विवेचित करते हुए न्याय व्यवस्थापन होता है; जब कि तर्कमूलक-प्रवृत्ति के आधार पर न्याय-व्यस्थापन में भगीरथ प्रयत्न अथवा अत्यधिक विचकित्सा की आवश्यकता नहीं होती।

यद्यपि वैदिक साहित्य के आधार पर इतिहास, भूगोल गणित इत्यादि की ग्राह्यता स्वीकार हो सकती है; परन्तु (वेद) शब्द सर्वथा ज्ञान का द्योतक हो सकता है। इस ज्ञान शब्द का निकटतम सम्बन्ध न्याय से होता है। हिन्दु धर्म की परम्परा के अनुसार हमारे देश में प्राचीन ऋषियों एवं तपस्वियों ने ईश्वर-साक्षात्कार का माध्यम वेद (ज्ञान) के ही रूप में व्यवस्थित किया था।

मूलरूप से न्याय का स्वरूप औपनिषदिक काल से प्राप्त होता है।

मा०उ.में भी न्याय शब्द का सङ्केत प्राप्त होता है-क्योंकि—इसमें बताया गया है कि-आत्म-दर्शन से हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं-अर्थात् यह जीव संशय रहित होकर अपने कृत कर्म को समाप्त कर देता है-यह संशय शब्द महर्षि गौतम प्रणीत न्याय-दर्शन के षोडश पदार्थों में एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। न्याय की प्रामाणिकता मारकण्ड़ेयपूराण एवं भागवत पूराण के आधार पर भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्राचीन न्याय का स्वरूप दो रूपों में प्राप्त होता है- १-प्रमेय-प्रधान २-प्रमाण-प्रधान। जिसकी प्रामाणिकता कठोपनिषद से भी प्राप्त होता है। अतः न्याय का आदि सूत्रपात यदि हम औपनिषदिक काल को स्वीकार करें तो किसी प्रकार की असंङ्गतता नहीं होगी।

१-प्रमेय-प्रधान–यह प्राचीन-न्याय का ही उद्योतक है। जिसमें मूल-तत्त्व को समझने के लिये वादी एवं प्रतिवादी, युक्ति एवं प्रमाणों का आश्रय लेकर आत्म-तत्त्व का ज्ञान करते एवं करवाते थे।

२-प्रमाण-प्रधान–इसे साधन-प्रधान युग के नाम से भी जाना जाता है। इसमें आत्म-तत्त्व के ज्ञान की प्रधानता न होकर विवादों की प्रधानता थी-अतः एक स्वतंन्त्र शास्त्र के रूप में अर्थात् प्रमाण-शास्त्र के रूप में यह व्यवस्थित हुआ। शास्त्र के कई नाम—

इसे आन्विक्षिकी, वाद-विद्या, तर्क-विद्वा आदि के नाम से जाना जाता है। यजुर्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण में छा.उ. में (अनुवीक्ष्य) पद आया है।

दोनों के कर्ता भी दो-प्रमेय-प्रधान न्याय गौतम प्रणीत है; जो गौतम से गङ्गेश उपाध्याय के पूर्व तक के आचार्यों के कृतियों को स्वीकार किया जाता है।[1]

तथा गङ्गेश उपाध्याय के कृतियों यथा तत्त्व-चिन्तामणि या उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों के समग्र कृतियों को प्रमाण-प्रधान माना जाता हैं। इस प्रकार न्याय-सूत्र की रचना ईसा के दूसरी सदी में ही मानना समीचीन है। न्याय-सूत्र पर वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य की रचना की। न्याय-भाष्यकार का समय चौथी शदी में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैकोवी के अनुसार न्याय-भाष्य के रचना का समय ४०० एवं अन्य लोगों के अनुसार ३०० निर्धारित किया गया। अतः ४००से

लेकर १००० वि० तक के ६०० वर्षों में जितने भी न्याय-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे गये; उन सब पर न्याय-साहित्य का आधार ग्रन्थ न्याय-सूत्र और वात्स्यायन-भाष्य ही है।

न्याय वार्तिक-(६३५)-

प्राचीन-न्याय के साहित्य में (वात्स्यायन-भाष्य) के वाद समय और महत्व दोनों के दृष्टि से दूसरा स्थान न्याय-वार्तिक का है-जो उद्योतकराचार्य प्रणीत है। न्याय-वार्तिक की रचना उद्योतकराचार्य ६३५ ई. में एक विजगीषा की भावना से की क्योंकि-वात्स्यायन-भाष्य को दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने खण्डित कर दिया था। अतः उद्योतकर ने बौद्ध-आचार्यों-दिङ्नाग और नागार्जुन के मतों को खण्डित करते हुए न्याय-वार्तिक की रचना की।

वैदिक नैयायिकों व बौद्ध नैयायिकों के संघर्ष का प्रमुख कारण-

वैदिक-नैयायिकों एवं बौद्ध-नैयायिकों में संघर्ष का प्रमुख कारण आत्म-तत्त्व, ईश्वर, मोक्ष इत्यादि को लेकर है। क्योंकि बौद्ध-नैयायिक आत्म-तत्त्व का खण्ड़न कर ही नहीं सकता। एवं वैदिक-नैयायिक प्रमेय के सिद्धि के लिये ही प्रमाण इत्यादि का व्यवस्थापन करते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से अनेक स्थलों पर वार्तिककार सूत्रकार से आगे बढ़ गये हैं। उदाहरणार्थ-जिन बातों का वर्णन सूत्र में नहीं है; और न हो सकता है-उन अनेक सिद्धान्तों का वर्णन वार्तिक में आया है-जिसको आधार मान कर उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी अपने न्याय-साहित्य में स्थान दिया। जैसे-प्रत्यक्ष-प्रकरण में षोढ़ा सन्निकर्ष। अनुमान-प्रकरण-अनुमान के केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी यह तीन प्रकार का भेद।

शब्द-प्रकरण—में स्फोटानुसार इत्यादि पद तथा वाक्य की प्रतीति।

न्याय-वार्तिक तात्पर्य-टीका-(८५०)-

इसकी रचना वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध विद्वानों द्वारा न्याय-वार्तिक के आलोचना के खण्डन में ८५० ई. में किया।

न्याय-वार्तिक-तात्पर्य परिशुद्धि-(९८४)-

वाचस्पति मिश्र प्रणीत न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका को भी जब बौद्ध नैयायिकों ने खण्डित किया तब पुनः मिश्र जी ने न्याय-वार्तिक

तात्पर्य-टीका परिशुद्धि का रचना की। इसके अतिरिक्त बौद्ध विद्वानों के इस संघर्ष के कारण ही इन्होंने न्याय-कुसुमाञ्जली व आत्मतत्त्व विवेक नामक ग्रन्थ लिखे।

उदयन के बाद बौद्ध धर्म व न्याय का पर्याप्त पतन हो गया। ११०० वि० के लगभग बौद्ध विद्वानों का अभाव सा हो गया। टीका प्रटीका की परम्परा समाप्त हो गयी। तथा जो ग्रंथ लिखे भी गये वे आकर्षण हीन थे। उदयनाचार्य के पश्चात् जयन्तभट्ट ने न्याय मञ्जरी नाम का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से हम यही कह सकते हैं कि-प्राचीन-पद्धति से न्यास-सूत्रों के उपर स्वतंत्र वृत्ति आदि की रचना लगभग सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही।

प्राचीन न्याय सम्बन्धी सुची व्यवस्थापन निम्नोक्त है—

१. न्याय सूत्र	गौतमअक्षपादकृत	(मूल ग्रन्थ)
टीकाएँ		
न्याय-भाष्य	वात्स्यायन	३००
न्याय-वार्तिक	उद्योतकर	६३५
न्याय-वार्तिक-तात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र	८४०
न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका-परिशुद्धि	उदयनाचार्य	९८४
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	१०००
न्यायनिबन्ध-प्रकाश	वर्धमान	१२२५
न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	
न्याय-सूत्रोद्धार	वाचस्पतिमिश्र (द्वितीय)	१४४०
न्याय-रहस्य	रामभद्र	१६३०
न्याय सूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	१६३४
न्याय संक्षेप	गोविन्द खन्ना	१६४०
न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	१७००

न्याय सूत्र के रचना के ऊपर टीका-प्रटीकाओं को दृष्टिगत करते हुए यह तो निश्चित हुआ कि प्राचीन-न्याय सत्रहवीं सदी तक किसी न किसी रूप में व्यवस्थित रहा परन्तु न्यायसूत्र के रचना के समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों में जो मतभेद है—वह उपस्थित है—

न्याय सूत्र के रचना के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत–

१-प्रो. जैकोवी–इनके अनुसार न्यायसूत्र के रचना का समय २००-४०० ई. के बीच माना गया है।

२-श्री महादेव वोदास–इन्होंने ई.पू. पञ्चमशतक के अन्त अथवा ई.पू. चतुर्थ शतक के प्रारम्भ के काल को न्याय सूत्र का काल स्वीकार किया है।

३-म.म.प. हरप्रसाद शास्त्री–इनके अनुसार न्यायसूत्र का रचना काल २००ई. है; क्योंकि-इन्होंने यह वतलाया कि वर्तमान न्याय सूत्र गौतम की कृति है जो महायान बौद्ध सम्प्रदाय के बाद प्रायश: लिखी गई।

४-प्रो. गार्वे–इन्होंने यह स्वीकार किया कि न्याय-सूत्र की रचना ईस्वीय वर्ष के प्रारम्भ से कुछ पहले हुई होगी क्योंकि प्रसिद्ध सांख्याचार्य पञ्चशिख न्यायसूत्र से परिचित थे; जिनका समय १००-३००ई. माना गया है।

५-प्रो. सुआली–३००-३४०ई. के बीच न्यायसूत्र की रचना स्वीकार करते हैं।

६-सेरवास्की–इनके अनुसार न्याय सूत्र के रचना का समय ४००ई.पू. स्वीकार्य है।

इस प्रकार न्याय सूत्र के रचना काल का अव्यवस्थित क्रम देखते हुए डॉ० गङ्गानाथ जी के न्याय-भाष्य के आंग्लानुवाद की प्रस्तावना में म.म.डॉ. गोपीनाथ कविराज जी ने अनेकानेक युक्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि-ई.पू. षष्ठम शतक में ही न्याय सूत्र की रचना हुई थी। इसे ही डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण जी ने भी स्वीकार किया है। परन्तु म.म.डॉ. उमेश मिश्र जी ई.पू. पञ्चमशतक में न्याय सूत्र के रचना को स्वीकार करते हैं इस प्रकार विक्रम के पाँचवीं शताब्दी पूर्व से लेकर आज तक न्याय शास्त्र किसी न किसी रूप में अविच्छिन्न स्वरूप से प्राप्त है। अपने उत्पत्ति काल में न्याय पूर्वमीमांसा का पुत्र था। परन्तु कालान्तर में वह वैशेषिक का सहायक बन गया। यही कारण है कि वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्याय का "प्रतितन्त्र सिद्धान्त" स्वीकार किया। बौद्ध काल में इन दोनों दर्शनों की एकरूपता विद्वज्जनों को

भ्रमित कर देती है। ११वीं शताब्दी में शिवादित्य की "सप्तपदार्थी" में दोनों दर्शनों का समन्वय प्रचुर मात्रा में दिखता है। परन्तु समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से निष्पन्न की गयी है।

यदि न्याय सम्मत षोडश पदार्थों का वर्णन अभिष्ट होता तो (प्रमेय) के अर्न्तगत वैशेषिक के षट् पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाता था। जैसे कि तर्कभाषा में।

यदि वैशेषिक की रूपरेखा स्वीकृत की गयी होती तो बुद्धि (गुण) के अर्न्तगत न्याय-सम्मत प्रमाणों का सन्निवेश कर दिया जाता था। जैसे-कारिकावली तथा तर्क संग्रह में इस प्रकार-कणादसूत्र गौतमसूत्रों से प्राचीनतर है।

इस प्रकार न्याय-दर्शन का इतिहास लगभग २०००वर्ष पुराना है। जो विकास के दो धाराओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। पंहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है-जिसे "पदार्थ मीमांसात्मक प्रणाली" कहते हैं। दूसरी प्रणाली "प्रमाण मीमांसात्मक प्रणाली" कही जाती है। जो गङ्गेश उपाध्याय कृत "तत्त्वचिन्तामणि" में प्रवर्तित है। प्रथम धारा प्राचीन-न्याय एवं द्वितीय धारा नव्य-न्याय कहलाती है। १-प्राचीन-न्याय का मुख्य विषय पदार्थमीमांसा एवं नव्य-न्याय का मुख्य विषय प्रमाण-मीमांसा है।

न्याय का ऐतिहासिक स्वरूप–

न्याय शास्त्र के समग्र इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो इसे तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—१-आद्यकाल, २-मध्यकाल, ३-अन्त्यकाल।

१-आद्यकाल–इसे प्राचीन न्याय के काल के रूप में स्वीकार किया जाता है।

२-मध्य-काल–मध्य काल का न्याय प्राचीन न्याय के उत्तर शाखा के रूप में स्वीकार किया गया है।

३-अन्त्य-काल–अन्त्य-काल का न्याय ही नव्य-न्याय है। इसमें विषय प्रतिपादन की सुक्ष्मता परिलक्षित होती है।

नव्य-न्याय के विचार विषय का सर्वाङ्ग स्पर्श करते हुए अध्येता के समक्ष उसके श्वेत और काले दोनों रूपों को उपस्थित करता है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम की चर्चा (१.५.६२) शतपथ-ब्राह्मण (१.४) वृहदारण्यक उपनिषद् (२.२) महाभारत शान्ति (२.२६६) तथा विभिन्न पुराणों में स्थान स्थान पर प्राप्त होता है।

आचार्य गौतमं से विश्वनाथ (१७ वीं शताब्दी) तक निरन्तर प्रगतिशील धारा के आधार पर अनेक दृष्टिसम्पन्न विचारकों का प्रार्दुभाव हुआ।

मिथिला और नवद्वीप में अठारहवीं और १९ वीं शताब्दी में भी नव्य-न्याय के प्रखर आचार्यों की प्रतिभायें न्याय के क्षेत्र को पल्लवित करती रहीं।

ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि न्याय जैसे तर्कसङ्गत विषय पर आकृष्ट हो जाती है।

वात्स्यायन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि-न्याय में संशय आदि पदार्थों का पृथक विवेचन इसलिये किया जाता है-क्योंकि यह उपनिषदों की भाँति मात्र आध्यात्म-विद्या नहीं है।

भारतीय-दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों में न्याय-दर्शन अपने कतिपय असाधारण विशेषताओं के कारण सर्वमान्य है।

इस दर्शन-प्रस्थान की चिन्तन परम्परा वैदिक काल से लेकर हमारे समय तक अविच्छिन्न स्वरूप में प्रवर्तमान है।

अत: न्याय केवल चिन्तन का स्वरूप ही न रह कर चिन्तन की प्रत्येक वैज्ञानिक गतिविधियाँ और तर्कसङ्गत प्रणाली का अन्वर्थ हो गया। यह पद्धति विभिन्न दर्शन प्रस्थानों में वैदिक-न्याय, बौद्ध-न्याय और जैन-न्याय के रूप में अभिहित होने लगा।

परन्तु न्याय की प्रामाणिकता जितना वैदिक-न्याय के आधार पर प्राप्त हुआ; उतना अन्य न्याय में नहीं। इसके पद्धतियों के आधार पर इसकी वैज्ञानिकता स्वत: ही परिलक्षित होती है।

क्योंकि जहाँ पर परमाणुओं के विचलन से सृष्टि के उद्‌भव को स्वीकार कर न्याय और वैशेषिक ये दोनों दर्शन वस्तुनिष्ट दृष्टि को अंगीकार करते हैं। निरवयव तथा क्रियावान् तत्त्व परमाणु है। वह अन्त्यावयव है। अत: अवयव परम्परा का विभाग उसी में विश्रान्त होता है।

न्याय-शास्त्र के भेद–

भारत के दार्शनिक वाङ्मय में न्याय-शास्त्र दो रूपों में प्राप्त होता है। १-वैदिक न्याय २-अवैदिक-न्याय। वैदिक न्याय को आधुनिक इतिहासज्ञों ने ब्राह्मण-न्याय की संज्ञा भी दी है।

जिसके अर्न्तगत गौतमीय-न्याय, काणाद्-न्याय, कापिला-न्याय, पातञ्जल-न्याय, जैमिनीय-न्याय, और वैयासिक-न्याय आते हैं। इन सभी न्यायों में गौतमीय न्याय ही अपने स्वरूप और विषय-विस्तार की दृष्टि से अपनी गरिमा और गम्भीरता के कारण न्याय-शास्त्र के गौरवपूर्ण नाम से अभिहित हुआ।

अवैदिक-न्याय की श्रेणी में न्याय के दो भेद स्वीकार किये गये। १-बौद्ध-न्याय, २-जैन-न्याय।

वैदिक-न्याय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है।

अब हम बौद्ध-न्याय की उत्पत्ति का ऐतिहासिक स्वरूप विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोंण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

बौद्ध-न्याय की उत्पत्ति-

बौद्ध-न्याय-शास्त्र ब्राह्मण-न्याय का अभ्युदय तथा उसके साथ संघर्ष का परिणाम है। अर्थात् परस्पर संघर्ष के आधार पर ही ब्राह्मण एवं बौद्ध-न्याय का प्रार्दुभाव हुआ। फलतः प्रमाण-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों प्रामाण्यवाद प्रमाण-स्वरूप, प्रमाण-भेद आदि की बड़े विस्तार के साथ सूक्ष्म समीक्षा हुई।

गौतम बुद्ध का आविर्भाव ही शास्त्रार्थ का युग था। क्योंकि उनके समय में बुद्धिवाद की प्रधानता थी जो चाहता अपने विचारों को प्रकट कर सकता था। उस समय न राजा का डर था न प्रजा का, केवल तार्किक तथा विमर्शी लोगों की प्रधानता थी। सूत्रपिटक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने वालों की कमी नहीं थी। शाक्य मुनि स्वयं शास्त्रार्थ को महत्व नहीं देते थे। परन्तु शास्त्रार्थ करने के विशेष आग्रह की वे उपेक्षा भी नहीं करते थे।

अभिधम्मपिटक के कथावत्थु (कथावस्तु मोग्गलीपुत्त तिस्स) के द्वारा (वि.पू. तृतीय शतक में विरचित) न्याय-शास्त्र से सम्बद्ध अनेक

पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। अनुयोग (प्रश्न) आहरण (उदाहरण) पटिच्चा (प्रतिज्ञा) उपनय (हेतु के प्रयोग के स्थल का निर्देश) (निग्रह-पराजय)

अत: यह स्पष्ट होता है कि-न्याय-शास्त्र की विशेष उन्नति (वि.पू. तृतीय शतक) में अवश्य ही हुई होगी।

कथावस्तु में प्रतिपक्षों के साथ संघर्ष करने की प्रक्रिया का विशिष्ट उदाहरण भी दिया गया है-जिसके आधार पर तर्कशास्त्र के भूयसी उन्नति का पर्याप्त परिचय मिलता है।

किसी सिद्धान्त के शास्त्रार्थ के निमित्त प्रतिपादन को "अनुलोम" कहते हैं। प्रतिपक्षी के उत्तर की संज्ञा प्रतिकर्म (पटिकर्म) थी। प्रतिपक्षी के हेतु का उसी के सिद्धान्त में प्रयोग करने को उपनय कहते है। इसी को ब्राह्मण-न्याय में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन नाम से पुकारते हैं।

दिङ्नाग के काल में केवल तीन ही अवयव स्वीकार्य है। वेदान्त तथा मीमांसा में भी अनुमान के तीन ही अवयव स्वीकार्य है। कथावत्थु के लगभग २००वर्ष पीछे विरचित (मिलिन्द प्रश्न) के वाद-प्रक्रिया के सद्गुणों का प्रदर्शन है।

इन दोनों ग्रन्थों की समीक्षा से बौद्ध-न्याय शास्त्र के उदय का परिचय विक्रम से पूर्व शाब्दियों में भली भाँति प्राप्त होता हैं।

इन दर्शनों का ऐतिहासिक स्वरूप अत्यन्त ही रोचक है। बौद्ध-न्याय का उदय और अभ्युदय-विक्रम के पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग (१५००वर्ष) अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पहले काल-विभाग में (पुद्गल-नैरात्म्य) आत्मा का निषेध था।

इस मत के अनुसार जगत् की सत्ता का निषेध माना जाता है। इस स्वरूप का परिचय हमें पूर्ण रूप से वैभाषिक में मिलता है।

दूसरा काल-विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पञ्चम शताब्दी तक है। यहाँ (पुद्गल-नैरात्म्य) का स्थान (धर्म-नैरात्म्य) ने ले लिया। व्यक्तिगत कल्याण की जगह विश्व-कल्याण की भावना विराजने लगी।

इस सिद्धान्त के अनुसार जगत की सत्ता का एकदम तिरस्कार

नहीं किया जा सकता बल्कि उसे आभास के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

तीसरे विकास का समय—विक्रम में पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है।

तर्कविद्या की उन्नति इसी युग की देन है। इस युग में यह स्वीकार किया गया कि समग्र जगत् चित्त या विज्ञान का परिणाम है। इस प्रकार वैभाषिक के वाद शून्यवाद का प्रार्दुभाव हुआ।

बौद्ध-न्याय का प्राचीन स्वरूप–

बौद्ध-न्याय का प्राचीन स्वरूप हमें हेतुविद्या के रूप में प्राप्त होता है। वसुवन्धु के ज्येष्ठ भ्राता असङ्ग ने (योगाचार भूमि) में हेतुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। तथा धर्मकीर्ति ने (वादन्याय में) इसी वाद का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है।

प्राचीन काल में परस्पर शास्त्रीय संघर्ष के युग में यह शास्त्र अपने प्रतिष्ठित स्वरूप में था।

यही कारण था कि बौद्ध तथा वैदिक उभय नैयायिकों ने इनका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य दिङ्नाग की महती विशेषता यही थी कि-इनके हाँथों वाद-शास्त्र प्रमाण-शास्त्र बन गया।

अर्थात् वाद के स्थान पर प्रमाण शास्त्र का गाढ़ अनुशीलन होने लगा।

आचार्य दिङ्नाग के युग में-प्रमाण के रूप, भेद अनुमान के प्रकार हेत्त्वाभास, प्रामाण्य-वाद आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन होने लगा।

आर्य असङ्ग ने हेतुविद्या को छः भागों में बाँटा है।

१-वाद २-वादाधिकरण ३-वाद-अधिष्ठान ४-वाद-अलङ्कार ५-वाद-निग्रह ६-वाद-बहुकर। (वाद के विषय में उपयोगी बातें)।

यथा—सत्कार्य दृष्टि, शाश्वत-दृष्टि, उच्छेद-दृष्टि आदि में कौन-सा मत ग्राह्य है। इसके विषय में वाग्युद्ध को विवाद कहा जाता है।

अपवाद—दूसरों के सद्गुणों की निन्दा।

अनुवाद—धर्म के विषय में उठे हुए सन्देहों को दूर करने के लिये जो बाते कही जाती है; उसे ही अनुवाद कहा जाता है।

अववाद—तत्त्वज्ञान कराने के लिये किया गया भाषण है। इनमें अववाद तथा अनुवाद सर्वथा ग्राह्य है। विवाद और अपवाद सर्वथा वर्जनीय है।

प्रकारों के पार्थक्य से वाद प्रगट होता है।

वादाधिकरण–सिद्धान्त पुष्टि के लिये जिस स्थान विशेष पर वाद-विवाद उपस्थित किये जाते हैं-वे वादाधिकरण कहलाते हैं।

वादालङ्कार–इसमें वक्ता के गुणों की गणना है। जिनके रहने से उसका भाषण अलंकृत समझा जाता है; जो निम्न है—

पंचगुणों का स्वरूप–

(क) स्वपर समज्ञता–

अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों को भली भाँति समझना।

(ख) वाक् कर्मसम्पन्नता–

सम्यक् वाणी का प्रयोग।

(ग) वैशारद्य–

सभा में बोलते समय निर्भिकता यह बोधिसत्त्व के अर्थात् भगवान बुद्ध के गुणों में प्रधान गुण है।

इसका तात्पर्य यह है-कि प्रतिवादियों की चाहें कितनी ही बड़ी शक्ति क्यों न हो; अपने मत को प्रकट करते समय किसी प्रकार का भी भय नहीं रखना चाहिये।

उसे निःसन्दिग्ध **अदीन** शब्दों के द्वारा अपने मत की अभिव्यक्ति करनी चाहिये।

(घ) धीरता–

सभा में सोच-विचार कर धैर्य के साथ बोलना चाहिये।

(ङ) दाक्षिण्य–

मित्रता का भाव रखना तथा दूसरे के हृदय को अनुकूल लगने वाली बात कहना।

वाद-निग्रह–

इसका अर्थ है शास्त्रार्थ में पकड़ा जाना। अर्थात् जिसके आधार पर प्रतिपक्षी ने शास्त्रार्थ में पराजित किया है।

१-यह सिद्धान्त गौतम न्याय सूत्र से अत्यन्त ही सानिध्य की स्थिति में है।

मैत्रेय ने निग्रह को तीन प्रकार से बतलाया है; १-वचन-सन्यास; अपने सिद्धान्त को ठीक ढंग से समझना।

यह गौतम के न्यायसूत्रों के प्रतिज्ञा सन्यास का प्रतिनिधि है।

कथा-प्रमाद–

यह न्याय सूत्रों के विक्षेप के समान है। जिसमें वादी अपने पक्ष के समर्थन करने में अपनी अयोग्यता देखकर किसी अन्य कार्य का बहाना कर शास्त्रार्थ को समाप्त कर देता है।

वचन-दोष–

विना समझे बुझे बोलना वचन दोष कहलाता है।

ये सब न्याय के प्राथमिक उद्योग है; अर्थात् ये वाद के वर्णन हैं। वोधिसत्व के उपादेय विषय में-इनका अभ्यास ग्राह्य स्वीकार किया जाता है।

इसीलिये असङ्ग ने हेतुविद्या को महत्वपूर्ण स्वरूप में स्वीकार किया है।

बौद्ध-न्याय का क्रमिक स्वरूप चार रूपों में हमें प्राप्त होता है- जिसका निम्न स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

१-वैभासिक—विक्रम के प्रथम शतक के अनन्तर इस सम्प्रदाय को वैभाषिक संज्ञा प्रदान की गयी।

इस मत के अनुसार समस्त वस्तु चाहें वह भीतरी हो या बाहरी, भूत तथा भौतिक, चित्त तथा चैत्तिक-वस्तुत: विद्यमान है। उनकी सत्ता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में तथा वाचस्पति मिश्र ने वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी ही कहा है।

यशोमित्र ने भी अभिधर्मकोश में (स्फुटार्थ) नामक व्याख्या में इस शब्द की यही व्याख्या की है। वैभाषिकों के अनुसार संसार में जितनी भी वस्तुऐं है; सबकी सत्ता स्वतंत्र है। तथा उसके सत्ता का भान हमें प्रत्यक्ष के आधार पर होता है।

हम घड़े को देखते है; तो उसका प्रत्यक्ष भी होता है-और जब जल भर कर पीते है तो-अर्थक्रिया कारिकत्व भी प्राप्त होता है। इस

यथार्थता का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है। वैभाषिकों के अनुसार जगत की सत्ता प्रत्यक्ष गम्य है।

(विभाषा का प्रादुर्भाव)–

कनिष्क के समय में ज्ञान-प्रस्थान के उपर एक विशालकाय भाष्य का निर्माण हुआ। इसी का नाम विभाषा है। विभाषा का तात्पर्य है; विकल्प अर्थात् एक विषय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह। विभाषा की तीन टीकायें हैं।

जिसमें (महाविभाषा) नामक टीका; जिसका चीनी भाषा में तीन बार अनुवाद हुआ। यह बुद्ध दर्शन का विराट कोश है। इसी भाष्य के आधार पर चतुर्थ शतक में वसुवन्धु ने अपने धर्मकोश का तथा संघभद्र ने वाक्यप्रदीपिका का निर्माण किया। वैभाषिकों का मूल स्रोत यही है।

इनके अनुसार जगत के मूलभूत वस्तुओं का दो प्रकार से विभाग होता है।१-विषयिगत २-विषय-गत। बुद्ध ने इस विभाजन को स्वयं अपने उपदेशों मे अङ्गीकार किया है। तथा उनके समस्त सिद्धान्त वैभाषिक के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी का नाम धर्म है। धर्म शब्द का प्रयोग भी भारतीय दार्शनिक जगत् में विभिन्न और विचित्र अर्थों में किया गया है।

ये धर्म अत्यन्त सूक्ष्म और सत्तात्मक होते हैं। नैरात्म्य की व्याख्या करते समय पुद्गल-नैरात्म्य के मानने का तात्पर्य ही धर्मों की सत्ता में विश्वास करना माना जाता है।

इन धर्मों के रूप में भगवान् बुद्ध के समग्र उपदेशों का सारांश है।

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति–

इनकी उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर में हुई प्रतीत होती है।

क्योंकि इनके प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों के वृत्तियों में ही यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। वसुवन्धु ने अभिधर्मकोश की कारिका में शुद्ध वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु कोश के भाग्य से कतिपय सिद्धान्तो में दोषोद्घाटन कर उसका पर्याप्त खण्डन किया है। ये खण्डन सौत्रान्तिक दृष्टि बिन्दु से ही किये गये हैं। सौत्रान्तिक मतानुयायी यशोमित्र ने इसके समर्थन में अपनी स्फुटार्था व्याख्या लिखी है।

इस प्रकार सौत्रान्तिकों का विचित्र इतिहास चीनी ग्रन्थों की सहायता से थोड़ा बहुत मिलता है।

ह्वेनसांग के प्रमुख शिष्यों में से एक का नाम (कूइकी) था। इनकी रचना विज्ञाप्ति मात्र सिद्धि की टीका है।

इसके आधार पर सौत्रान्तिकों के अन्तर्गत तीन सम्प्रदाय दृष्टिगत होते हैं।

सिद्धान्त–

ये लोग केवल चित्त या विज्ञान को ही सत्य नहीं मानते प्रत्युत बाह्य पदार्थों की भी सत्ता मानते हैं। अनेक प्रमाणों के बल पर ये विज्ञानवाद का खण्ड़न कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

विज्ञानवादी यह स्वीकार करते हैं-कि बाह्य पदार्थ की कोई सत्ता नहीं होती; बल्की विज्ञान ही एकमात्र सत् है।

लोक-दृष्टि यह बतलाती है कि ज्ञान के विषय और फल में अन्तर होता है। ऐसा न होने पर (मै घट हूँ) इस अभेद कल्पना का प्रस्तुतीकरण हो जायेगा। अत: अहं और विषय है (घट)।

यद्यपि दोनों की स्थिति में अभेदता है; परन्तु लोक में अभेदता संभव नहीं है।

अत: घट को विज्ञान से पृथक् मानना चाहिये। इस प्रकार हमने देखा कि वैभाषिक लोग बाह्य अर्थ का प्रत्यय मानते हैं।

अर्थात् दोष रहित इन्द्रियों के द्वारा बाह्य अर्थ की जैसी प्रतीति हमे होती है; वह वैसा ही है। सौत्रान्तिकों का कथन है कि जब समग्र पदार्थ क्षणिक है तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष संभव नहीं है।

जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारे इन्द्रियों का सम्पर्क होता है; उस क्षण में वह वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में चली गयी रहती है।

प्रत्यक्ष होते ही केवल तज्जन्य संवेदन ही शेष रहता है। तथा पदार्थों के नील पीतादिक चित्र चित्त के पट पर खींच जाते हैं। एवं मन पर जो प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है; उसी के चित्त देखता है। तथा उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाहरी पदार्थों का अनुमान कर लेता है।

अत: बाह्य अर्थ की सप्रत्यक्ष गम्य न होकर अनुमान गम्य है।

सौत्रान्तिक मत का यही प्रमुख सिद्धान्त है। तीसरा मत है- योगाचार (विज्ञानवाद)।

चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चितमेव निरूप्यते।।

यह बौद्ध-दर्शन के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इसकी दार्शनिक दृष्टि शुद्ध (आइड़ीय लिज्म की है)।

आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण यह विज्ञानवाद कहलाता है। तथा धार्मिक वह व्यावहारिक दृष्टिकोंड़ से इसका नाम योगाचार है।

ऐतिहासिक दृष्टि से योगाचार की उत्पत्ति माध्यमिकों के प्रतिवाद स्वरूप में हुई है। माध्यमिक लोग जगत के समस्त पदार्थ को शून्य मानते हैं। योगचार इसी का प्रतिवाद है। क्योंकि योगाचार में विज्ञान को ही एकमात्र सत् माना गया। बौद्ध-न्याय इसी सम्प्रदाय की छत्रछाया में उत्पन्न होकर पल्लवित हुआ। भोट देशीय विद्वान् वुस्तोन ने अपने बौद्ध-धर्म के इतिहास में इनके नाम से पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है। जो निम्नलिखित है—

१-महायान सूत्रालङ्कार–

सात परिच्छेदों में कारिका भाग केवल।

२-धर्म धर्मता त्रिभंग–

मूल संस्कृत में अनुपलब्ध।

३-महायान उत्तर तंत्र–

तिब्बती अनुवाद प्राप्त या मध्यान्त विभाग।

४-मध्यान्तविभंग या मध्यान्त विभाग–

यह ग्रन्थ कारिका रूप में है; जिनकी विस्तृत व्याख्या आचार्य वसुवन्धु ने की तथा टीका वसुवन्धु के परम शिष्य आचार्य स्थिरमति ने किया है। जिनकी कारिकायें संस्कृत में भी कुछ लिखा गया।

इस ग्रन्थ की संस्कृत में लिखी गई कुछ प्रसिद्ध टिकायें जो निम्नलिखित हैं—

१-आर्य विमुक्त सेन–

ये आर्य वसुवन्धु के साक्षात् शिष्य थे (छठी शताब्दी) इनके द्वारा लिखी गई टीका।

२-भदन्त विमुक्ति सेन–

ये आर्य विमुक्त सेन के शिष्य थे।

३-आयार्च हरिभद्र (नवमी शताब्दी)–

इनके टीका का नाम है (अभिसमयालङ्कारालोक) सम्राट् समुद्र गुप्त (चौथी शताब्दी) के समय में आर्य असंग का प्रादुर्भाव हुआ।

इन्होंने ही अपने भाई वसुवन्धु को हटा कर योगाचार मत में दीक्षित किया।

महायान सम्परिग्रह–

इसमें महायान के सिद्धान्त संक्षेप स्वरूप से वर्णित है । यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में नहीं मिलता। परन्तु इनके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध है—

१—बुद्ध शान्तकृत- ५६१

२—परमार्थ ५६३ ई.

३—ह्वेनसाङ्गकृत ७५० ई.

इनके तीन अनुवाद चीनी भाषा में ही उपलब्ध हैं।

माध्यमिक मत–

बौद्ध-न्याय का चूडान्त विकास माध्यमिक मत में ही पाया जाता है।

(प्रज्ञापार मिता सूत्रों में) इस मत का विवेचन पहले ही किया गया था।

नागार्जुन ने इस मत की पुष्टि के लिये माध्यमिक कारिका की रचना की, जो माध्यमिकों के सिद्धान्त प्रतिपादन के लिये सर्वप्रधान ग्रन्थ रत्न है।

माध्यमिक साहित्य बौद्ध पण्ड़ितों की तार्किक बुद्धि का चरम परिचायक है।

प्रमाणों के द्वारा शून्यता के सिद्धान्त को प्रमाणित करने का सारा श्रेय आर्य नागार्जुन को है। माध्यमिक कारिका इन्ही की रचना है।

१-विक्रम के द्वितीय शताब्दी में ही-इन्होंने समस्त धारणाओं को तर्क के कसौटी पर कस कर निर्मूल तथा निराधार घोषित किया।

२- विक्रम की द्वितीय शताब्दी–

विक्रम के द्वितीय शताब्दी के अन्त में ही नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने शून्यता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।

३-तीसरी और चौथी शदी में कोई विशिष्ट विद्वान दृष्टिगोचर नहीं होता।

४-पाँचवीं शदी में विज्ञानवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसी शदी में विज्ञानवाद की अभिवृद्धि अपने चरम सीमा पर थी।

५-छठीं शताब्दी में माध्यमिक मत का एक प्रकार से पुनरुत्थान हुआ। इस मत का विशेष प्रचार दक्षिण भारत में था। इसी शदी में दो मुर्धन्य विद्वानों ने शून्यवाद के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। इन दोनों विद्वानों का नाम था आचार्य (भव्य) और (भावविवेक)। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों आचार्यों में दृष्टिभेद था।

बुद्ध पालित ने शून्यता की व्याख्या के लिये समस्त तर्कों की निन्दा की है।

इनके अनुसार शून्यता का ज्ञान केवल प्रातिभ चक्षु को ही हो सकता है। इस सम्प्रदाय का नाम माध्यमिक प्रासङ्गिक था। परन्तु आचार्य भव्य तथा उनके अनुयायियों ने नागार्जुन के सूक्ष्म तथ्यों को समझाने के लिये स्वतंत्र तर्क की सहायता ली। सप्तम शताब्दी में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने शून्यता के सिद्धान्त का चरम विकास किया। इस प्रकार बौद्ध-न्याय का सर्वोत्कृष्ट विकास इन चार रूपों में व्यवस्थित हुआ। अवान्तर कालीन बौद्ध-नैयायिकों में महापण्ड़ित रत्नकीर्ति, अपोह सिद्धि, क्षणभङ्ग-सिद्धि, आचार्य अशोक रचित अवयवी निराकरण तथा सामान्य दुषणादिक् प्रसारित हुआ तथा रत्नाकर शान्तिपाद का (अन्तर्व्याप्ति समर्थन) बौद्ध-न्याय के निबद्ध ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार बौद्ध-न्याय का इतिहास भारतीय न्याय के इतिहास में अपना गौरवपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान रखता है।

अर्थात् इसका प्राचीन स्वरूप वादशास्त्र के रूप में था। जिससे स्वपक्ष की स्थापना करते हुए परपक्ष का खण्ड़न किया जाता था। परन्तु प्रमाण-शास्त्रीय स्वरूप की स्थापना तथा वाद-शास्त्र को निर्गमित करना दिङ्नाग की एक महनीय कृति है।

इसका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ-प्रमाण-समुच्चय है। जिसमें (६) परिच्छेद हैं। इसमें बौद्ध-न्याय के समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

इनका विषय क्रम इस प्रकार है—

१-प्रत्यक्ष २-स्वार्थानुमान ३-परार्थानुमान ४-हेतुदृष्टानत ५-अपोह ६-जाति।

१. पहले ग्रन्थ की ही व्याख्या प्रमाण-समुच्चय वृत्ति है; जिनका तिब्बती भाषा में अनुवाद भी हुआ है।

२. न्याय-प्रवेश—आचार्य दिङ्नाग की यही एक ग्रन्थ है; जो मूल संस्कृत में उपलब्ध है।

३. हेतुचक्रड़मरू—इसका दूसरा नाम है हेतुचक्रनिर्णय। इसमें नव प्रकार के हेतुओं का वर्णन है।

४. प्रमाण शास्त्र न्याय-प्रवेश।

५. आलम्बन परीक्षा वृत्ति।

६. त्रिकाल परीक्षा

७. आलम्बन परीक्षा।

८. धर्म प्रदीप वृत्ति।

इस प्रकार बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित स्वरूप दिङ्नाग ने ही दिया। इसके पहले गौतम तथा वात्स्यायन ने पञ्चावयव वाक्यों का वर्णन किया था।

परन्तु दिङ्नाग ने तीन ही अवयव स्वीकार किया है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के जो लक्षण गौतम ने स्वीकार किया था; उसका खण्डन दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये न्याय-वार्तिक जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने भी श्लोक-वार्तिक में बड़े ही विस्तार के साथ दिङ्नाग के युक्तियों का खण्डन किया है।

(जैन दृष्टिकोण से न्याय-विचार)–

जैन दृष्टिकोंण से न्याय-विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि-जैन न्याय में आचार सम्बन्धी ग्रन्थों की बहुलता प्रमाण-सम्बन्धी ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है। जैन न्याय का उद्भव प्रचुर मात्रा में षट्खण्डागम में प्राप्त होता है। तथा इसके आधार से रचित आचार्य कुन्दकुन्द के

पंचास्तिकाय, प्रवचन सार आदि आर्ष, ग्रन्थों में भी उसके कुछ और अधिक उद्गम बीज मिलते हैं। 'सिय आत्थिणत्थि उहयं.....'तुम्हा' जैसे युक्ति प्रवण वाक्यों एवं शब्द प्रयोगों द्वारा उनमें प्रश्नोत्तर उठाकर विषयों को दृढ़ किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि जैन न्याय का उद्भव दृष्टिवाद अंग श्रुत से हुआ है। दृष्टिवाद का जो स्वरूप दिया गया है; उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। क्योंकि दृष्टिवाद में यह कहा गया है कि-इसमें विविध दृष्टियों-वादियों के मान्यताओं का प्ररूपण और उनकी समीक्षा की जाती है-यह प्ररूपण एवं समीक्षा हेतुओं और युक्तियों के विना असम्भव है। हेतु और युक्ति न्याय का ही अंग है- प्रसिद्ध तार्किक यशोविजय ने स्पष्ट लिखा है—

"स्याद्वादार्थो दृष्टिवादार्णवोत्थ:" स्यादार्थ-जैन-न्याय दृष्टिवाद रूप अर्णव (समुद्र) से उत्पन्न हुआ है-स्याद्वाद जैन न्याय का ही पर्याय शब्द है। जैन न्याय के उद्गम को सिद्धसेन विद्यानन्द और अकलंक ने भी दृष्टिवाद से ही स्वीकार किया है। इसकी पुष्टता के विषय में भी इनलोगों ने अपने अपने वचन उद्धृत किये हैं। इसके प्रामाणिकता को पुष्ट करते हुए अकलंक देव ने कहा है कि-कुछ गुण द्वेषी तार्किकों ने कलिकाल के प्रभाव और अज्ञानता के कारण स्वच्छ न्याय को मलिन बना दिया-मैं उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से धोने का प्रयत्न करूँगा।

यद्यपि छान्दोग्योपनिषद् एक वाकोवाक्य शास्त्र विद्या का उल्लेख किया गया है-कि ब्राह्मण न्याय और बौद्ध-न्याय के वाद जैन न्याय का विकास हुआ अत: यह सिद्ध होता है कि जैन-न्याय का उद्भव ब्राह्मण एवं बौद्ध-न्याय ही है-परन्तु यह प्रमाणहीन सिद्धान्त है;-क्योंकि दृष्टिवाद श्रुत उपर्युक्त न्यायों से भी पूववर्ती है; जिसमें प्रचुर मात्रा में जैन-न्याय के बीज पाये जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि बाह्मण न्याय और बौद्ध न्याय में कहीं भी स्याद्वाद का समर्थन नहीं है- प्रत्युत उसकी मीमांसा है। जैसा कि अकलंक देव ने उपरोक्त मत को व्यक्त किया है। अत: यह सिद्ध होता है कि जैन न्याय का उद्भव वैदिक एवं बौद्ध न्याय द्वारा नहीं हुआ बल्कि जैन न्याय ही सबसे प्राचीन है-इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि जैन न्याय वैदिक न्याय एवं बौद्ध न्याय के प्रेरक के रूप

में रहा हो; और उनकी क्रमिक विविध शास्त्र रचना जैन न्याय के क्रमिक शास्त्र रचना में सहायक हो। क्योंकि आपसी आदान प्रदान अथवा प्रेरणा लेना शास्त्र सम्मत एवं स्वाभाविक होता है।

अब यह विचारणीय विषय उपस्थित हो जाता है कि-जैन न्याय का क्रमिक विकास किन किन स्वरूपों में हमे प्राप्त होता है। कालक्रम के दृष्टि से जैन न्याय की ऐतिहासिकता एवं उसके विकास को निम्न प्रकार से व्यवस्थित करते है—

१— आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल
(ई.२०० से ७५० ई. तक)

२— मध्यकाल अथवा अकलङ्ककाल
(ई. ६५० से ई. १०५० तक)

३— उत्तर काल अथवा प्रभाचन्द्रकाल
(ई. १०५० से ई. १७०० तक)

१-आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल–

जैन न्याय का आरम्भ स्वामी समन्तभद्र से होता है। इन्होंने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक युग प्रवर्तक का कार्य किया है- जैन दर्शन के प्राणभूत तत्त्व (स्याद्वाद) जो केवल आगम रूप में ही प्राप्त था। समन्तभद्र ने स्याद्वाद-न्याय के माध्यम को ही यौक्तिक स्वरूप प्रदान कर पक्षयुगलों को स्वीकार करते हुए पक्षों की गहराई तथा निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन किया तथा किसी भी पक्ष को मिथ्या कह कर तिरस्कृत नहीं किया उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि वस्तु अनन्त धर्मा है। कोई पक्ष मिथ्या तब होता है; जब इतर का तिरस्कार किया जाता हैं। दूसरी और तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास में एक अपूर्व दार्शनिक क्रान्ति का रहा है।

इसी समय अनके क्रान्तिकारी विद्वानों का प्रार्दुभाव हुआ।

इस समय यज्ञ प्रधान वैदिक परम्परा का प्रभाव काफी कम था; और श्रमण जैन तथा बौद्ध परम्परा का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दार्शनिकों के अर्थात्-जब वैदिक व बौद्ध विद्वान् अपने अपने पक्ष का समर्थन ऐकान्तिक दृष्टि से कर रहे थे, तथा पर पक्ष के निराकरण में व्यस्त थे उसी समय समन्तभ्रद का दार्शनिक

क्षेत्र में पदार्पण हुआ। इन्होंने दार्शनिकों के संघर्षों को देखते हुए तथा वास्तविकता को लुप्त होते देखकर दार्शनिकों की मान्यताओं को स्याद्वाद से समन्वित किया। वैदिक न्याय के क्षेत्र में जहाँ कणाद अक्षपाद, बादरायण, जैमिनी आदि महा उद्योगी, विद्वान पैदा हुए, वहीं मातृचेट अश्वघोष, नागार्जुन प्रभृति विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ।

दार्शनिक संघर्ष के इसी परम्परा में ईश्वरकृष्ण, असङ्ग, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन प्रभृति विद्वान दोनों ही परम्परा में हुए। आचार्य समन्तभद्र विलक्षण प्रतिभा के धनी होने के कारण पक्षाग्रही दृष्टिभेद का परित्याग कर निष्पक्ष रूप से-प्रमाण लक्षण नय लक्षण, सप्तभङ्गी लक्षण स्याद्वाद लक्षण हेतु लक्षण प्रमाण लक्षण व्यवस्था, वस्तु स्वरूप सर्वज्ञ सिद्धि आदि जैन न्याय के कतिपय अङ्गों प्रत्यंङ्गों का भी प्रतिपादन किया।

यही कारण है कि-समन्तभद्र काल को जैन न्याय के आदि काल के रूप में स्वीकार किया जाता है।

२-मध्यकाल अथवा अकलङ्क काल–

इस काल में बौद्ध वैदिक विद्वानों द्वारा पक्षाग्र ही दृष्टि को दूर करने के लिये दो कार्य किये—

१- एक तो स्याद्वाद न्याय पर आरोपित दूषणों को दूर कर उसे स्वच्छ बनाया।

२-कितना ही नवीन निर्माण किया-क्योंकि मध्यकाल में शास्त्रार्थों तथा शास्त्र निर्माण की पराकाष्टा थी। प्रत्येक दार्शनिक चाहे वह जिस किसी सम्प्रदाय का था-अपने पक्ष की सिद्धि और परपक्ष का खण्डन कर विजय प्राप्त करने में ही तल्लीन था। इस काल में न्याय का उपहास भी हुआ[३]। तत्त्व के संरक्षण के लिये छल, जाति और निग्रहस्थानों का खुल कर प्रयोग किया गया। इस काल में कट्टरता से इतर का निरास करते हुए क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षों का समर्थन हुआ।

अत: इस विषम परिस्थिति का अवलोकन करते हुए ही अकलङ्क द्वारा उपरोक्त दो कार्य हुए। उनके द्वारा निर्मित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में चार ग्रन्थ केवल न्यायशास्त्र पर ही लिखे गये। यहाँ अकलङ्क द्वारा पक्षाग्रही दृष्टि को दूर करने के लिये जो दो कार्य किये गये-उसका सामान्य परिचय अधोलिखित है—

१-दूषणोद्धार—यों अकलङ्क ने विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दूषणों का परिहार कर उनके सिद्धान्तों की कड़ी समीक्षा की है परन्तु यहाँ पर उनके दूषणोद्धार और समीक्षा के केवल दो स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

समन्तभ्रद ने आप्तमीमांसा में आप्त की सर्वज्ञता और उनके उपदेश—स्याद्वाद की सहेतुक सिद्धि की है। तथा सर्वज्ञता-केवलज्ञान और स्याद्वाद में साक्षात् (प्रत्यक्ष) एवं असाक्षात् (परोक्ष) से सर्वतत्त्व प्रकाशन का भेद बतलाया है। कुमारिल ने मीमांसाश्लोकवार्तिक में सर्वज्ञता पर और धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक में स्याद्वाद (अनेकान्त) पर आक्षेप किये हैं। कुमारिल कहते हैं—

> **एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।**
> **सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ।।**
> **नर्ते तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना ।**

अर्थात् जो सूक्ष्मादि विषयक अतीन्द्रिय केवल ज्ञान पुरूष का माना जाता है; वह आगम के विना सिद्ध नहीं होता, और उसके विना आगम सिद्ध नही होता अतः इस प्रकार की सर्वज्ञता अन्योन्याश्रय दोष से युक्त है।

कुमारिल के इस दूषण का परिहार करते हुए अकलङ्क उत्तर देते हैं—

> **एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।**
> **नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत् न च तेन विनाऽऽगमः ।।**
> **सत्यमर्थवलादेव पुरुषातिशयो मतः ।**
> **प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ।।**

अर्थात् अकलंक ने सर्वज्ञता और आगम को अनादि बताते हुए उसे अन्योन्याश्रय दोष से रहित बतलाया है।

क्योंकि पुरूषातिशय केवल ज्ञान अर्थवल प्रतीति से माना जाता है; इसलिये वीजांकुर के प्रबन्ध सन्तान की तरह इस (केवल ज्ञान और आगम) का प्रबन्ध (सन्तान) अनादि कहा गया है।

(२) धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद न्याय पर निम्न आक्षेप किया है—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेष-निराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद न्याय पर आक्षेप करते हुए कहा कि-यदि सब पदार्थ उभयरूप अनेकान्तात्मक हों, तो उनमें भेद न रहने के कारण किसी को "दही खा" कहने पर वह ऊँट को खाने के लिये नहीं दौड़ता?

अकलंक ने धर्मकीर्ति के भी इस आक्षेप का उत्तर देते हुए निम्न कारिका प्रस्तुत की—

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः।।
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते।।
तथा वस्तु वलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति।।

अकलंक का कथन है कि-धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को खण्ड़त करने में जो तर्क प्रस्तुत किये है; वे निराधार हैं—क्योंकि वस्तुबल (पर्याय और द्रव्य की प्रतीति) से सभी पदार्थों में भेद और अभेद की व्यवस्था है। यही कारण है कि सुगत को वन्दनीय एवं मृग को भक्षणीय कहा जाता है। इस तरह सुगत और मृग में वन्दनीय एवं भक्षणीय भेद व्यवस्था है-लेकिन उनमें चित्त-सन्तान (जीवद्रव्य) की अपेक्षा से अभेद व्यवस्था होने के कारण-वह भक्षणीय (पर्याय) को ही खाने के लिये दौड़ेगा। अभक्षणीय (पर्याय) (ऊँट) इत्यादि को खाने के लिये नहीं दौड़ेगा। यही वस्तुव्यवस्था है-इस प्रकार अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है; जिसका अपलाप हो ही नहीं सकता। इस प्रकार विरोधियों के मत को खण्डित करते हुए अकलंक ने स्याद्वाद को सिद्ध किया।

नोट-(बौद्ध परम्परा में सुगत पूर्वजन्म में मृग थे और वही जब सुगत हुए तो भक्षणीय नहीं रहे। वन्दनीय हो गये)

२-नव-निर्माण—अकलंक देव ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि-न्याय के जिन आवश्यक तत्वों का विकास नहीं हुआ था; उनका विकास किया तथा प्रतिष्ठा की। न्याय शास्त्र पर जो चार ग्रन्थ

उनके द्वारा लिखे गये हैं; वे निम्नलिखित हैं—१-न्याय विनिश्चय (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित); २-सिद्धि विनिश्चय ३-प्रमाण संग्रह और ४-लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)। ये चारों ग्रन्थ कारिकात्मक है! न्याय-विनिश्चय में ४३०; सिद्ध विनिश्यच में ३६७; प्रमाण-संग्रह मे ८७; और लघीयस्त्रय में ७८ कारिकायें हैं।

इनमे अकलंक ने विभिन्न दार्शनिकों की समीक्षापूर्वक प्रमाण निक्षेप और नय के स्वरूप संख्या और विषय एवं फल का विशद विवेचन प्रमाण के प्रत्यक्षपरोक्ष भेद, प्रत्यक्ष के संव्यावहारिक और मुख्य इन दो भेदों की प्रतिष्ठा; परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क अनुमान आगम इन पाँच भेदो के इयत्ता का निर्धारण उनका सायुक्तिक साधन, लक्षण-निरूपण तथा इन्हीं के अन्तर्गत उपमान, अर्थापत्ति सम्भव अभाव आदि परिकल्पित प्रमाणों का समावेश; सर्वज्ञ की अनेक प्रमाणों से सिद्धि अनुमान के साध्य-साधन अङ्गो के लक्षणों और भेदों का विस्तृत निरूपण तथा इन्हीं के कारण हेतु, पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु, सहचर हेतु आदि अनिवार्य हेतुओं की प्रतिष्ठा; अन्यथानुपपत्ति के अभाव से एक अकिंचित्कर हेत्वाभास का स्वीकार और उसके भेद रूप से असिद्धादि का प्रतिपादन; जय पराजय व्यवस्था आदि कितना ही नया निर्माण करके जैन न्याय को न केवल समृद्ध और परिपुष्ट किया अपितु भारतीय शास्त्र में इसको उच्चतम स्थान दिलाया।

वस्तुतः जैन न्याय को मध्यकाल में अकलंक ने ही प्रतिष्ठापित किया-इसीलिये इस काल को अकलंक के नाम से जाना जाता है।

जैन न्याय में अकलंक के ही दिशा निर्देशन को उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने अनुगमन अथवा स्वीकार किया।

३-उत्तरकाल अथवा प्रभाचन्द्र काल–

जैन-न्याय के विकास का यह अन्तिमकाल है। इस काल में मौलिक ग्रन्थों के निर्माण की क्षमता कम हो गयी; और व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण हुआ। अपने पूर्वज आचार्यों का अनुगमन करते हुए जैन न्याय पर प्रभाचन्द्र जी ने-जो विशालकाय-व्याख्या-ग्रन्थ लिखा; वैसा व्याख्या-ग्रन्थ उसके बाद नहीं लिखा गया। अतएव यह काल प्रभाचन्द्र काल के नाम से जाना गया।

अकलंक के लघीयस्त्रय पर इन्होंने लघीय-स्त्रयालंकार जिसका दूसरा नाम 'न्याय कुमुदचन्द्र' है और माणिक्य नन्दी के 'परीक्षामुख' पर प्रमेय कमलमार्तण्ड नामकी प्रमेय बहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाऐं रची हैं। जो प्रभाचन्द्र की अमोघ-तर्कणा और उज्वल यश को प्रसृत करती है। अभयदेव की सन्मति तर्क टीका और वादि देवसूरिका स्याद्वाद रत्नाकर प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार टीका) ये दो टीकायें भी महत्त्व पूर्ण हैं-जो प्रभाचन्द की तर्कपद्धति से प्रभावित हैं।

इस काल में नरेन्द्र सेन व यशोविजय आदि जैन तार्किकों ने अपनी व्याख्या या मूल रचनाओं द्वारा जैन न्याय को संक्षेप व सरल भाषा में प्रस्तुत किया है।

इस समय की रचनाओं में यशोविजय के अष्ट सहस्त्री विवरण, ज्ञान-बिन्दु एवं जैन तर्कभाषा विशेष उल्लेखनीय है।

इस तरह जैन न्याय का विकास करके जैन मनीषियों ने भारतीय ज्ञान भण्ड़ार को बढ़ाया तथा जैन वाङ्मय को सम्पुष्ट एवं परिवर्तित किया।

न्याय का ऐतिहासिक विवेचन विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोंण से–

न्याय शास्त्र के रचनायुग में न्याय-सूत्र, न्याय-मञ्जरी, न्याय वार्तिक, न्याय-कारिका, न्यायसार, न्यायकुसुमाञ्जली और न्याय-लीलावती आदि बौद्ध-दर्शन में न्याय-प्रवेश न्याय-मुख, न्याय-विन्दु और जैन दर्शन में-न्यायावतार न्याय विनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्थ सारथी की शास्त्र दीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थों के भी रचे जाने की उस समय पद्धति थी। यद्यपि न्याय ग्रन्थों की भाषा दुरूह और कठिन होती है। परन्तु नैयायिकों ने इसे सरल भाषा में व्यवस्थित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

भारतीय न्याय ग्रन्थों का स्वरूप तीन रूपों में हमें प्राप्त होता है-
१-सूत्रात्मक २-प्रकरणात्मक ३-व्याख्यात्मक।

१-सूत्रात्मक ग्रन्थ—गूढ़ अल्पाक्षर एवं सिद्धान्त मूल के प्रतिपादक हैं। जैसे-वैशेषिक दर्शन सूत्र न्याय सूत्र, परीक्षामुख सूत्र आदि। जो किसी गद्य पद्य या दोनों रूप मूल का व्याख्यान है। जैसे-(विवरण, टीका, वृत्ति) रूप है; वे व्याख्या ग्रन्थ हैं। जैसे-प्रशस्तपाद भाष्य, न्याय-भाष्य एवं प्रमेय कमलमार्तण्ड आदि।

तथा जो किसी मूल के व्याख्या ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं; और प्रसंगानुसार दूसरे विषय का भी कथन करते हैं; वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे-प्रमाण-समुच्चय, न्याय-बिन्दु प्रमाण-संग्रह, आत्म-परीक्षा आदि।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और विश्वनाथ-पंचानन की कारिकावली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय, सिद्धसेन के न्यायावतार और अकलङ्कदेव के लघीयस्त्रय आदि की तरह प्राय: प्रकरण ग्रन्थ ही है। क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का स्वतंत्र भाव से वर्णन करते हैं—और प्रसंगानुसार दूसरे विषय का भी वर्णन करते हैं।

इस प्रकार न्याय का सत्यान्वेषण प्राचीनकाल से लेकर अब तक एक ही स्वरूप में न होकर भिन्न-भिन्न रूपों में भले ही परिवर्तित हुआ हो-परन्तु तात्पर्यार्थ एक ही था।

न्याय दीपिका में न्याय के सम्बन्ध में कहा गया "नितरां मीयते ज्ञायते अर्थोऽनेनेति न्याय:, अर्थ परिच्छेदकोपायो न्याय: इत्यर्थ: स च प्रमाणनयात्मक एव"-अर्थात् जिसके द्वारा निश्चय से पदार्थ जाने जाते हैं: वह न्याय है और वह प्रकाण एवं नयरूप ही है। क्योंकि-उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है अतएव जैन दर्शन में प्रमाण और नय को न्याय स्वीकारा गया है।

प्राचीनता के दृष्टिकोंण से वैदिक-न्याय अर्थात् महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्र ही प्राचीन माना जाता है। क्योंकि महर्षि गौतम ने ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में न्याय सूत्र की रचना की थी। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। परन्तु न्याय सूत्रों मे महर्षि गौतम ने 'वाद जल्प वितण्डा' इत्यादि के प्रयोग के आधार पर प्रतिपक्षियों के मतों का जो खण्ड़न किया है; इसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि-न्याय के प्राचीनता के दृष्टिकोण से न्यायसूत्र ही प्राचीन नहीं है। वरन इसके पहले बौद्ध न्याय का प्रादुर्भाव था-क्योंकि भाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर एवं तात्पर्य टीकाकार वाचस्पतिमिश्र इत्यादि के द्वारा दिङ्नाग इत्यादि के सिद्धान्तों के खण्डन के आधार पर इसके प्रामाणिकता की पुष्टि होती है। बौद्ध मत के आलोचना के प्रकरण में लिखे गये अनेक सूत्रों के शब्द

विन्यास से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि न्यायसूत्र बौद्ध ग्रन्थों के बाद लिखे गये। दोनों की विषय के साथ आनुपूर्वी और शब्द विन्यास में भी कुछ समानता है। उदाहरण के लिये नीचे कुछ सूत्र द्रष्टव्य है—

माध्यमिकसूत्र	न्यायसूत्र
न संभव: स्वभावस्य युक्त:प्रत्ययहेतुभि:। स्वभाव:कृतको नाम भविष्यतिपुन: कथम्।।	न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्त्वाद्। व्याहतत्वादयुक्तम्।
यथा माया यथा स्वप्नो गान्धर्व नगरं यथा। तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम्।।	माया-गन्धर्वनगर-मृगतृष्णि- कावद्वा। स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमान:।

अत: यह स्वीकार किया जाता है कि न्यायसूत्र के रचना काल ईसा के दूसरी शदी के मध्य है। क्योंकि चौथे अध्याय के सूत्रों में शून्यवाद, वाह्यार्थभङ्गवाद आदि अर्वाचीन मतों का खण्ड़न इस बात को और भी अधिक प्रमाणित करता है।

न्याय-सूत्रों के बाद न्याय-शास्त्र का दूसरा पुराना ग्रन्थ 'वास्त्स्यायन भाष्य' है-इसका रचना काल ४०० वि. (जैकोवी के अनुसार ३००अन्यों के अनुसार ४००वि.) के लगभग निर्धारित किया गया है। इस प्रकार न्यायसूत्र के आधार पर ही ४००वि. से लेकर १०००वि. के लगभग ६००वर्षों में न्याय शास्त्र के साहित्य का निर्माण हुआ यद्यपि न्याय-सूत्रों के वाद प्राचीन-न्याय के विषय में कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया-फिर भी सत्रहवीं शताब्दी तक प्राचीन न्याय के साहित्य का निर्माण होता रहा; जो न्याय-सूत्रों के टीका प्रटीका के रूप में ही रहा।

न्याय शास्त्र के भेद–

यदि भारतीय दार्शनिक वाङ्मय का अवलोकन किया जाय तो न्यायशास्त्र के क्षेत्र में इसके दो भेद प्राप्त होते हैं- १-वैदिक न्याय २-

अवैदिक न्याय। आधुनिक इतिहासज्ञों ने वैदिक न्याय को ब्राह्मण-न्याय की संज्ञा दे रखी है। यह न्याय गौतमीय न्याय, काणाद न्याय, कापिल-न्याय, पातञ्जल-न्याय, और जैमिनीय-न्याय और वैयासिक-न्याय के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुआ। इन सभी न्यायों में गौतमीय न्याय ही मुख्य है। अवैदिक न्याय के दो भेद है— १-बौद्ध-न्याय २-जैन-न्याय।

वैदिक न्याय की धारायें–

वैदिक न्याय के समस्त वाङ्मय पर विचार करने पर यह दो धाराओं में हमें प्राप्त होता है—

१-प्रमेय प्रधान २-प्रमाण प्रधान। गौतम से गङ्गेशोपाध्याय के पूर्वतक के न्यायविद विद्वानों की कृतियाँ, प्रमेय-प्रधान हैं; और गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाण प्रधान हैं। प्रमेय-प्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीनन्याय तथा प्रमाण प्रधान ग्रन्थराशिको नव्य-न्याय कहा जाता है। परन्तु प्रमेयों की चरितार्थता प्रमाण पर ही अवलम्बित है। गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों के कृतियों को प्रमाण-प्रधान स्वीकार किया गया है।

न्याय-दर्शन में कुल पाँच अध्याय हैं। **प्रथम अध्याय-में ११** प्रकरण और एकसठ सूत्र हैं।

द्वितीय अध्याय में-१३ प्रकरण और एक सौ तैंतीस सूत्र हैं।

तृतीय अध्याय में-१६ प्रकरण और एक सौ पैतालीस सूत्र हैं।

चतुर्थ अध्याय में-२० प्रकरण और एक सौ अठारह सूत्र हैं।

पञ्चम अध्याय में २४ प्रकरण और सड़सठ सूत्र हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन में ५२८ सूत्रों में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का विशद् वर्णन किया गया।

प्राचीन और नव्य न्याय में भेद–

प्राचीन न्याय और नव्य न्याय में जो भेद है—वह मुख्य रूप से भाषा और शैली पर आधारित है १-प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में प्रकारता, विशेष्यता संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं—

२-प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराड़म्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त और सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय अनेकत्र शीघ्रता से स्फुट नहीं हो पाता।

किन्तु नव्य न्याय की भाषा आड़म्बर पूर्ण तथा उपर से स्वरूपत: दुर्गम होने पर भी शैली के शालीनता के कारण अश्वर्थत: अत्यन्त स्पष्ट होती है।

३-प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है-उनके विचार तलस्पर्षी नहीं होते। वे विषय के बाह्य स्वरूप का ही स्पर्ष करके रूक जाते हैं। किन्तु नव्य न्याय में विषय का प्रतिपादन सुक्ष्म होता है।

परन्तु इतना भेद होने पर भी दोनों का मूल स्त्रोत एक ही है; और वह है-पूर्वनिर्दिष्ट-न्यायसूत्र।

इस प्रकार न्याय सूत्रों के रचनाकाल का निर्धारण ईसा के दूसरी शताब्दी मे स्वीकार करते हुए उसके भेद इत्यादि पर भी ध्यान देते हुए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि वैदिक न्याय को किस प्रकार से सुरक्षित किया गया—यद्यपि वात्स्यायन ने न्याय सूत्रों पर भाष्य लिखा इनका समय ३००ई. के आसपास है।

तत्पश्चात् नवम शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने न्याय सूत्रों की रक्षा के लिये (न्याय सूची निबन्ध) नामक पुस्तक की रचना की। तथा धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर आदि के न्याय वैशेषिक पर किये गये आक्षेपों का परिहार करने के लिये उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर न्याय-वार्तिक तात्पर्य टीका नामक ग्रन्थ की रचना की इस ग्रन्थ के द्वारा न्याय के मतों का परिष्कार तथा यथोचित विकास किया।

सम्भवत: ११वीं शदी में टीका परम्परा की ओर से विद्वानों का मन उब जाने के कारण स्वतंत्र ग्रन्थ लेखन की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। नवम दशम शताब्दी में भासर्वज्ञ तथा उदयन में भी इस प्रवृत्ति का सङ्केत मिलता है।

१७ वीं शताब्दी में विश्वनाथ ने न्याय सूत्रों पर एक स्वतंत्र वृत्ति लिखी है। इस प्रकार ११ वीं शदी के बाद के युग को न्या.वै.के प्रकरण ग्रन्थों का ही युग मानना नितान्त समीचीन लगता है।

न्याय के विशिष्ट धारा का आविर्भाव इसी समय में हुआ। जिसे

नव्य न्याय के नाम से पुकारा जाता है। नव्य न्याय के प्रादुर्भाव होने पर प्राचीन न्याय का प्रचलन प्रायः कम सा हो गया। इस प्रकार वैदिक न्याय का ऐतिहासिक विकास क्रम व्यवस्थित करने के पश्चात् अवैदिक न्याय बौद्ध और जैन की न्याय के ऐतिहासिक क्षेत्र में क्या योगदान है इस पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि दर्शन के आरम्भिक काल में भी बहुत से शास्त्रार्थ होते थे। तथापि उस समय न्याय पर किसी की विशेष दृष्टि नहीं थी। बुद्ध के निर्वाण के समय की पुस्तकों में भी इसका कुछ आधार नहीं मिलता है। यद्यपि गौतम का न्याय सूत्र उस समय तक बन चुका था; किन्तु बौद्ध और जैन दार्शनिकों का ध्यान न्याय की तरफ आकृष्ट न था। यद्यपि सुत्तपिटक के दीर्घनिकाय के भाग ब्रह्मजालसुत्त; मज्झिम निकाय के भाग अनुमान-सुत्त और खुद्दक निकाय के भाग उदान तथा विनय पीटक के परिवार और पातिमोक्ख तथा अभिधम्मपिटक के कथावत्थु प्रकरण आदि ग्रन्थो में न्याय के कुछ शब्द मिलते हैं-तथा निर्णय करने से कुछ नियम भी मिलते हैं। परन्तु जब चिन्तन किया जाता है; वहाँ यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उस पर गौतम के न्याय सूत्रों की छाप अवश्य ही पड़ी होगी।

क्योंकि उनमें (उपनय) तथा निग्रह का भी स्वल्प वर्णन है।

नीति (अथवा न्याय) शब्द का उल्लेख पाली के केवल एक ग्रन्थ मलिन्द पन्ह जो कि (भिक्षुसूत्र) भी कहलाता है; उसमें मिलता है।

ईस्वी सन् के आरम्भ में भारत पर कुशान, तुरूष्क अथवा सीथियन लोगों के आक्रमण हुए। उस समय भी न्याय शास्त्र के कुछ सङ्केत मिलते हैं।

कुछ समय के पश्चात् न्याय के क्षेत्र में १८ सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। जो निम्नलिखित है—

१. मूलसर्वास्तिवाद
२. काश्यपीय
३. महीशासक
४. बहुश्रुतीय (यह सब वैज्ञानिक सिद्धान्त वाले हैं)
५. धर्म गुप्तीय
६. तामर थारीय
७. विभज्य वादिन्

२-आर्य सम्मतीय

८. कुरू कुल्लक

९. आवन्तिक

१०. वात्सीपुत्रीय

३-११. आर्य महासांघिक

पूर्व शैल (यह दार्शनिक विचारों में सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के हैं)

१२. अपर शैल

१३. हेमवत

१४. लोकोत्तरवादिन्

१५. प्रज्ञप्तिवादिन्

४-१६. महाविहार

१७. जेतवनीय, और

१८. अभय गिरि वासिन्

१-इनके दार्शनिक विचार क्रम से वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत के हैं।

२-कनिष्क ने महायान और सौत्रान्तिक दो और मतों की नींव डाली।

इस प्रकार बौद्धों के चार दार्शनिक सम्प्रदाय हो गये १-वैभाषिक २-सौत्रान्तिक ३-माध्यमिक ४-योगाचार।

१-वैभाषिक-वैभाषिकों ने यह स्वीकार किया कि-ज्ञान और ज्ञेय। उस ज्ञान के विषय दोनों ही वास्तविक हैं। यह बुद्ध के ३०० वर्ष पश्चात् बना है। इसका दूसरा ग्रन्थ अभिधर्म महाविभाषा शास्त्र केवल विभाषा है। यह ७८ ई. के लगभग कनिष्क की सभा से तैयार किया गया था। संघभद्र का न्यायानुसार शास्त्र अथवा कोशकारक शास्त्र (जो ४८९ ई.) के लगभग बना था। इस सम्प्रदाय का महानतम ग्रन्थ है। विभाषा का अर्थ है-विकल्प अर्थात् एक विषय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह। चीनी भाषा में इसका तीन बार अनुवाद हुआ।

प्रथम अनुवाद-(३८३ ई.) में काश्मीर वैभाषिक संघदेव ने किया था।

द्वितीय अनुवाद–बुद्ध वर्मा तथा ताओ-ताई ने मिलकर ४२५-४२०ई. में किया; परन्तु राज्य विप्लव के कारण यह अनुवाद नष्ट हो गया।

तृतीय अनुवाद सप्तमशताब्दी में हुएनसांग ने इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत में (६५६ई.-६५९ई.) अनुवाद किया-जो इनके विद्वत्ता को अत्यधिक प्रदर्शित करता है। वैभाषिक का ही नाम सर्वास्तिवाद है। यद्यपि यह सम्प्रदाय विक्रम के प्रथम शतक के अनन्तर प्राप्त हुई परन्तु यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है; जिसकी ख्याति चीन तथा भारत में विशेष रूप से पाई जाती है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में तथा वाचस्पति मिश्र ने भामती में वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी ही कहा है। यशोमित्र अभिधर्म कोश की (स्फुटार्था) नामक व्याख्या में भी इस शब्द की व्याख्या वैभाषिक के रूप में ही की है। सर्वास्तिवाद का उदय तृतीय शतक वि.पू. में सम्पन्न हुआ तथा अभ्युदय १४ शताब्दियों तक भारत तथा भारत के बाहर उपस्थित था।

१-५५०ई. में परमार्थ ने न्याय के ही क्षेत्र में तर्कशास्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी-जो बौद्ध न्याय के क्षेत्र में पाया जाता है-इसमे तीन परिच्छेद हैं।—१-पञ्चावयव २-जाति ३-निग्रह स्थान।

२-वाद-विधि–इस ग्रन्थ के आस्तित्व के विषय में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। धर्मकीर्ति ने वादन्याय ग्रन्थ लिखा जिसकी व्याख्या में शान्तरक्षित (७४०-८४०) ने लिखा है-"अयं वादन्यायमार्गः सकल-लोकनिबन्धनबन्धुना वादाविधानादौ आयवसुबन्धुना महाराज पथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनुमहत्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमत्तमातङ्ग-शिरः पीठपाटनपटु-भिराचार्यदिङ्नागपादैः।"

इसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि वसुवन्धु ने न्याय शास्त्र पर वाद-विधान नामक ग्रन्थ लिखा था। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में अनेक स्थानों पर वसुबन्धु के वाद विधि का बहुशः उल्लेख किया है। वैभाषिक मत को ही आधार मान कर अभिधर्मकोश की रचना हुई थी-यह ग्रन्थ न होकर स्वयं पुस्तक-माला है। इसके अंश को लेकर टीका-टिप्पड़ी एवं खण्डन मण्डन किया गया। परन्तु इस पुस्तक की समुचित व्याख्या न होने के कारण अत्यन्त दुरूह हो गयी।

तत्पश्चात् न्यायानुसार-इस वृहत्काय ग्रन्थ की रचना न्याय के क्षेत्र में हुई। यह ग्रन्थ आठ प्रकरणों में है। जिसे ह्वेनसांग ने व्यवस्थित किया है।

अभिधर्म समयदीपिका–यह न्यायानुसार खण्ड़नात्मक अधिक है-हुएनसांग ने ७४९पृ. व ९ प्रकरण में इसका भी चीनी भाषा में अनुवाद किया है।

२-सौत्रान्तिक-इसकी उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्राप्त होती है। अभिधर्म कोष की कारिका को देखते हुए यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में भी नैयायिक दृष्टि बिन्दु प्राप्त है—क्योंकि कारिका में वर्णित कतिपय सिद्धान्तों का दोषोद्घाटन कर उसका पर्याप्त खण्ड़न किया गया है। यह हीनयान सम्प्रदाय की दूसरी शाखा है। इस सम्प्रदाय पर कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इस निकाय के अनुयायी विनय पिटक एवं अभिधर्म पिटक की अपेक्षा सुत्तपिटक को प्रधान मान कर उसी का अनुसरण करते हैं।

३-माध्यमिक–इसे दूसरे शब्दों में शून्यवाद भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम .आचार्य नागार्जुन ने प्रतिष्ठापित किया था। शून्यवाद अथवा माध्यमिक का सही अर्थ न जानने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उपस्थित होती हैं।

शून्यवाद का वास्तविक अर्थ माध्यमिक सम्प्रदाय ने बतलाया— कि इसके दो रूप हैं-यह तत्त्व भी है तथा माया भी है। सत्य भी है और मिथ्या भी है। निर्वाण भी है, संसार भी है-अर्थात् यह दुधारी तलवार है। माध्यमिक सम्प्रदाय का द्वन्दात्मक तर्क सभी दार्शनिक मतों का खण्ड़न करता है। क्योंकि ये स्वीकार करते हैं कि हमारा विज्ञान न तो पूर्ण रूप से काल्पनिक है; न वास्तविक है अर्थात्-माध्यमिक है-जिसका अर्थ बीच होता है। इस प्रकार ये लोग संसार की एक वैकल्पिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। माध्यमिक प्रचारकों के आठ नाम है—१-आर्य नागार्जुन २-स्थविर बुद्ध पालित ३-चन्द्रकीर्ति ४-देवशर्मा ५-गणश्री ६-गुणमति ७-स्थिरमति ८-भव्य।

४-योगाचार-विज्ञानवाद–

विज्ञानवाद में योग-साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। क्योंकि विज्ञानवाद का ही दूसरा नाम योगाचार है। स्वतंत्र विज्ञानवाद के

प्रतिष्ठापक आचार्य दिङ्नाग हैं। आचार्य धमकीर्ति, शान्तरक्षित तथा कमलशील इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। बौद्ध-न्याय का प्रादुर्भाव पूर्णरूपेण इसी युग से प्राप्त होता है। क्योंकि न्याय दर्शन के तर्कों का खण्ड़न तथा सौत्रान्तिक मत के क्षणिक धर्मों को क्षणिक विज्ञानों में परिणित कर-सौत्रान्तिक मत के कल्पनावाद, स्वलक्षण-सामान्यलक्षणवाद, क्षणभङ्गवाद, कार्य-कारणवाद, अर्थक्रियाकारिकत्ववाद आदि को अपनाकर अपने क्षणिक विज्ञानवाद के रूप में विकसित किया साथ ही न्यायशास्त्र, ज्ञान-मीमासा और तत्त्व-मीमांसा को भी विकसित किया। इस सम्प्रदाय ने प्रमुखरूप से नैयायिकों तथा मीमांसकों के तर्कशास्त्र तथा वस्तुवाद का खण्ड़न किया एवं प्रत्युत्तर में मीमांसकों एवं नैयायिकों ने भी अपने सिद्धान्तों का मण्ड़न और स्वतंत्र विज्ञानवाद का खण्ड़न किया। योगाचार सम्प्रदाय में ही आचार्य दिङ्नाग द्वारा न्याय को एक व्यवस्थित रूप दिया गया यही कारण है कि इन्हें ही बौद्ध न्याय के जनक की संज्ञा दी जाती है। परन्तु दिङ्नाग को ही बौद्ध-न्याय का जनक मानना अनुचित है; क्योंकि इनके पहले भी न्याय के क्षेत्र में दो और नैयायिक थे।

१-नागार्जुन २-वसुवन्धु।

नागार्जुन का प्रमाणविषयक ग्रन्थ-विग्रहव्यावर्तनी-इस ग्रन्थ में नागार्जुन ने शून्यवाद के विरोधियों के युक्तियों का खण्ड़न कर व्यावहारिक रीति से प्रमाण की ही असत्यता सिद्ध कर दी है। वसुवन्धु का न्याय-ग्रन्थ प्राप्त नहीं है; परन्तु उससे उद्धरण तथा उल्लेख परवर्ती बौद्ध तथा ब्राह्मण-न्याय ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वसुवन्धु के नैयायिक सिद्धान्तों का खण्ड़न ब्राह्मणों के न्याय-ग्रन्थों में मिलता है। इन्हीं खण्ड़नों से अपने गुरू को बचाने के लिये दिङ्नाग ने प्रमाण ग्रन्थ की रचना की-जो (प्रमाणसमुच्चय) के नाम से जाना जाता है। पाशुपताचार्य उद्योतकर ने (प्रमाणसमुच्चय) का खण्ड़न करने के लिये ही न्यायवार्तिक की रचना की। इनकी युक्तियों का खण्ड़न करने के लिये धमकीर्ति ने प्रमाण-वार्तिक जैसा प्रमेय बहुल ग्रन्थ लिखा। जो दिङ्नाग के सिद्धान्त की ही विपुल व्याख्या है।

इस प्रकार दिङ्नाग से लेकर धमकीर्ति (सप्तम शताब्दी) तक का

दो शताब्दी का काल बौद्ध-न्याय के चरम उत्कृष्ट का काल है। आचार्य दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के अलावा दो और आचार्यों ने न्याय को प्रतिष्ठापित किया।

१-शंकर स्वामिन् २-ईश्वरसेन। न्याय प्रवेश शंकर स्वामिन् की ही रचना है। ये दिङ्नाग के शिष्य थे।-इस ग्रन्थ में पक्षाभास, हेत्त्वाभास तथा दृष्टान्ताभास को पूर्ण रूप से व्यवस्थित किया गया है-जो न्याय के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अवान्तर कालीन बौद्ध नैयायिकों के द्वारा भी न्याय शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त है। जैसे-महापण्डित रत्नकीर्ति द्वारा-"अपोहसिद्धि" और "क्षणभंगसिद्धि" आचार्य अशोकरचित "अवयवी निराकरण" तथा "सामान्य दूषण दिक् प्रसारित" तथा रत्नाकर शान्तिपाद का "अन्तर्व्याप्ति समर्थन।

इस प्रकार बौद्ध न्याय का विकास चारों सम्प्रदायों के पहले भी यत्र तत्र दार्शनिक अथवा धार्मिक ग्रन्थों में आभास रूप में दृष्टिगोचर होता है लेकिन वह केवल प्राचीन सिद्धान्तों का आलोचना मात्र था।-जिसका समय लगभग ३०० माना जाता है। ई. ४००से ५०० तक मैत्रेय असंङ्ग और वसुबन्धु ने भी न्याय को आगे बढ़ाया। किन्तु उनका लेख केवल आकस्मिक था। ५५०ई. के लगभग शंकर स्वामिन् तथा और दश आचार्यों ने न्याय शास्त्र को आगे बढ़ाया-जो दिङ्नाग से शालिभद्र तक पहुँचा था। ६०० से ६३५ई. तक शत्शास्त्रवैपुल्य नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये। ६५०ई. के लगभग देवेन्द्र वोधि ने प्रमाण वार्तिक पञ्जिका बनाई; जो धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की टीका है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि-प्राचीनकाल में सब दार्शनिकों ने अपनी अपनी प्रमाण व्यवस्था पृथक ही की थी। जहाँ दर्शन पदार्थों का वर्णन करता है; वहीं न्याय उन पदार्थों को सिद्ध करने वाले युक्तियों का वर्णन करता है। अतः दर्शन और न्याय दोनो सापेक्ष हैं। यद्यपि बौद्ध-न्याय गौतम न्याय दर्शन से पीछे बना है—तथापि विशुद्ध न्याय ग्रन्थों को लिखने का मार्ग बौद्ध-नैयायिकों ने ही दिखलाया।

यद्यपि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बुद्ध के समय से ही बौद्ध न्याय बीज स्वरूप में विद्यमान था-क्योंकि बुद्ध का काल ही शास्त्रार्थ का काल माना जाता है। बुद्ध स्वयं ही यह स्वीकार करते थे

कि विना ज्ञान के मुक्ति असंभव है ज्ञान की प्राप्ति अविद्या के विनाश के पश्चात् ही सम्भव है—अतः ज्ञान की प्राप्ति में सहायक युक्तियों के आधार पर ही ज्ञान सम्भव हो सकता है-जिसे युक्ति अथवा हेतु कहते हैं-इस प्रकार बौद्ध न्याय का प्राचीन स्वरूप हेतु विद्या ही है-जिसे वाद-विद्या अथवा वादशास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य स्वपक्ष की स्थापना अथवा परपक्ष का खण्ड़न है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य कर विरचित होने से वसुवन्धु के ग्रन्थ का नाम "वाद विधान" है। वसुवन्धु के ज्येष्ट भ्राता असंग ने (योगाचार) भूमि में हेतुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। धर्मकीर्ति ने वाद-न्याय में इसी पद्धति का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया। इस प्रकार प्राचीनकाल में इस पद्धति के तरफ लोग अत्यधिक आकृष्ट थे। इसी पद्धति को आधार मानकर दिङ्नाग ने वादशास्त्र को प्रमाण शास्त्र के रूप में परिवर्तित कर दिया न्याय के इस द्विविध स्वरूप की प्राप्ति हमें निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है-

१-वाद २-वादाधिकरण ३-वाद-अधिष्ठान ४-वाद-अलंकार ५-वाद-निग्रह ६-वादे बहुकर। **१-वाद**-वह जो कुछ मुँह से बोला जाय, कहा जाय (भाषण)।

२-वादाधिकरण-जब किसी सिद्धान्त के निश्चय करने के लिये किसी विषय के उपर वाद चलता था तो उसके लिये किसी स्थान का चुनाव होता था; जो राजा या किसी बड़े अधिकारी की परिषद् तथा अर्थधर्म में निपुण ब्राह्मणों या भिक्षुओं के सभा के रूप में होता था। इसे ही वादाधिकरण कहते हैं।

३-वादालंकार–इसमें वक्ता के गुणों की गणना है-जिसके आधार पर वक्ता का भाषण अलंकृत होता था। अर्थात् अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों को भली भाँति समझकर अपने वाणी को संयमित और सुशोभित करते हुए जब वक्ता प्रयोग करता है; तो उसके भीतर वाक्-कर्मसम्प्रन्नता का उदय होता है।

५-वाद-निग्रह–जिसके आधार पर प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित होता है। इसका पर्याप्त परिचय गौतम न्यायसूत्रों में मिलता है। मैत्रेय ने

"निग्रह" को तीन प्रकार का बतलाया है-(१) **वचन-सन्यास**-यह न्याय सूत्रों के प्रतिज्ञा-सन्यास का प्रतिनिधि है। इसका अर्थ है-अपने सिद्धान्त को ठीक समझना।

२-कथा-प्रमाद—यह न्यायसूत्र के विक्षेप के समान है।

३-वचन-दोष—अनर्गल बाते बोलना।

६-वादे बहुकर–शास्त्रार्थ करने के लिये; जो बहुत उपयोगी बात की जाती है-उसे वादे बहुकर कहते हैं। हेतुविद्या के ये स्वरूप बौद्ध न्याय में प्राथमिक उद्योग के रूप में प्राप्त हैं।

इस प्रकार गौतमीय न्याय अथवा प्राचीन न्याय-दर्शन और न्याय का मिला हुआ ग्रन्थ है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने न्याय पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना कर-न्याय के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। यद्यपि वैदिक न्याय तो सूत्र रूप से पहले से ही मौजुद था-वाद के नैयायिकों ने टीका प्रटीका लिखकर इसे आगे बढ़ाया।

जैन नैयायिकों भी इन्हीं का अनुसरण करते हुए न्याय पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे। आज से लगभग ६००वर्ष पूर्व मिथिला तथा नवद्वीप के नैयायिकों ने प्राचीन न्याय का विस्तार किया। इसके अतिरिक्त नव्य-न्याय का भी प्रादुर्भाव एवं विस्तार हुआ-परन्तु नव्य-न्याय भी प्राचीन न्याय का ही रूप है। अतएव मुख्य न्याय तीन ही हैं- (१) गौतमीय-न्याय (२) बौद्ध-न्याय (३) जैन-न्याय।

वैदिक-न्याय एवं बौद्ध-न्याय के ऐतिहासिक विवेचन को स्पष्ट करते हुए जैन न्याय की ऐतिहासिकता का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है—

जैन-न्याय का उद्‌गम बीज दृष्टिवाद में पाया जाता है। क्योंकि दृष्टिवाद के स्वरूप के विषय में कहा गया है-कि इसमें विविध दृष्टियों प्रतिपक्षियों के मान्यताओं का प्ररूपण और उनकी समीक्षा की गयी है। जो हेतुओं और युक्तियों के विना असम्भव है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में भी तर्कगर्भ प्रश्नोत्तर वाची प्राकृत शब्द है; जो स्याद्वाद न्याय को पुष्ट करते है। यशोविजय ने स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया कि जैन न्याय दृष्टिवाद रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ। यथार्थ में (स्याद्वाद) जैन न्याय का ही पर्याय शब्द है। समन्तभद्र ने सभी तिर्थकों को स्याद्वादी

कहा है। ब्राह्मण न्याय व बौद्ध न्याय के बाद जैन न्याय का विकास होने के कारण इसकी उत्पत्ति दोनों से मानी जाती है। परन्तु ब्राह्मण व बौद्ध न्याय में कहीं भी स्याद्वाद का समर्थन नही है-प्रत्युत उसकी मीमांसा है- ऐसी स्थिति में जैन न्याय का उद्गत बीज दृष्टिवाद ही स्वीकार करना सिद्धान्तपूर्ण लगता है। इस प्रकार जैन न्याय की प्रामणिकता विद्वानों यथा-उमास्वामी, समन्तभद्र, कुन्दकुन्दाचार्य, सिद्ध-दर्शन, अकलंक, वादिराज सूरी, देवसूरी, हेमचन्द मल्लिषेण शूरी और यशोविजय के न्यायपूर्ण ग्रन्थों के आधार पर प्राप्त होता है।

इसका पूर्ण विकास स्थुलभद्र के समय में हुआ। पुनः न्याय के विषय-वस्तु को ४५ प्राकृत पुस्तकों में जैन नैयायिकों ने लिखा है। भगवती सूत्र व प्रज्ञा पारमितासूत्र में न्याय को सात भागों में बाँटा गया—

नैगम, संग्रह, व्यवहार, मृजुसूत्र, शब्द, समीभरूढ़ जैन न्याय की सुव्यवस्था विक्रम के प्रथम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक हुआ—

१-प्रारम्भिक युग–

जैन न्याय की सुव्यवस्था का प्रारम्भिक युग प्रथम शताब्दी में प्रारम्भ हुआ इस काल में उमास्वाती; कुन्दकुन्द तथा समन्तभद्र इन तीनों आचार्यो का न्याय के क्षेत्र में ऐतिहाासिक महत्त्व है।

२-मध्ययुग–

छठीं शताब्दी से नवम शताब्दी पर्यन्त न्याय के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में विद्वानों ने अनेक सारगर्भित ग्रन्थों की रचना की। इसी युग में सिद्धसेन दिवाकर ने (पॉचवी शताब्दी) में सन्मति की रचना की। ये देवधि गणी के समकालीन तथा भास्वामी के शिष्य थे। इनका समय ६००ई. के लगभग माना गया है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर लिखित इनकी टीका का जैन-न्याय में विशेष महत्त्व है।

इसी युग में सिद्धसेन दिवाकर ने १-सन्मति-तर्कशास्त्र तथा २-न्यायावतार नामक ग्रन्थ लिखा इसी समय सिद्धसेन गणी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर टीका लिखी। इनका समय ६००ई. माना गया है जैन-न्याय में इस टीका का विशेष महत्त्व है।

३-उत्तर युग–

मध्ययुग के पश्चात् जैन-नैयायिकों में सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद हो जाने के कारण दो सम्प्रदाय हो गये। जैन न्याय के आचार्यों में पारस्परिक वैमत्य के कारण इसके श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भेद हो गये फलतः दोनों ने अपने अपने दृष्टिकोंण से न्याय की स्थापना की।

यद्यपि धर्म, दर्शन और प्रमाण-ये तीनों ही न्याय के क्षेत्र हैं-परन्तु तीनों के दृष्टिकोंण में भेद है। धर्मशास्त्र का कथन है-सभी जीवों पर दया करो असत्य मत बोलो इत्यादि।—दर्शन का अर्थ होता है-चिन्तन-अर्थात् यह नियम बतलाता है कि-जीवों पर दया करना; यह कर्तव्य गुण है और पुण्य है। एवं जीव की हत्या करना, असत्य बोलना निकृष्ट कर्म है। परन्तु न्याय शास्त्र इस तथ्य को युक्तिपूर्वक दृढ़ करता है। वस्तुतः न्याय के आधार पर विचार को जो दृढ़ता मिलती है-वह चिरस्थाई विवेकयुक्त और निर्णयात्मक होती है। उसमें सन्देह, विपर्यय और अनिश्चितता की स्थिति नहीं रहती। इसी कारण न्याय अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

अतः विभिन्न वैदिक बौद्ध और जैन नैयायिकों का न्याय के क्षेत्र में ऐतिहासिक विवेचन क्रमबद्ध रूप से प्राप्त है। जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि न्याय दर्शन का ही अंग है। अतः दर्शन के वर्गीकरण के आधार पर न्याय का भी वर्गीकरण किया जाता है। इस आधार पर भारतीय दर्शन की दो धारायें हैं। १-वेदानूकुल २-वेद प्रतिकुल।

१-वेदानुकूल को आस्तिक व २-वेदप्रतिकूल को नास्तिक कहा जाता है।

१-आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त आते हैं।

२-नास्तिक दर्शन में चार्वाक, बौद्ध और जैन। जैनों में भी श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भेद हैं। इसी प्रकार बौद्धों में भी हमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार आदि भेद दृष्टिगत होते हैं। आस्तिक वर्ग के प्रत्येक सम्प्रदाय एक ओर नास्तिकों की मान्यताओं का खण्ड़न करते हैं-उनके सिद्धान्तों एवं धारणाओं को गलत बताते हैं। दूसरी ओर नास्तिक सम्प्रदाय आस्तिकों के सामान्य और विशेष

मान्यताओं, सिद्धान्तों एवं धारणाओं का खण्ड़न करता है। भारतीय न्याय का बहुमुखी विकास इसी खण्ड़न मण्ड़न की प्रणाली से प्रादुर्भाव हुआ।

परन्तु जब न्याय का प्रयोग स्वसिद्धान्त के लिये होता है; तब सिद्धान्त भेद से न्याय में भी भेद होता है। इस प्रकार सभी न्याय एक दूसरे के सहयोगी व प्रतिपक्षी के रूप में उलझे हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि-जितने प्रकार के सम्प्रदाय हैं; उतने ही प्रकार के न्याय हैं फिर भी प्रमुखता के कारण-उसके विभिन्नता के आधार पर न्याय तीन श्रेणियों में विभक्त है। १-ब्राह्मण-न्याय २-बौद्ध-न्याय ३-जैन-न्याय।

१-ब्राह्मणों के सभी न्याय-ब्राह्मण-न्याय २-बौद्धों के सभी न्याय बौद्ध-न्याय एवं जैनियों के सभी न्याय जैन-न्याय कहलाते हैं।

ब्राह्मण-न्याय का बौद्ध न्याय के साथ संघर्ष का एक विशाल इतिहास है। दोनों एक दूसरे से प्रभावित संशोधित और परिवर्धित हुए हैं। गौतमीय-न्याय बौद्ध-न्याय एवं जैन-न्याय का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रामाणिकता को निःसन्देह रूप में व्यवस्थित करता है कि-इन तीनों का भारतीय न्याय के क्षेत्र में एवं दार्शनिक वाङ्मय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।

वैदिक न्याय शास्त्र के समस्त विकास के खण्ड़ों की तरफ ध्यान आकृष्ट होने पर इसे तीन खण्ड़ों में प्राप्त करते हैं। १-पूर्व-क़ाल अथवा आद्यकाल २-मध्यकाल ३-अन्त्य-काल।

आद्यन्काल का न्याय–

प्राचीन-न्याय; मध्यकाल का न्याय साम्प्रदायिक न्याय तथा प्राचीन न्याय की उत्तर शाखा और अन्त्यकाल का न्याय नव्य-न्याय कहलाता है। वैदिक न्याय में वेद को अकाट्य प्रमाण स्वीकार किया गया है।

परन्तु जिसमें वेद के प्रमुखता को नहीं स्वीकार किया जाता-उसे नास्तिक दर्शन के नाम से जाना जाता है। बौद्ध और जैन न्याय की बहुत सी मान्यतायें वैदिक न्याय के विरूद्ध हैं। परन्तु इतना होने पर भी ये अपने विकास के लिये वैदिक-न्याय से निश्चित रूप से अधमर्ण हैं।

यद्यपि वैदिक न्याय का विकसित स्वरूप भी इन दोनों न्यायों के चिरसंघर्ष का ही परिणाम है-तथापि इनका एक मौलिक रूप भी है। जो इन दोनों से नितान्त अप्रभावित है-परन्तु बौद्ध-न्याय और जैन-न्याय को देखने से ऐसा लगता है कि ये दोनों ही वैदिक-न्याय से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं। ४००से१२०० ई. तक का काल अवैदिक न्याय के परमोत्कर्ष का काल है।

कुछ लोग भारतीय न्याय को हिन्दु न्याय का पर्याय मानते हैं; जो कि विलकुल आधार हीन है। वास्तव में न्याय के जितने भी सम्प्रदाय हैं-वैदिक हों या अवैदिक, अर्वाचीन हो या प्राचीन, सभी का समावेश भारतीय न्याय के बीच हो जायेगा। यह समन्वय भारतीय न्याय के व्यापकता का परिचायक है। यही कारण है कि चार्वाक जैसा भौतिकवादी व नास्तिक नैयायिक भी न्याय शास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। इसका कारण है कि-भारतीय नैयायिक कभी भी विपक्ष की अवहेलना नहीं करते। वे केवल उनके सिद्धान्तों की युक्तिपूर्वक समीक्षा करते हैं। भारतीय न्याय की यह बहुत बड़ी विशेषता है। इसमें पहले विपक्षी के मत को रखा जाता है; तत्पश्चात उनका खण्ड़न किया जाता है। तथा अन्त में अपने मत का प्रतिपादन किया जाता है। प्रथम प्रक्रिया पूर्व पक्ष के नाम से एवं द्वितीय प्रक्रिया उत्तर पक्ष के नाम से जानी जाती है। उत्तर पक्ष को ही सिद्धान्त पक्ष की भी संज्ञा दी जाती है। अब इसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न सम्प्रदायों में न्याय शास्त्र के रचनाकार कौन कौन हैं—

क्रमबद्ध परम्परा का अनुगमन करते हुए वैदिक परम्परा में न्याय के निर्माता कौन कौन हुए; इस पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है-तत्पश्चात अवैदिक नैयायिकों पर भी दृष्ट्पात किया जायेगा। वैदिक न्याय के मुख्यत: दो भेद है—

१-प्राचीन-न्याय २-नव्य-न्याय। यद्यपि ये दो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं; परन्तु दोनों का मूल स्रोत एक ही है-जो न्याय सूत्र अथवा न्याय-दर्शन के नाम से जाना जाता है। जैसे-(क)

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै।।

अर्थात् कणाद ने वैशेषिक शास्त्र की; गौतम ने न्याय शास्त्र की एवं कपिल ने सांख्य शास्त्र की रचना की।

(ख)- एषा मुनिप्रवरगौतमसूत्रवृत्तिः
श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा।
श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाम्बुजचञ्चरीक-
श्रीमच्छिरोमणिवचः प्रचयैरकारि।।

विश्वनाथ ने श्री कृष्ण के चरणकमल के भ्रमर भूत तार्किक शिरोमणि रघुनाथ के वचनों के अनुसार मुनिप्रवर गौतम के न्याय सूत्रों पर सुबोध और संक्षिप्त शब्दों में इस "वृत्ति" का निर्माण किया।

(ग)- मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गौतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः।।

जिस व्यक्ति ने ऐसे न्यायशास्त्र का निर्माण किया; जिसके अनुसार चेतनमानवमुक्त होने पर चेतना रहित हो पत्थर जैसा हो जाता है; वह गौतम गौतम ही नहीं पूरा बैल है।

इन प्रामाणिक वचनों तथा विद्वत् समाज की प्रसिद्धि और धारणा के अनुसार गौतम मुनि ही न्याय सूत्रों के रचयिता हैं।

२-एक स्थल पर यह भी कहा गया कि-न्याय शास्त्र का निर्माण अक्षपाद ने किया।

"भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये। मानीवयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं वार्हस्पत्यम् अर्थशास्त्रम्, मेघातिथेर्न्यायशास्त्रं पाचेतसं श्राद्धकल्पञ्च।"

मैने अङ्ग उपाङ्गों सहित वेद का; मनु के धर्मशास्त्र महेश्वर के योगशास्त्र का, वृहस्पति के अर्थशास्त्र का, मेघातिथि के न्याय-शास्त्र का और प्रचेतस के श्राद्ध कल्प का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। इसके अनुसार न्याय-शास्त्र मेघातिथि से सम्बन्ध रखता है।

वक्ताओं में श्रेष्ठ ऋषि अक्षपाद को जिस न्याय का स्वतः स्फुरण हुआ, वात्स्यायन ने उस पर ही न्याय-भाष्य की रचना की।

३- योऽक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः।

अर्थात् मुनियों में परम श्रेष्ठ अक्षपाद ने जगत् को तापमुक्त करने

के लिये जिस न्याय शास्त्र का उपदेश दिया; उस शास्त्र के सम्बन्ध में कुतार्किकों द्वारा फैलाये गये अज्ञान को नष्ट करने के लिये उस शास्त्र के उपर मैं निबन्ध की रचना करूँगा।

(ग) अथ भगवता अक्षपादेन नि:श्रेयसहेतो: शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिल-स्वामिना किमपरमगविष्यते; यदर्थं वार्तिकारम्भ: जब भगवान अक्षपाद ने मोक्षप्रद न्याय शास्त्र का प्रणयन किया और भगवान पक्षिल स्वामी वात्स्यायन ने उसकी व्याख्या कर दी; तब क्या रह गया था? जिसे बताने के लिये वार्तिक के निर्माण की आवश्यकता पड़ी?

(घ) **अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।**
सान्द्रामृतरसस्यन्दनफलसन्दर्भनिर्भरः ।।

अर्थात् अक्षपाद ने अमृत रस से भरपूर फलों से लदे विशाल न्याय वृक्ष का विरोपण किया है-इन वचनों के अनुसार न्याय-शास्त्र के प्रणेता अक्षपाद हैं।

इस प्रकार न्यायसूत्र के रचना के विषय में तीन नाम आते हैं— १-गौतम २-मेघातिथि ३-अक्षपाद। परन्तु प्रमाणाज्ञान के कारण गौतम, अक्षपाद और मेघातिथि इन तीनों के द्वारा न्यायशास्त्र की रचना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि यह कहा जाय कि न्याय शास्त्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है तो कोई बाधा नहीं होगी। इस एक ही व्यक्ति को गौतम और अक्षपाद के नाम से जाना गया।

वाचस्पतिमिश्र ने इन दोनों नामों को न्यायशास्त्र के रचयिता के रूप में स्वीकार किया है। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका के आरम्भ में वाचस्पतिमिश्र ने स्वयं इस मत को उपस्थित किया है—

"अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते"

इस वाक्य से नि:श्रेयस के हेतु भूत न्याय शास्त्र को भगवान अक्षपाद से प्रणीत कहा गया है। और न्याय सूचीनिबन्ध में

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम् ।
श्रीगौतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ।।
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौसकलदुःखशमहेतौ ।
एतस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः ।।

इस वाक्य से गौतम मुनि को चिरन्तन सुगवीसुन्दरवाणी वाला कहा गया है।

न्यायशास्त्र निर्माता के उक्त दोनों नामों में ऐसा लगता है कि-अक्षपाद यह औपाधिक नाम है; एवं गौतम स्वाभाविक नाम है। अब प्रश्न यह उठता है कि-न्याय सूत्रकार गौतम कौन हैं? वेदसंहिता ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत इत्यादि में गौतम की अनेकत्र चर्चा है। जैसे—

सभायते गौतम इन्द्र नव्यमक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथायनः शवसान नोधा प्रातर्मक्षू धिया वसुजंगम्यात्।

"विदेहोह माधवेग्निं वैश्वानरं मुखे बभत्। तस्य गोतमो राहूगणः ऋषिः पुरोहित आस"।

"ततो दीर्घतमा नाम शापाद् ऋषिरजात।
गोऽभ्याहते तमसि गोतमस्तु ततोऽभवत्"।।
"मेघातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः"।
"जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रादिगोतमाः।।

❖

द्वितीय अध्याय

न्याय शास्त्र के बीज मानव मस्तिष्क में सृष्टि के आरम्भ काल से चले आ रहे हैं। जिसका मूलभूत कारण भारत में चिन्तन शक्ति का विकास है। क्योंकि न्याय भारतीय दर्शनों का एक अहम् सिद्धान्त है। जिज्ञासा, तर्क एवं प्रमाण मानव के मन्दबुद्धि के स्वभाव है। सृष्टि सञ्चालन के विषय में मानव जब यह सोचता है कि-इसका सञ्चालकत्व किसके हाथ में है; तो परिशेषानुमान के आधार पर यह निश्चित करता है कि-ईश्वर ही इस सृष्टि का उद्‌भवकर्ता हो सकता है। चिन्तन का यही आयाम महर्षि गौतम को प्रमेयवाद की स्थापना के लिये प्रेरित करता है-तथा वस्तुज्ञान के संदिग्धावस्था में प्रमाण-वाद प्रस्फुटित होता है। यही तथ्य न्याय की उपादेयता एवं स्वाभाविकता को प्रकाशित करता है। क्योंकि वास्तविकता का निर्णय न्याय ही करता है।

यही न्याय प्राचीनकाल में मीमांसा का आत्मज कहा जाता था। क्योंकि वैदिक अनुष्ठानों के विरोध को देखकर उसके समर्थन में तर्क का उपयोग किया जाता था। परन्तु उत्तर काल में वही दत्तकपुत्र के रूप में न्याय वैशेषिक के द्वारा स्वीकार किया गया। उपनिषदों में भी न्यायशास्त्र के सूत्र स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ-वृहदारण्कयक उपनिषद् के अन्तर्गत पुरीतति नामक नाड़ी में अन्य नाड़ियों के द्वारा आत्मा के स्थित होने के सिद्धान्त को न्याय-शास्त्र में स्वीकार कर आत्मा के स्थान पर मन को स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार छांन्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत आकाश को शब्द का वाहक कहना (उत्तरवर्ती न्याय सिद्धान्त) का ही बीज है। न्याय-दर्शन के उदय का द्वितीय चरण वैदिक काल के पश्चात् तब शुरू होता है; जब वैदिक नैयायिक एवं अवैदिक नैयायिक अपने अपने विचारों के खण्डन मण्डन में निमग्न हो गये। इन दोनों नैयायिकों के सुसम्बद्ध खण्डन

मण्डन में न्यायवैशेषिक का मूल वर्तमान था। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि न्याय पर लेखनी उठाने वाले प्रथम व्यक्ति गौतम ही है।

अब प्रश्न यह उठता है-कि विभिन्न ग्रन्थों में गौतम नाम का उल्लेख विभिन्न व्यक्तियों के लिये किया गया है-इन गौतमों में न्यायकर्ता गौतम कौन है? अधिकतर परम्परावादी लोग-विदेहराज जनक के पुरोहित अहिल्यापति गौतम को तथा मिथिला मे दरभंगा के पास (आधुनिक कमतौल रेलवे स्टेशन के समीप) एक आश्रम में रहने वाले गौतम मुनि के द्वारा ही न्यायसूत्र की रचना बताई गई है।

बहुतों का कथन है कि न्यायसूत्र की रचना मेघातिथि ने किया है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का कथन है कि न्यायसूत्र अक्षपाद की कृति है। जिसका आधार स्वीकार करते हुए इसे अक्षपाद दर्शन के नाम से उल्लिखित किया गया।

सतीशचन्द्र विद्याभूषण जी के अनुसार—ऐसे बहुत से व्यक्ति है; जो इन्हें भिन्न भिन्न व्यक्ति स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि न्याय का एक अंश अक्षपाद एवं दूसरा अंश गौतम की कृति है। आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि-न्याय के दो युगों का नाम देते हुए कहते है कि-आध्यात्म प्रधान युग के प्रवर्तक महर्षि गौतम व प्रमाण प्रधान युग के प्रवर्तक अक्षपाद हैं। इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि न्याय सूत्रों की रचना गौतम और अक्षपाद दोनों ने मिलकर किया है।

परन्तु गौतम और अक्षपाद दो भिन्न व्यक्ति नहीं हैं बल्कि एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। गौतम का ही दूसरा नाम अक्षपाद है। एक किंवदन्ती है कि-महर्षि गौतम शास्त्रीय विचारों में इतना निमग्न रहते थे कि इन्हें ज्ञान ही नहीं रहता था कि मेरे पैर कहाँ पड़ रहे हैं। इस प्रकार इनका समस्त शरीर पतनजन्य आघातों से ओत-प्रोत रहता था। एक बार शास्त्र चिन्तन में निमग्न होकर ये जा रहे थे तभी ये अचानक कूएँ में जा गिरे। कूएँ में गिरता हुआ देख कर किसी देव की कृपा हुई-जिसके फलस्वरूप इनके पैर भी नेत्रों को प्राप्त कर लिये-जिसके आधार ये अक्षपाद अथवा अक्षचरण के नाम से विख्यात हो गये।

कालानुमान–

न्यायसूत्रों के भीतर नागार्जुन के शून्यवाद के निराश पाये जाते हैं-जिसके आधार पर इनके समय के विषय में ऐसा अनुमान होता है-कि जब दक्षिण भारत के निवासी नागार्जुन का अस्तित्व दूसरी शताब्दी का प्रारम्भकाल है; जो इसके पश्चात् ही न्यायसूत्रों का प्रणयन महर्षि ने किया है। इससे स्पष्ट है कि तीसरी शताब्दी के अन्दर ही महर्षि ने न्याय सूत्रों का प्रणयन किया होगा। स्वयं महर्षि गौतम के अस्तित्व एवं स्थिति काल के विषय में यह पता चलता है कि-२५०० (ढाई हजार) वर्ष पूर्व है। न्याय के सम्बन्ध में प्राचीनता व नवीनता का जो दो उल्लेख किया गया है; इसी को आधार मान कर प्राचीन व नव्य न्याय की स्थापना हुई।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन व नव्य-न्याय में अन्तर क्या है? एवं न्याय की महत्ता अथवा उपयोगिता क्या है?

इसका उत्तर यह है कि-प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय में प्रथम भेद भाषा और शैली पर आधारित है। जैसे-नव्य-न्याय में सम्बन्ध की सूक्ष्म विवेचना होती है इस कार्य के लिये वह प्रकारता, विशेष्यता, अवच्छेदकता अवच्छेद्यता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि अनेक शब्दों का खुलकर प्रयोग करता है। जब कि-प्राचीन न्याय में इसका आभास तक नहीं है। अर्थात् नव्य-न्याय के शब्द दो वस्तुओं के बीच विद्यमान सम्बन्ध के विचार को कॉटे पर तौलकर माप देने की क्षमता रखता है-जो समीक्षक के दृष्टि में भले ही न्यून हो परन्तु तत्त्वदर्शी आलोचक के लिये यह सर्वथा उपादेय है।

द्वितीय-भेद–

विषय के प्रतिपादन में भी दोनों में भिन्नता पाई जाती है। प्राचीन-न्याय विषय का बाह्य स्वरूप ग्रहण करता है; जब कि नव्य-न्याय अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाता है। अर्थात् नव्य-न्याय सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति करता है। जिसे लोग बाल की खाल मान कर उपहास भी करते हैं।

परन्तु दार्शनिक दृष्टि से नव्य-न्याय की विचार शैली या अभिव्यंजना शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण है।

न्याय की महत्ता–

महर्षि गौतम प्रणीत न्याय-शास्त्र समस्त व्याकरण आदि शास्त्रों एवं समस्त दर्शनों में श्रेष्ठ है क्योंकि इतर शास्त्र जितने भी है; सभी न्याय-शास्त्र की अपेक्षा रखते हैं। पण्डित शिवदत्त मिश्र जी जो स्वभाव से नैयायिक हैं; उनका कथन है कि-न्यायशास्त्र के विना अमरकोश के प्रथम पंक्ति (यस्य ज्ञानदयासिन्धोः) इसका भी कोई अर्थ नहीं कर सकता। कारण यह है कि "यत्" पदार्थ क्या है? एवं तदुत्तर षष्ठी का क्या अर्थ है। न्याय शास्त्रा नभिज्ञ व्यक्ति त्रिकाल में भी इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म विचार एकमात्र न्याय शास्त्र के विना असंभव है।

इसके अतिरिक्त श्रुति-स्मृति-पुराण आदि में भी न्यायशास्त्र की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन है। जैसे-न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि" इस श्रुति में भी सर्वप्रथम न्याय का उल्लेख है। महर्षि याज्ञवल्क्य एवं मनु ने भी न्याय शास्त्र की महत्ता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार पुराण आदि में भी इसे साक्षात् अङ्गीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र भी न्याय-शास्त्र की महत्ता को स्वीकार करता है।

न्याय दर्शन के प्रसिद्ध अर्वाचीन एवं प्राचीन नैयायिकों का जन्म समय एवं कृतियाँ–

यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हुआ कि न्यायसूत्र की रचना सर्वप्रथम महर्षि गौतम ने ही किया। जो ग्रन्थ सम्मति के अनुरोध से- वेदान्त दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ है।

प्राचीन न्याय के कतिपय आचार्य–

वात्स्यायन—प्राचीन न्याय के आचार्यों में वात्स्यायन का नाम प्रमुख है;-इन्होंने ही गौतम के न्यायसूत्र पर भाष्य की रचना की थी। जो न्याय-भाष्य अथवा वात्स्यायन भाष्य के नाम से जाना जाता है। न्याय-भाष्यकारका समय चौथी शदी हैं। यद्यपि गौतम के न्यायसूत्र और वात्स्यायन के न्याय-भाष्य में अत्यधिक अन्तराल पाया जाता है। परन्तु वात्स्यायन भी महर्षि गौतम के समान ही अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न एक महान ऋषि थे। उनका आश्रम भी मिथिला के पास ही था। महर्षि गौतम के न्याय सूत्रों को विभिन्न मतवादों में पड़ता हुआ देखकर ही

उसे सुबोध बनाने के लिये न्याय-भाष्य का निर्माण इन्होंने किया। कुछ लोगों का कथन है कि भाष्यकार वात्स्यायन मद्रास के निवासी थे-जो स्थल काञ्चीवरम नाम से प्रसिद्ध है। इनके नाम के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत है—

'न्याय भाष्य' निर्माता के नाम के विषय में भी कई मत है। स्वयं न्याय-भाष्यकार ने अपने को 'वात्स्यायन' नाम से निर्दिष्ट किया है।

योऽक्षपादमृषिन्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरः।
तस्य वात्स्यायनेनेदं भाष्यं जातमवर्तयत्।।

वार्तिकार उद्योतकर ने भी अपने "न्यायवार्तिक" के अन्त में इसी नाम से न्याय-भाष्यकार का स्मरण किया है। जैसे-

यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतो यस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्।।

वाचस्पतिमिश्र ने भी न्यायभाष्यकार को पक्षिल स्वामी के नाम से निर्दिष्ट किया है हेमचन्द ने भी अभिधान चिन्तामणि के मर्त्यकाण्ड़ में वात्स्यायन के आठ नाम बताये हैं। इन सभी वचनों के आधार पर यह वात निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है-कि न्यायभाष्यकार के (वास्त्यायन) और (पक्षिल) यह दो नाम बहुसम्मत है। परन्तु इन दोनों नामों में हो सकता है कि (वात्स्यायन) नाम सांस्कारिक हो तथा (पक्षिल) नाम औपाधिक हो। अथवा यह भी हो सकता है कि वात्स्यायन नाम औपाधिक और पक्षिल नाम मुख्य है। परन्तु जहाँ तक अपने जिज्ञाषा का अन्त इन दोनों नामों में होता है; वहाँ पर (वात्स्यायन) नाम ही मुख्य लगता है। क्योंकि स्वयं भाष्यकार ने इस नाम को निर्दिष्ट किया है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने पक्षिल नाम का निर्देश मुख्य रूप से किया है-हो सकता है कि-वाचस्पति मिश्र विनय और श्रद्धा से अभिभूत होकर (प्रतिपक्षी के निग्रह कर्ता के रूप में ही इनका नाम पक्षिल स्वामी रखा हो)।

वात्स्यायन का निवास स्थान–

इनके निवास स्थान के विषय में भी मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि इनका निवासस्थान मद्रास था।- क्योंकि (काञ्चीवरम) जो इस समय काञ्ची के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी प्राथमिक शिक्षा वहीं पर हुई

थी। परन्तु कुछ विद्वानों ने इन्हें मिथिलावासी ही माना है। भाष्य में (छल) का उदाहरण जो इन्होंने दिया है; वह इनके मैथिलत्व को ही सिद्ध करता है। ऐसा लगता है कि महर्षि गौतम के न्याय सूत्रों को सरल बनाने के लिये अथवा विषय बोध के सार्थक ज्ञान के लिये ही इन्होंने न्याय-भाष्य की रचना की थी। प्राचीन नैयायिकों के ही परम्परा में भारद्वाज उद्योतकर का नाम आता है।

भारद्वाज उद्योतकर–

भारद्वाज उद्योतकर ने वात्स्यायन के न्याय भाष्य पर ही न्याय-वार्तिक नामक महनीय ग्रन्थ की रचना की। न्याय-वार्तिक में न्याय-भाष्य और न्याय-सूत्र दोनों की व्याख्या की गयी है।

मुनिवर अक्षपाद का प्रमुख सिद्धान्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति थी। अतः इन्होंने न्याय सूत्रों की रचना की थी। जिसके काठिन्यता को वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य के द्वारा दूर किया। तथा भारद्वाज उद्योतकर द्वारा बौद्धों के समस्त कुतर्कों का खण्ड़न करने के लिये न्याय-वार्तिक की रचना हुई। न्याय-वार्तिक के रचना का प्रयोजन बताते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपने न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका में प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या की है—"यद्यपि भाष्यकृताकृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिङ्नागप्रभृतिभिरर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमससत्त्थापनेनाच्छादितशास्त्रं न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धो द्योतेन तदपनीयते"। क्योंकि-दिङ्नाग इत्यादि बौद्ध नैयायिकों द्वारा कुतर्क रूपी निविड़ तम का प्रसार होने से सूत्र एवं भाष्य दोनों ही आच्छादित हो गये थे। परिणाम स्वरूप पदार्थों का तत्त्व निर्णय दुर्घट हो गया था। इसे ही उद्योतकर के न्याय वार्तिक द्वारा सरलता प्राप्त हुई।

समय–इनके समय के विषय में केवल इतना ही निश्चय हो पाया है कि ये बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग, वसुबन्धु और नागार्जुन के परवर्ती हैं; क्योंकि न्यायवार्तिक में इन्हीं विद्वानों के मतों का इन्होंने खण्ड़न किया है। साथ ही यह भी निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि ये (सुबन्धु) के पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि-सुबन्धु के गद्य काव्यग्रन्थ में-न्याय स्थितिमिव उद्योतकर-स्वरूपां........वासवदत्तां ददर्श" इस प्रकार का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। परन्तु आधुनिक विद्वानों के दृष्टि में इनका समय (६३५ ई.) है।

स्थान–इनके स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। "पाशुपताचार्य उपाधि के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि;-ये कश्मीरी हैं। क्योंकि पाशुपात सम्प्रदाय का आर्विभाव काश्मीर में ही हुआ। इस प्रकार "पाशुपताचार्य" उपाधि से अभिहित होने वाले न्यायवार्तिककार को काश्मीर का ही निवासी बताना उचित है। परन्तु कुछ विद्वान इन्हे मैथिल मानते है; उनका कथन है कि न्यायशास्त्र का कर्ता गौतम और भाष्यकर्ता दोनों मैथिल हैं। उनके परवर्ती वाचस्पतिमिश्र व उदयनाचार्य भी मैथिल ही हैं। अत: वार्तिककार उद्योतकर जिनका समय इन दोनों के मध्य में पाया जाता है-वे भी मैथिल ही होंगे। उन्हें कश्मीरी कहना सर्वथा असंगत है।

वाचस्पति मिश्र–(८४० वि.)–

जब न्यायवार्तिक की भी बौद्ध विद्वानों ने प्रतिकूल आलोचना की; उसका खण्डन वाचस्पतिमिश्र ने (न्यायवार्तिक तात्पर्य-टीका नामक ग्रन्थ की रचना के आधार पर किया। इनके गुरु का नाम त्रिलोचन था। ये सभी दर्शनों पर अपना आधिपत्य रखते थे एवं सभी दर्शनों पर उनके ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ वेदान्त दर्शन के शाङ्कर भाष्य की (भामती) टीका है। इस टीका का नामकरण उन्होंने अपने पत्नी के नाम के आधार पर किया है।

जीवन परिचय–इनकी वाल्यावस्था अत्यन्त ही विषमपरिस्थिति के मध्य से व्यतीत हुई जिसकी चरम सीमा उस समय परिलक्षित होती है-जब नाल काटने आई सेविका को इनकी माँ ने कहा कि मेरा पुत्र जब अपने परिश्रम का प्रथम धन अर्जित करेगा तो वह सम्पत्ति आप की होगी। अत: वाल्यावस्था में ही किसी राजपण्डित के शास्त्रार्थ में प्रतिद्वन्दी स्वरूप में विजय प्राप्त करने पर जो पुरस्कार प्राप्त हुआ; उस पुरस्कार को नाल काटने वाली सेविका को दे दिया।

समय व स्थान–यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि (नवम शतक) के समय में पण्डित मण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गुढ़ार्थ समझना कठिन पड़ गया था। जिसके परिणाम स्वरूप ही इन्होंने तात्पर्य टीका की रचनाकर उद्योतकर के (अतिजरति) वाणी को समझाने का प्रयत्न किया। इनके द्वारा न्यायसुची-निबन्ध की रचना भी (८९८)

विक्रमी में हुई। अतः इनका समय (नवमी-शताब्दी) का मध्य भाग है। ये अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण ही सर्वतन्त्र स्वतंत्र कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़कर पञ्चदर्शनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक हैं। इनके (न्यायसुचीनिबन्ध) के आधार पर यह प्रतीत होता है कि तर्कशास्त्र को सशक्त बनाने के लिये इन्होंने बहुत प्रयत्न किया-क्योंकि तर्कसिद्ध वस्तु ही विश्वास योग्य होती है। इस प्रकार वैदिक न्याय भी तभी सफल होगा; जब तर्कसिद्ध हो।

अतः न्यायशास्त्र में शताब्दियों से आई हुई आपत्तियों को दूर कर न्यायशास्त्र का रहस्योद्घाटन करते हुए उद्योतकराचार्य के सम्प्रदाय का समुद्धार किया। यद्यपि इनका सभी दर्शनों पर आधिपत्य था। इन्होंने आस्तिक व नास्तिक दोनों प्रकार की टीकाएँ लिखी थी।

एक किंवदन्ती है कि जब ये (नास्तिक दर्शनों) की टीका लिखते थे तो इनके शालिग्राम की मूर्ति (जलमय) हो जाती थी। तथा जब ये आस्तिक दर्शनों की टीका लिखते थे तो इनके शालिग्राम (भगवान की मूर्ति) पूर्ववत् हो जाती थी। यही कारण था कि इन्होंने नास्तिक दर्शनों के टीकाओं का प्रचार प्रसार नहीं किया। एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार शंकराचार्य वेदान्त बह्मसूत्र का निर्माण कर इसी चिन्ता में निमग्न रहा करते थे कि इसकी टीका वही लिखेगा; जो मुझसे भी अधिक विद्वान होगा। इसके लिये उन्होंने वाचस्पति मिश्र जी चुनाव किया अपने विश्वास को परिक्षित करने के लिये उनके घर जाकर सांकेतिक आवाज लगाई। वह आवाज इतना प्रचण्ड था कि उसकी प्रतिध्वनि चारों तरफ गुञ्जायमान हो गयी। परिणाम यह हुआ कि वाचस्पति मिश्र जी की पत्नी भी गृह कार्य से विरत होकर विश्राम कर रही थी शीघ्र ही भिक्षा लेकर बाहर आई। परन्तु शंकराचार्य को देखकर यह सोचने लगीं कि किस माता पिता के दुर्भाग्य का शिकार यह अतीव सुन्दर बालक सन्यासी हो गया।

पुनः भिक्षा देने के लिये जब श्री मिश्र की पत्नी आगे बढ़ीं तो शंकराचार्य जी ने कहा-बहन मैं अत्यन्त ही भूखा हूँ; मुझे भिक्षा दीजिये। तदनन्तर वे भोजन सामग्री और जल देकर चली गयी। परन्तु शंकराचार्य जी भोजन लेकर उदास हो बैठे है। भामती जी ने पूछा, आप

ने भोजन क्यों नहीं किया। उन्होंने गुदड़ी से ब्रह्मसूत्र निकाल कर कहा-बहन आपके स्वामी यदि इस पर टीका लिखने का वचन दें-वही मेरी प्रथम भिक्षा होगी। तदनन्तर पुस्तक लेकर वे वाचस्पति मिश्र जी के पास जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दी। वाचस्पति मिश्र जी सहर्ष सप्रेम मिलकर टीका लिखने के आग्रह को स्वीकार कर लिये। शंकराचार्य के प्रसन्नता की सीमा न रही। इस वेदान्त ब्रह्मसूत्र की टीका लिखते समय दीपक का लौ जब कुछ कमजोर पड़ने लगा-उनकी पत्नी ने उस दीपक के लौ को आगे बढ़ा दिया। उन्होंने सोचा अचानक दीपक का प्रकाश इतना तेज क्यों हो गया इसी क्रम में उनका ध्यान अपनी पत्नी के तरफ गया एवं मन में ग्लानि भी हुई कि मुझे कोई सन्तान नहीं हुआ मैं केवल शास्त्र चिन्तन में ही लगा रहा अब सन्तान होने की कोई सम्भावना भी नहीं रही अतः वंशवृद्धि अथवा नाम को चलाने के लिये ब्रह्मसूत्र की टीका भामती के नाम से ही रहेगा। इस प्रकार का निर्णय वाचस्पति मिश्र जी द्वारा लेने पर विद्वत मण्डली भी उनकी भुरीशः प्रशंसा की।

जन्मस्थान—इनके जन्म स्थान के विषय में विद्वानों का मत है कि ये मिथिला के निवासी थे। कुछ लोग भण्ड़ारसम मानते हैं। किन्तु वास्तव में इनका जन्म अन्धरा ठाढ़ी[३] में हुआ था। जहाँ पर खण्ड़हर के रूप में आज भी कोई चिह्न प्राप्त होते हैं। इनके पत्नी द्वारा खुदवाये हुए कुप को आज भी लोग मिश्राइन के पोखरा के नाम से जानते हैं।

वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची–

१. न्याय कारिका।
२. न्यायलीलावती।
३. तत्त्व-समीक्षा।
४. तत्त्व-बिन्दु।
५. न्याय वार्तिकतात्पर्यटीका।
६. सांख्य तत्त्व कौमुदी।
७. योग भाष्य विवृत्ति।
८. शाङ्कर भाष्य की भामती।
९. तत्त्ववैशारदी (योग)
१०. न्याय तत्त्वालोक।

११. न्याय रत्नटीका।
१२. न्याय कारिका-परिशिष्ट।
१३. ब्रह्म-तत्त्वसंहितोद्दिपनी।
१४. युक्तिदीपिका (सांख्य)।
१५. न्याय सूची इत्यादि।

वाचस्पति मिश्र से पहले किसी एक भी विद्वान ने विभिन्न दर्शनों पर समर्थन अथवा विश्लेषण के विषय में कोई भी विशेष आधार नही दिया है। इन्होंने पहली बार एक नया मार्ग अपनाया। जिस दर्शन को ये लिखते थे उसी में सिद्धहस्त हो जाते थे। यद्यपि वैशेषिक, चार्वाक, और बौद्ध दर्शन पर उन्होंने पृथक् पृथक् ग्रन्थ लिखा। परन्तु अपने ग्रन्थों में यथास्थान उनके सिद्धान्तों की चर्चा भी की है।

जयन्तभट्ट-(नवम शताब्दी का उत्तरार्ध)–

प्राचीन नैयायिकों की परम्परा में ही जयन्त भट्ट का नामोल्लेख होता है। जयन्त भट्ट वाचस्पति मिश्र के समकालीन थे; परन्तु एक दूसरे से अपरिचित थे।

समय–"न्यायमञ्जरी" में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन का नामोल्लेख करने से इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार किया गया है। इनकी न्यायमञ्जरी गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के उपर एक प्रमेय बहुला वृत्ति है। न्यायमञ्जरी की रचना इन्होंने कारागार में रहकर किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि-ये काश्मीर के विद्याकेन्द्र के आचार्य थे। तथा काश्मीर मठ के विद्याकेन्द्र के अध्यक्ष थे। मठ में काफी धन था। राजा शङ्कर वर्मा का कोष जब युद्ध के कारण खाली हो गया, तब उन्होंने मठ से धन हड़पना चाहा। राजा के इस कार्य का विरोध श्री जयन्त भट्ट एवं उनके अनुयायियों ने किया-परिणाम स्वरूप शङ्कर वर्मा ने उन्हें कारागार में डाल दिया।

जयन्त ने धर्मकीर्ति, कुमारिल, बाणभट्ट आदि का उल्लेख किया है। इन्होंने युक्तिदीपिका की आलोचना की एवं शिशुपालवधं से एक श्लोक उदघृत किया। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से भी ये परिचित थे। जिन आचार्यों व ग्रन्थों का उल्लेख इन्होंने किया है वे (८००)ई. के पहले के हैं। जयन्त ने काश्मीर के राजा शंकर को भूतपूर्व राजा के

रूप में स्वीकार किया है। इनके पुत्र अभिनन्दन ने कादम्बरी कथासार नवीं शताब्दी के अन्त में लिखा था। अभिनन्दन ने अपने पिता जयन्त भट्ट की एक प्रख्यात वृत्तिकार के रूप में बड़ी प्रशंसा की है। जिसके आधार पर अधिकांश विद्वान इन्हें नवम शताब्दी के आरम्भ में स्वीकार किया है।

जन्मस्थान–ये काश्मीर देशवासी गौड़देशीय ब्राह्मण थे। एवं भारद्वाज गोत्र था। इनके विद्वत्ता की महत्ता को स्वीकार करते हुए षड्दर्शनाचार्य वाचस्पति मिश्र जी भी इनके शिष्यत्व को स्वीकार किये है। ऐसा लगता है कि ये ही वाचस्पति मिश्र जी के विद्यागुरु थे।

कृति–श्री जयन्त भट्ट ने स्वयं स्वीकार किया है कि न्यायसूत्र में परिणित १६ पदार्थों पर आधारित ही इन्होंने न्यायमञ्जरी की रचना की। परन्तु इनका उद्देश्य न्याय के सभी सूत्रों की व्याख्या करना नहीं था। वरन कुछ चुने हुए विषयों को लेकर-जो विभिन्न आचार्यों द्वारा उठाये गये आक्षेप थे उन आक्षेपों का प्रामाणिक विश्लेषण करके इन्होंने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। न्याय में तुलनात्मक विश्लेषण का श्रेय श्री जयन्त भट्ट को ही है। इनके न्याय मञ्जरी में तथ्य तो पुराने हैं। परन्तु उसकी प्रस्तुती इन्होंने नवीन ढंग से किया है। गङ्गेश प्रभृति महा उद्भट विद्वानों ने भी इन्हें जरन्नैयायिक के रूप में स्वीकार किया है। न्याय मञ्जरी की रचना इन्होंने निःशब्द बन्धन स्वरूप स्थान में किया है। इस प्रकार इनका लेखन कार्य विरोधी मतावलम्बियों यथा-(चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) के खण्डन के लिये ही हुआ।

भासर्वज्ञ (नवम शतक)–

रत्नकीर्ति (१०००ई.) ने 'अपोह सिद्धि' में इनके न्यायभूषण को उद्घृत किया है। तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से विरूद्ध व्यभिचारी दोष को अपने ग्रंथ में ग्रहण किया है।

समय–इनका समय नवम शताब्दी का अन्त है। क्योंकि इन्होंने धर्मकीर्ति से विरूद्ध व्यभिचारी दोष को अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है। बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का सम्बन्ध (६३५ से ६५०) तक था।

कृति–इन्होंने न्याय सार (जो इनकी एकमात्र कृति है। इसमें प्रमाणों का ही विश्लेषण कर के एक नवीन प्रणाली का सूत्रपात कर

गङ्गेश आदि नव्य नैयायिकों के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उपमान को प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया। इन्होंने न्यायसार पर १८ टीकाएँ लिखी हैं। उनमें से न्यायभूषण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है।

इनकें द्वारा न्याय के सभी पदार्थों का विश्लेषण अथवा विवेचन प्रमाणके अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है; जो पद्धति वैदिक नैयायिकों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। न्यायसार की रचना इन्होंने प्रकरण ग्रन्थ के रूप में की है। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रकरण ग्रन्थ किसे कहते हैं-प्रकरण ग्रन्थ उसे कहते है; जिसमें शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय काप्रतिपादन नहीं होता-केवल एकदेश का प्रतिपादन होता है। इनके प्रकरण ग्रन्थों की संख्या चार है।

१-इसमें केवल प्रमाण को ही एक मात्र पदार्थ माना गया है; तथा बाकी पदार्थों का विवेचन उनके अङ्गो और उपाङ्गो के रूप में स्वीकार किया गया है।

२-इसमें वैशेषिक के पदार्थों का भी समावेश है।

३-इनमें मुख्य रूप से वैशेषिक के छः अथवा सात पदार्थों का विवेचन है।

४-इसमें कुछ न्याय एवं कुछ वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण है।

जयन्त भट्ट १०वीं शदी-

इनकी गति वैदिक अवैदिक सभी दर्शनों पर सामान्य रूप से थी। ये शास्त्रार्थपटूता के आलावा कवि हृदय से भी परिपूर्ण थे। अभिनन्द ने कादम्बरी कथासार के उपक्रम में इनके सम्बन्ध में सत्य ही कहा है- **"व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यस्य सरस्वती"**

जयन्त भट्ट अपनी यशप्रभा से समस्त दिङ्मण्डल को उद्भाषित करने वाले महापण्डित "श्रीचन्द्र" के शिवभक्त आत्मज थे। विद्वन्मण्डली इन्हें नववृत्तिकार कह कर प्रशंसा करते थे। शास्त्रार्थ में सर्वदा विजयी होने के कारण इनकी प्रसिद्धि जयन्त नाम से हुई। इस तथ्य का स्पष्टीकरण इन्होंने न्यायमञ्जरी के निम्नाङ्कित उपन्यास पद्य में स्वयं प्रकट किया है।

वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यो विख्यातकीर्तिः क्षिता-
वन्वर्थो "नववृत्तिकार" इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः ।
सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा "चन्द्रस्य" चन्द्रत्विषा
चक्रे चन्द्रकलावचूलचरणध्यायी स धन्यां कृतिम् ।।

न्यायमञ्जरी जयन्त भट्ट की परमोत्कृष्ट कृति है-जो गौतम के न्यायसूत्रों पर सीधे व्याख्या करने वाली अभिनव वृत्ति है। जिसे जयन्तभट्ट ने निम्नश्लोक के माध्यम से व्यक्त किया है-

"न्यायौषधिवनेभ्योऽयमाहृतः परमो रसः ।
इदमान्वीक्षिकीक्षीरान्नवनीतमिवोद्घृतम् ।।"

अर्थात् न्यायमञ्जरी न्याय की औषधिद्रुमो का परमरस और आन्वीक्षिकी के क्षीर का निसर्ग निर्मल नवनीत है।

न्यायमञ्जरी में न्याय के प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के नाम पर १६ प्रकरण हैं; जो १२ आह्निकों में अन्तर्भूत हैं। पहले के छः आह्निकों में "प्रमाण" प्रकरण पूरा हुआ है। इस प्रकरण में अर्थापत्ति, अभाव (अनुपलब्धि) सम्भव और ऐतिह्य के प्रमाणत्व का खण्ड़न कर तथा चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, बौद्ध और वैशेषिक के प्रत्यक्षानुमान प्रमाणद्वयवाद तथा सांख्य के प्रत्यक्षानुमान शब्द-प्रमाणत्रयवाद का खण्डन कर न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान और शब्द इन चार प्रमाणों की प्रतिष्ठापना की गयी है। इसके अतिरिक्त न्याय के प्रमाणचतुष्टयवाद के समर्थन के सन्दर्भ में वैदिक अवैदिक सभी दर्शनों के प्रसङ्ग प्राप्त अनेक मतवादों का निराकरण भी किया गया है। सात से नव तक तीन आह्निकों में 'प्रमेय' प्रकरण पूर्ण हुआ है। जिसमें 'आत्मा' से अपवर्ग तक न्यायशास्त्रोक्त १२ प्रमेयों का विशद प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण में आत्मा, बुद्धि और अपवर्ग का निरूपण बड़ा महत्वपूर्ण है। इस निरूपण में विभिन्न दर्शनों के विरोधी मतों का बड़ा रोचक और बहुत युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। संशय आदि शेष चौदह प्रकरण दस से १२ तक तीन आह्निकों में पूर्ण हुए हैं।

'न्यायमञ्जरी' भाषा सौष्ठव, अर्थगाम्भीर्य विषयचातुर्य्य और प्रतिपादन इन सभी दृष्टियों से महनीय, अतुलनीय और अभ्यसनीय है। ११वीं शदी में स्थित जैन विद्वान (देवसूरि) ने (स्याद्वाद रत्नाकर के दूसरे

परिच्छेद में जयन्त का उल्लेख किया है। जिससे सिद्ध होता है कि जयन्त का काल ८४१ई. के बाद और ११००ई. के पूर्व था। परन्तु (कादम्बरी कथासार) में "जयन्तभट्ट' के पुत्र (अभिनन्द) ने उनके राजा (मुक्तापीड़) के अमात्य (शक्तिस्वामी) का प्रपौत्र बताया है। काश्मीर नरेश मुक्तापीड़ का समय ८वीं शदी का मध्य माना है। उस समय मन्त्रिपरिषद् पर स्थित (शक्तिस्वामी) और उनके प्रपौत्र (जयन्त) के बीच यदि १५० का अन्तर माना जाय तो जयन्तभट्ट का समय १०वीं शदी के प्रथम चतुर्थांश में स्थित माना जा सकता है। दशवी शदी में ही उदयनाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ।

उदयनाचार्य-(दशम शतक) (वि.स.१०४१)-

इसकी प्रामाणिकता आचार्य उदयन के (तर्काम्बराङ्क) इत्यादि अन्तिम पद्य के आधार पर (९८५)ई. स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये दशम शताब्दी में मौजुद थे। ये प्रशस्त पाद के टीकाकार के परवर्ती तथा श्रीधर के समकालीन प्रतीत होते हैं।

इनके विषय में एक किंवदन्ती है-आचार्य उदयन श्री जगन्नाथ के दर्शन के लिये जा रहे थे उसी समय मन्दिर का दरवाजा बन्द हो गया। उदयनाचार्य को इस बात का दुःख हुआ कि मेरे आते ही मन्दिर का दरवाजा क्यों बन्द हो गया। पुनः वे क्रोधित होकर अपने हृदय के उद्गार को व्यक्त करते हुए बोले—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामावज्ञाय वर्तसे।
समागतेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।।

अर्थात् जिस ऐश्वर्यरूपी मद से उन्मत्त हो रहे हो; तथा निःशंकोच मेरा अपमान कर रहे हो; तुम याद रखना-बौद्धों का आगमन हो जाने पर तुम्हारा अस्तित्व मेरे ही आधीन रहेगा। अर्थात् विद्वानों के आधार पर ही ईश्वर की सत्ता भी कायम रह सकती है। ऐसा ही हुआ भी-जब समस्त भारत बौद्धों से आक्रान्त हो गया चारोतरफ नास्तिकता की लहर फैल गयी थी। उस विषम परिस्थिति का अवलोकन कर उदयनाचार्य ने विशेषकर भगवान जगन्नाथ के मन्दिर व उनके नाम की पुनः स्थापना की। इनके साथ जब भी बौद्ध शास्त्रार्थ करते थे ये तर्क व प्रमाणों के द्वारा शास्त्रीय विधि से उनके सिद्धान्तों का खण्डन करते थे।

एक बार आस्तिक और नास्तिक में जयी कौन है इसका परीक्षण करने के लिये बौद्धाचार्य व उदयन दोनों ने एकमार्ग का अन्वेषण किया कि हम दोनों में विजयी वही होगा तथा उसी के सिद्धान्तों की स्थापना होगी। जिनके सिद्धान्त स्थापन प्रामाणिक होंगे। इस प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये बौद्धाचार्य व उदयन ने देवदारू वृक्ष का सहारा लिया। उदयनाचार्य जी ने बौद्धाचार्य से निवेदन किया कि यहाँ पर देवदारू के दो वृक्ष हैं। एक पर आप आरोहण करें दूसरे वृक्ष पर मैं। हम दोनों तीसरी गिनती पर इस पेंड़ से कुदेंगे यदि आप विजयी होंगे तो आपके सिद्धान्तों अर्थात् इस पेंड से कुद कर यदि आप बच जायेंगे तो नास्तिकवाद सिद्धान्त की स्थापना होगी। यदि मैं कुद कर बच जाउँगा तो आस्तिकवाद की स्थापना होगी। परन्तु तीसरी गिनती में बौद्धाचार्य को काफी चोट आई लेकिन उदयनाचार्य जी से जब कुदने के लिये कहा गया तो वे पेड़ से नहीं कुदे-उन्होंने कहा कि ईश्वर मुझे भीतर से प्रेरित कर रहा है कि-उदयन यदि तुम पेड़ से गिरोगे तो तुम्हे चोट लग जायेगी अर्थात् उदयनाचार्य जी का तात्पर्य था कि आस्तिकता सदैव सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती है-उससे व्यक्ति अपने को असुरक्षित नहीं महसुस करता है-आस्तिकवाद की यह धारणा होती है कि-ईश्वर सदैव व्यक्ति की सुरक्षा करता है। इसके बाद सभी बौद्ध आस्तिक हो गये।

इस प्रकार युक्ति के आधार पर उदयनाचार्य जी ने आस्तिकवाद की स्थापना की उदयन प्रणीत ग्रन्थ तथा टीकाऐं निम्नलिखित है—

१- न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका पर (परिशुद्धि) टीका।

२- प्रशस्तपाद भाष्य के उपर (किरणावली)टीका।

३- न्याय कुसमाञ्जली ग्रन्थ।

४- आत्मतत्त्वविवेक स्वतंत्र ग्रन्थ इत्यादि।

५- न्यायपरिशिष्ट ग्रन्थ।

इन्होंने न्यायकुसुमाञ्जजलि में अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की एवं आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा की। आत्मतत्त्वविवेक नामक ग्रन्थ बौद्धाधिकार नाम से भी प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में यथावसर बौद्धमतों की आलोचना की है। तथापि आत्मतत्त्वविवेक में बौद्धों के क्षणभङ्ग आदि वादों का विशेष रूप से

खण्डन है। उदयन ने भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिये एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या (किरणावलि) लिखी। माधव के कथनानुसार-तम के आरोपित नील रूप मानने का सिद्धान्त श्रीधर के नाम से सम्बद्ध है। पर नामोल्लेख किये बिना ही उदयनाचार्य जी ने इस मत का खण्डन किया है।

उधर श्रीधर ने भी "न्यायकन्दली" में उदयन के किरणावली के वाक्यों को स्थान स्थान पर उद्घृत किया है। एवं उनके सिद्धान्तों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली इससे यह स्पष्ट होता है-श्रीधर ने न्यायकन्दली सर्वप्रथम लिखी। यद्यपि "किरणावली" की रचना उदयन ने की परन्तु ग्रन्थ के पुनः संशोधन के अवसर पर श्रीधर ने उदयन के मत की समीक्षा भी की है। किरणावली के टीकाओं में वरदराज (११शतक) वादीन्द्र (१३वीं शदी) का पूर्व भाग-(रससार); वर्धमानोपाध्याय (१३शतक) किरणावली भास्कर की टीकायें सुप्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य उदयन ने न्याय और वैशेषिक दोनों शास्त्रों पर प्रामाणिक ग्रन्थ-लिखे साथ ही भावी प्रामाणिक ग्रन्थों के लिये भी मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने वाचस्पति मिश्र द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिये परिशुद्धि नामक टीका लिखी। इस प्रकार न्याय की परम्परा में इन्होंने अनेक प्रवल युक्तियों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की। अनेकों विद्वज्जनों ने तो यहाँ तक कहा कि नव्य-न्याय का वीजारोपण उदयनाचार्य न ही किया है।

उदयन के छह ग्रन्थों में से न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका परिशुद्धि न्याय से सम्बन्धित है। किरणावली और लक्षणावली में वैशेषिक के सिद्धान्तों का विवेचन है। तथा न्याय कुसुमाञ्जली और आत्मतत्त्वविवेक स्वतंत्र एवं प्रकरण ग्रन्थ है। लक्षणावली की भूमिका में उसके रचनाकाल (९०६शकाब्द) अर्थात् (९८४ई.) का उल्लेख है। जिसे उदयनाचार्य ने स्वयं लिखा है।

बौद्ध दार्शनिक कल्याण रक्षित (८२९ई. के लगभग) ने (ईश्वर भंगकारिका) में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। उदयानाचार्य ने उनके तर्कों का उत्तर कुसुमाञ्जली में दिया है। आत्मतत्त्वविवेक में उदयन

ने धर्मोत्तर (८४७ई.) के लगभग के (अपोह नामक प्रकरण) और (क्षणभङ्गसिद्धि) की तीखी आलोचना की है।

उदयनाचार्य ने न्याय में ईश्वर की सिद्धि प्रकरणों के पद्धति को जन्म दिया। इस प्रकार न्याय के इतिहास में इनका अप्रतिम स्थान है। इनके ग्रन्थों के प्रसिद्धि का कारण यह है कि-बाद के आचार्यों ने उनको पुष्कलमात्रा में उद्धृत किया। तथा अनेक टीका प्रटीकाऐं लिखी जो इनके ग्रन्थों पर आधारित हैं।

गंगेश उपाध्याय (१२००ई.उ.)

उदयानाचार्य के अनन्तर मिथिला ने एक ऐसे नैयायिक रत्न को उत्पन्न किया जिसने प्राचीन न्याय का स्वरूप बदल कर नव्य-न्याय को जन्म दिया।

जीवन परिचय–इनका जन्म दरभङ्गा के दक्षिणपूर्व क्रोड़ में कमला नदी के तट पर (कोरियाव) नामक ग्राम में हुआ था। बहुत समय तक ये अध्ययन से विरत रहे; परन्तु भगवती काली के आराधना द्वारा इन्हें न्याय-निष्णात विद्वान होने का गौरव प्राप्त हुआ। विद्याध्ययन आरम्भ करते हुए बहुत अल्प समय में ये न्याय-शास्त्र के उद्भट विद्वान् हो गये। इनमें मौलिक चिन्तन व नितान्त पटुता की असाधारण प्रतिभा थी।

समय–इनका जन्म १२वीं शदी में हुआ था। न्याय-शास्त्र का जो संस्कार, परिष्कार और विस्तार नुतनता और विचार गम्भीरता से आच्छादित है; उन सबका श्रेय गङ्गेश उपाध्याय को ही है।

रचना–इनकी सर्वप्रमुख कृति तत्त्व-चिन्तामणि है जो "इदम्प्रथमम्" पद्धति के आधार पर पूर्णतया महान् एवं मौलिक ग्रन्थ है-नव्य-न्याय का जन्म तत्त्व चिन्तामणि के आधार पर ही हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि-यह ग्रन्थ उस बहुमूल्य मणि के समान है-जिसके आधार पर विद्वतसिद्धान्तों का मण्डन, प्रचण्ड पाषण्ड रूपी अन्धकार का खण्डन एवं विपक्षीदलों के विचार कौशल का लोप होता है। इसके साथ ही अपने सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने में कोई त्रुटि नहीं रहती। इसे ही प्रमाण चिन्तन भी कहा जाता है जो चार खण्डों में विभक्त है।

प्रत्येक खण्ड में दर्शनानन्तर के विरोधी मतों का तथा न्याय के अनेक पूर्ववर्ती मतों का निराकरण कर नुतन निर्दोष सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। यह ग्रन्थ अपने निर्माण समय में ही मिथिला के तत्कालीन विशिष्ट नैयायिकों के द्वारा अध्ययन अध्यापन में परिगृहित हो गया। तथा कुछ ही समय में इस मणि की अलौकिक प्रतिभा के द्वारा भारत का प्रत्येक भाग उद्भाषित होने लगा।

इस ग्रन्थ के अध्ययन, अध्यापन, मनन, चिन्तन में पूर्वी भारत व उत्तरी भारत एवं दक्षिण भारतीय सभी नैयायिकों ने अपना अपना स्वत्व स्थापित कर लिया। अर्थात् इनका केन्द्र ही बन गया।

बंगाल के (नवदीप) के नैयायिकों ने विद्यापीठ (न्याय विद्यापीठ) में अपनी प्रतिभा के कसौटी पर इसे भली प्रकार परिक्षित कर उसको और भी समुज्ज्वल व प्रभासम्पन्न बना दिया। परिणामस्वरूप नवद्वीप के नैयायिक मुकुट (रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति) मथुरानाथ तर्कवागीश का (रहस्य); जगदीश तर्कालङ्कार की (जागदीशी) तथा गदाधर भट्टाचार्य की "गादाधारी" इन टीका प्रटीकाओं के साथ यह ग्रन्थ सदा के लिये नैयायिकों के अध्ययन अध्यापन का विषय बन गया।

नवीन प्रामाणिक सिद्धान्तों के पटुता के कारण ही ये (सिद्धान्त दीक्षागुरु) कहे जाते हैं। जैसा कि स्वयं इन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में अपने विषय में अघस्तन पद्य में कहा है—

अन्वीक्षानयमाकल्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतम् ।
चिन्तादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम् ।।
तन्त्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धान्तदिक्षागुरुः
गङ्गेस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम् ।।
"पुत्र यशसि तोये च त्रिभिर्भाग्यपरीक्षणम्"

यद्यपि तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर बड़े बड़े नैयायिकों द्वारा टीका लिखी गयी—परन्तु रघुनाथ शिरोमणि की (दीधिति) पक्षधर मिश्र का (आलोक) तथा मथुरानाथ तर्कवागीश का (रहस्य) ये व्याख्यायें अत्यन्त प्रौढ़ और अति प्रसिद्ध हैं।

तत्त्वचिन्तामणिके मंगलश्लोक से स्वयमेव स्पष्ट होता है कि इन्होंने स्वयमेव भगवानशंकर को (ओमपद) से वाच्य परमकृपालु तथा

समस्त जगत का आश्रय मानकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस त्रिमूर्ति के रूप में उनकी उपासना करते थे।

दीधिति में मूलग्रन्थ के अर्थ को स्फुट करने के साथ अनेक नुतन विचारों का भी विस्तृत समावेश किया गया है। तथा अनेक व्याख्येय ग्रन्थ की गम्भीरता के कारण उस पर कई प्रौढ़ व्याख्यायें निर्मित हुई हैं।

जैसे-१-रामरूद्र तर्कवागीशकी-"तत्त्वचिन्तामणिदीधिति टीका"

२. रघुदेव न्यायालङ्कारकी "दीधिति टीका"

३. रूद्र न्यायवाचस्पतिकी "तत्त्वचिन्तामणिदीधिति प्रकाशिका"

४. जयराम न्याय पञ्चाननका-"तत्त्वचिन्तामणिगूढार्थ विद्योतन"

५. रामभद्र सार्वभौमकी-"दीधिति टीका"।

६. कृष्णदास सार्वभौमिकी-"तत्त्वचिन्तामणिदीधिति प्रसारिणी"।

७. भवानन्द सिद्धान्त वागीश की-"तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका'

८. जगदीश तर्कालङ्कारकी-"जागदीशी"टीका।

९. गदाधर भट्टाचार्य की-"गादाधरी टीका"।

१०. विश्वेश्वर पाण्डेयका-"दीधिति प्रवेश"।

दीधिति के उपर लिखी गई व्याख्याओं में "जागदीशी" और गादाधरी का स्थान सर्वोपरी है। यही दो टीकायें पठन पाठन के क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान रखती है। बाद के अनेक विद्वानों ने इन टीकाओं पर क्रोड़पत्रों का प्रणयन किया है।

तत्त्वचिन्तामणि को आलोकित करने के लिये पक्षधर मिश्र द्वारा (आलोक) नामक टीका लिखी गयी, जो अधोनिर्दिष्ट हैं।

१-हरिदास न्यायालङ्कार, भट्टाचार्यकी "मण्यालोक टिप्पणी"

२-मधुसूदन ठक्कुर का-तत्त्वचिन्तामण्यालोक-कण्टकोद्धार:

३-महेशठक्कुर का-आलोकदर्पण:

४-देवनाथ ठक्कुर का-तत्त्वाचिन्तामण्यालोक परिशिष्ट

५-कृष्णदास सार्वभौमकी-अनुमानालोक प्रसारिणी

६-भवानन्द सिद्धान्त वागीशकी-प्रत्यक्षालोक सारमञ्जरी।

७-गुणानन्दविद्यावागीश का-शब्दालोकविवेक

८-गदाधर भट्टाचार्य की-तत्त्वचिनतमष्या लोक टीका।

मथुरानाथ तर्कवागीश का (रहस्य) तत्त्वचिन्तामणि के समस्त

भाग की अत्युत्तम व्याख्या है। तथा मूलग्रन्थ का समग्र रहस्य बड़ा सुबोध शैली में उद्घाटित हुआ है।

इसके अलावा इन्होंने दीधिति और आलोक पर भी रहस्य नाम की टीकायें लिखी हैं। (दीधिति); (आलोक) और रहस्य के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तामणि की और भी कई व्याख्यायें उपलब्ध हैं। जैसे-

१. कणाद तर्कवागीश भट्टाचार्यकी-(मणिव्याख्या)।
२. हरिदास न्यायालङ्कार की-"तत्त्वचिन्तामणि प्रकाशिका"।
३. वर्धमान उपाध्याय का-"तत्त्वाचिन्तामणि प्रकाश"।
४. शंकर मिश्र का-"तत्त्वचिन्तामणिमयूख"।
५. रुचिदत्तमिश्र का-"तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश"।।
६. रघुदेव की-"तत्त्वचिन्तामणि गुढार्थ दीपिका"।
७. हरिराम तर्कवागीशकी-"तत्त्वचिन्तामणि टीका"।
८. भवानन्द सिद्धान्त वागीश का-"तत्त्वचिन्तामणि टीका"।
९. जगदीश भट्टाचार्य की-"तत्त्वचिन्तामणि मयूख"।
१०. गदाधर भट्टाचार्य की-"तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या"।
११. वाचस्पतिमिश्र की-"अनुमान खण्ड"।

इतिहास के गवेषक विद्वानों ने इनके ग्रन्थ में "सप्त-पदार्थी"-कार (शिवादित्य मिश्र); खण्डनकार (श्री हर्ष) और (षड्दर्शनी वल्लभ) श्री वाचस्पति मिश्र आदि महान विद्वानों के निर्देश के आधार पर बारहवीं शदी के उत्तरार्ध में इनका माना है।

जिस प्रकार तत्त्वचिन्तामणि की रचना कर विद्वत मण्डली में न्याय को आलोकित किये उसी प्रकार अपने सूयोग्य पुत्र के द्वारा भी इन्होंने असीम ख्याति प्राप्त की। इनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय भी न्याय निष्णात् विद्वान् थे। वर्धमान उपाध्याय ने अपने पिता की आराधना निम्नरूप में की है।

न्यायम्भोजपतङ्गाय मीमांसापारदृश्वने।
गङ्गेश्वराय गुरवे पित्रेऽत्र भवते नमः।।

पक्षधर मिश्र-(१३वीं शदी)-

इनका दूसरा नाम जयदेव था। ये नैयायिक एवं नाटककार दोनों थे। इनका समय १३वीं शदी का उत्तरार्ध है।

रचना—तत्त्वचिन्तामणि पर (आलोक) नामक टीका एवं नाटक में (प्रसन्न राघव) की सभी नाट्यग्रन्थों में अद्वितीय स्थान है।

वासुदेव सार्वभौम-१३ वीं शदी का उत्तरार्ध एवं १४वीं शदी का पूर्वार्ध-

ये पक्षधर मिश्र के शिष्य थे मिथिला के नैयायिकों का यह सिद्धान्त था कि वे अपने न्याय विद्या को मिथिला के बाहर जाने नहीं देते थे इस वस्तुस्थिति को जानकर वासुदेव सार्वभौम मिथिला में ही रहकर सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तामणि और न्यायकुसुमाञ्जलि का अक्षरशः अध्ययन किया। एवं काशी आकर उसे लिपीबद्ध किया। तत्पश्चात् न्याय-शास्त्र को नवद्वीप में ले जाकर न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिये विद्यापीठ की स्थापना की। इतिहासवेत्ता इन्हें १३ वीं शदी का उत्तरार्ध एवं १४वीं शदी का पूर्वार्ध स्वीकार करते हैं।

१५वीं व १६वीं शताब्दी नव्य-नयाय का स्वर्णयुग था क्योंकि बंगाल के नवद्वीप के नैयायिकों द्वारा अनेक प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थों की रचना हुई। इन नैयायिकों में वासुदेव सार्वभौम सर्वप्रथम थे।-तथा उन्हें बंगाल के अनेक नैयायिकों एवं महापुरुषों का गुरू होने का गौरव प्राप्त था। धार्मिक निबन्धों के निर्माता रघुनन्दन, शक्ति तन्त्रों के प्रामाणिक व्याख्याता तान्त्रिक कृष्णानन्द तथा नैयायिक शिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य जैसे सुप्रसिद्ध पुरुष सर्वाभौम के ही शिष्य थे।

(रघुनाथ शिरोमणि १६वीं शताब्दी)-

बंङ्गीय नैयायिकों में रघुनाथ जैसा धुरंधर तार्किक कोई नहीं हुआ। यही कारण है कि तर्कविषयक अद्वितीयता के कारण नदिया के विद्वन्मण्डली ने इन्हें शिरोमणि की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक "दीधिति" है। गङ्गेश के तत्त्वचिन्तामणि पर यह विवरणात्मक टीका है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में "दीधिति" ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों; रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्ड़ार है। नैयायिक गण इन्हें १६वीं शदी के पूर्वार्ध में स्वीकार करते हैं।

मथुरानाथ-(१६वीं शतक)-

शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश निश्चय रूप से

सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इन्होंने "आलोक" "चिन्तामणि" तथा "दीधिति' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर गूढार्थ प्रकाशिनी "रहस्य" नाम टीकायें लिखीं।

जगदीश भट्टाचार्य (१७वीं शताब्दी)–

मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के नैयांयिक परम्परा में जगदीश का नाम प्रमुख रूप से आता है। इन्होंने "दीधिति" के उपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी; जो सर्वसाधारण में (जागदीशी) नाम से प्रसिद्ध है। शब्द शक्ति "प्रकाशिका" शब्दशक्ति के उपर नितान्त प्रामाणिक और विस्तृत निबन्ध है-जिसका श्रेय नैयायिक जगदीश को ही प्राप्त है।

गदाधर भट्टाचार्य (१७वीं शदी)–

"दीधिति" की बृहत्काय व्याख्या जो गादाधरी के नाम से विख्यात है इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन के "आत्मतत्त्वविवेक" के उपर तथा "तत्त्वचिन्तामणि" के कतिपय भागों पर "मूलगादाधरी" नामक व्याख्या लिखी है। टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्त्वपूर्ण विषयों के उपर लगभग ५२ मौलिक ग्रन्थों की रचना की-जिनमें (व्युत्पत्तिवाद) (शक्तिवाद) विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय एवं समादर के पात्र हैं।

इस प्रकार नव्य-न्याय को यदि विशाल वटवृक्ष की उपमा की जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस वटवृक्ष की जड़ें मिथिला में दृढ़तर स्तम्भ (तत्त्व-चिन्तामणि) के रूप में सुदृढ़ हुआ। एवं इसकी विशालकाय शाखायें नवद्वीप की पवित्र भूमि में "दीधिति' के रूप में प्रकट हुई; और इसके सुन्दर फल (जागदीशी) और गादाधरी के रूप में आविर्भूत होकर आज भी न्याय के क्षेत्र में विद्वन्मण्डली को अपने मधुर आस्वाद से आनन्दित कर रहे हैं। इनके विषय में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि रघुनाथ शिरोमणि नैयायिकों में मुकुटमणि हैं; तो गदाधर नैयायिकों के सम्राट जिसके मस्तक के मणि से जटित वह मुकुट सुशोभित कर रहा है।

भासर्वज्ञ-(१०वीं शदी)–

इतिहासकार इन्हें १०वीं शदी के द्वितीय चरण में स्वीकार करते हैं।

इनकी प्रमुख रचना (न्याय-सार) है। इस ग्रन्थ का आरम्भ निम्नांङ्कित मंगल श्लोक के उल्लेख से आरम्भ होता है।

प्रणम्य शम्भुं जगतः पतिं परं समस्ततत्त्वार्थविदं स्वभावतः ।
शिशुप्रबोधाय मयाऽभिधास्यते प्रमाणं तद्भेदः तदन्यलक्षणम् ।।

इसमें संशय विपर्यय की चर्चा करके प्रमाण के तीन भेद बताये गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इस संख्या साम्य के कारण यह ग्रन्थ सांख्य और जैन दर्शन के अनुरूप तथा उपमान के साथ उक्त तीन प्रमाण मानने वाले न्याय-दर्शन एवं प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानने वाले बौद्ध दर्शन के समतुल्य है।

प्रत्यक्ष—इसके "यौगिक" और "लौकिक" दो भेद हैं। "यौंगिक" के भी दो भेद हैं-"युक्त" "अयुक्त"-अयुक्त के दो भेद हैं "आर्ष" और "अनार्ष"। लौकिक प्रत्यक्ष के छः भेद बताये गये हैं-प्राणज; रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रावण और मानस।

अनुमान—अनुमान के दो भेद बताये गये हैं-१-स्वार्थानुमान और २-परार्थानुमान। परार्थानुमान को अवयवसाध्य मानकर उसी के सन्दर्भ में निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा मान छल जाति और निग्रह स्थानों का परिचय किया गया हैं। **शब्द**-शब्द प्रमाण के दो भेद वर्णित हैं—१-दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक-अर्थात्-आप्तवाक्य और वेदवाक्य प्रमेय-प्रमेय के चार भेद बताये गये हैं-दुःख दु;ख का कारण, दु;ख निवृत्ति तथा दु;ख निवृत्ति का उपाय।

मोक्ष-मोक्ष में दु;ख की निवृत्ति के साथ शाश्वत सुख के प्राप्ति का समावेश है।

इस प्रकार प्रकरण प्रधानीय ग्रन्थों में न्यायसार का अत्यधिक महत्व है।

द्वितीय विभाग के न्याय-शास्त्रीय प्रकरण ग्रन्थ (वरदराज १२वीं शदी)–

ये आंध्र प्रदेश के निवासी थे। इन्होंने "तार्किक रक्षा" नाम की एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। तथा उसके तात्पर्यार्थ के लिये सार संग्रह नाम की एक व्याख्या भी लिखी। इसके अतिरिक्त विष्णु स्वामी के

शिष्य ज्ञानपूर्ण ने (लघुदीपिका) और मल्लिनाथ ने (निष्कण्टका) टीका की रचना कर उनका पर्याप्त श्रीवर्धन किया।

"तार्किक रक्षा" में वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य का निर्देश करते हुए निम्न पद्य का उल्लेख किया गया है।

आलोच्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान्
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम्।
सारो मयात्र समगृह्यत वाचदूके
नित्यं कथासु विजिगीषुभिरेष धार्यः।।

यह श्लोक इस तथ्यता को स्पष्ट करता है कि "वरदराज" निश्चित रूप से इन लोगों के बाद के हैं। १४वीं शदी में लिखे गये "माधवाचार्य" के (सर्वदर्शनसंग्रह) में इनका उल्लेख है। अतः इनका उस समय के पहले का होना निश्चित है। ऐतिहासिकों ने अपनी गावषणिक प्रणाली से (तार्किक रक्षाकार) वरदराज को १२ वें शतक के मध्य में अवस्थित होने की सम्भावना व्यक्त की है।

तृतीय विभाग के प्रकरण ग्रन्थों के रचयिता-

वल्लभाचार्य (१२वीं शदी)-

१२वीं शदी में ही वल्लभाचार्य का भी होना पाया जाता है। परन्तु ये वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक (वल्लभाचार्य) से भिन्न थे। तथा न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे।

रचना—न्याय लीलावती इनकी कमनीय कृति है। जो न्याय वैशेषिक दर्शनों का एक विशाल प्रकरण ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ पुरुषोत्तम परमात्मा की वन्दना से किया गया है। जो इस प्रकार है—

नाथः सृजत्यवति यो जगदेक-पुत्रः
प्रीत्या ततः परमनिर्वृत्तिमादधाति।
तस्मै नमः सहजदीर्घकृपानुबन्ध-
लब्धत्रितत्त्वतनवे पुरुषोत्तमाय।।

वल्लभाचार्य ने अपनी पत्नी वल्लभा के नाम पर इस ग्रन्थ का नामकरण किया है; और एक श्लिष्ट पद्य के द्वारा पत्नीरूपा तथा ग्रन्थरूपा लीलावती का वर्णन करते हुए प्रतिपाद्य द्रव्य आदि पदार्थों का उल्लेख किया है। वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

द्रव्यं नाधिकमुज्ज्वलो गुणगणः कर्माधिकं श्लाघ्यते।
जातिर्विप्लुतिमागता न च पुनः श्लाघ्या विशेषस्थितिः।
सम्बन्धः सहजोगुणादिभिरयं यत्रास्तु सत्प्रीतये।
साऽन्वीक्षानयवेश्मकर्मकुशला श्रीन्यायलीलावती।।२।।

इस पद्य में प्रतिपाद्य विषय के रूप में वैशेषिक दर्शन के "धर्म-विशेषप्रस्तुताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमावायासमवायानां पदार्थानां साधम्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानां निःश्रेयसम्"। इस निर्देश के आधार पर अभाव नामक पदार्थ को भी इन्होंने स्वीकार किया है। अर्थात्-अभाव को अभ्युपगम सिद्धान्त सिद्ध कहकर उसे वैशेषिक सम्मत माना हैं।

वल्लभाचार्य ने इस ग्रन्थ में वैशेषिक के षड्विध भावपदार्थों में दूसरे पदार्थ "गुण" के वर्ग में परिगणित बुद्धि का विद्या यथार्थ ज्ञान और अविद्या अयथार्थ ज्ञान इस प्रकार दो भेद बताकर विद्या के साधन के रूप में न्याय-दर्शन के चतुर्विध प्रमाणों का प्रतिपादन किया है। उच्चकोटि के नैयायिकों द्वारा लिखित जिन टीका प्रटीकाओं से न्याय लीलावती की सुषमा विद्वानों के बौद्ध नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हुई है-वे इस प्रकार हैं—

१-न्यायलीलावती प्रकाश वर्धमान उपाध्याय।

२-नयाय लीलावती दीधिति रघुनाथ शिरोमणिकृत।

३-न्याय लीलावती कण्ठाभरण शङ्कर मिश्रकृत।

४-न्याय लीलावती प्रकाश विवेक मथुरानाथ-तर्कवागीशकृत (उपटीका)।

५-न्याय लीलावती प्रकाश विवृत्ति भगीरथ ठक्कुरकृत उपटीका।

इतिहासज्ञों का कथन है कि न्यायलीलावती में १०वीं शदी के चतुर्थ चरण में विद्यमान उदयनाचार्य का निर्देश है। तथा १३ वीं शदी के प्रथम चरण में वर्तमान वर्धमान ने इस ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है। अत; इन दोनों के मध्य १२वीं शदी में इस ग्रन्थ के रचयिता वल्लभाचार्य की स्थिति सम्भव प्रतीत होती है।

शशधर (१२वीं शदी)–

इन्होंने न्याय-दर्शन के एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की थी-जो (न्याय सिद्धान्तदीप) नाम से ख्यात है। इसमें न्याय और वैशेषिक के

विषयों का साकल्येन वर्णन न कर उनके कुछ प्रमुख विषयों का ही वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का आरम्भ निम्नश्लोक से किया गया है।

ध्वंसितनरसिद्धान्तध्वान्तं गौतममतैकसिद्धान्तम्!
नत्वा नित्यमधीशं शशधरशर्मा प्रकाशयति।।

इस पद्य के "नरसिद्धान्त" शब्द से यह ज्ञात होता है कि (न्याय-सिद्धान्त दीप) में जिन मतों का खण्ड़न किया उन मतों में चाहें कोई कितना भी उच्चकोटि का हो-उसे (नर-सिद्धान्त) ही कहा जा सकता है; जिसकी लक्षणा सामान्य व्यक्ति से सम्बन्धित है। परन्तु जिन मतों को प्रतिष्ठापित किया गया है-वह महर्षि गौतम के द्वारा प्रतिष्ठापित होने से (आर्षमत) है। तथा शिवानन्द ने न्याय सिद्धान्त दीप टीका लिख कर इसके उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया। वंशीय परम्परा के अनुसार (शशधर)और (मणिधर) ये दोनों ही सिंह और (व्याघ्र) कहे जाते हैं; क्योंकि इन दोनों ने अपने प्रतिपक्षियों को समादृत किया लेकिन विपक्षियों को पूर्णतः शास्त्रीय विधि से पराजित किया। यद्यपि गङ्गेशोपाध्याय ने (तत्त्वचिन्तामणि) में विजगीषा के इस परम्परा को अनादृत स्वीकार किया है। यदि इस परम्परा को सत्य स्वीकार किया जाय तो १२वीं शदी अर्थात् गङ्गेश के पूर्व ही (शशधर) का होना सिद्ध होता है।

केशवमिश्र (१३वीं; शदी; तृतीय चरण)–

मिथिलायाः श्रेष्ठनैयायिकेषु केशवमिश्रोऽन्यतम आसीत्। किन्तु यथाऽन्यग्रन्थकृदिभिः निजविषये न किमपि लिखितं तथैवानेनापि न कश्चन नैजः परिचयो निर्दिदेश।

गोवर्धनमिश्रः योहि केशवमिश्रस्य शिष्यः सः गौतमीयतर्कभाषामाश्रित्य तर्कभाषानाम्नीटीकां लिखितवान्। टीकायामस्यामाद्यादेव मंगलपद्ये तेन निर्दिष्टं यत्केशवमिश्रो नाम तस्य गुरुः तच्च मंगलपद्ये तेन निर्दिष्टं यत्केशवमिश्रः तस्य गुरुः। तच्च मंगलपद्यं यथा—

विजयश्रीतनुजन्मा गोवर्धन इतिश्रुतः।
तर्कानुभाषां तनुते विविच्य गुरुनिर्मिताम्।।

अत्र विविच्य गुरूनिर्मिता मित्यस्यायमाशयो यत् गुरुणा पित्रा वा लिखिता तर्कभाषा। तत्रतृतीयचरणें नेदं ज्ञायते यत् गोवर्धनस्य पितुर्नाम बलभद्रः। तर्कभाषाटीका नामनुक्रमणिकयेदं निर्धारितवान् यत् गोवर्धनस्य

पितुर्नाम बलभद्रः भातुर्नाम पदम्नाभमिश्रश्चाऽसीत्। किन्तु अनेन श्लोकानुशीलनेन गोवर्धनकृततर्कभाषापुष्पिकया इदं जायते यद् बलभद्रः गोवर्धनस्य पिता पदम्नाभस्तस्य ज्येष्टभ्रातेति। तन्मंगलपद्यं यथा—

श्रीविश्वनाथानुजपद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कान्नधिगम्य सर्वं श्रीपद्मनाभो विदुषःविनोदम्।।

पुष्पिकायां च-यथा—"इति श्रीजगद्गुरुमिश्रबल्लभद्रात्मजः विजयश्रीगार्भसम्भवविश्वनाथानुज-गोवर्धनकृततर्कभाषाप्रकाशः समाप्तः"

सुरेन्द्रलालगोस्वामिना तर्कभाषाया एकस्मिन् संस्करणे काचित् परम्परा समुल्लिखिता, तदनुसारं केशवमिश्रो मिथिलायाः "सरिसोपाहि" ग्रामवास्तव्यस्तथा अभिनववाचस्पतेः प्रपौत्रश्चासीत्। केशवमिश्रस्य काल-(तिथि)-सम्बन्धे अनुमानाश्रय एव एकः आधारः। असिद्धहेत्वाभाससन्दर्भे केशवमिश्रेण नामोल्लेखपुरस्सरमुदयनाचार्यस्य मतमुद्धृमस्ति। अनेनेदं निश्चियते यत् केशवमिश्रः उदयनाचार्यस्य उत्तरवर्ती। उदयनाचार्यस्य समयः दशमशताब्दी मन्यते। तर्कभाषायाः टीकाकारणां कालनिर्णयमाश्रित्य केशवमिश्रस्य समयसीमा निर्धार्यते। तत्र तर्कभाषायाः प्राचीनटीकाकृत्सु "चिन्नंभट्टस्याभिधानं प्रामुख्यं भजते। यद्यपि तेन केशवमिश्रविषये स्पष्टं किमपि न लिखितं यत् "हरिहरमहाराजाऽश्रितचिन्नंभट्टः लिखितवान्। इमां तर्कभाषां प्रकाशिकाम् इतिहासे "हरिहरबुक्कारायौ" भ्रातरौ निर्दिष्टवन्तौ। ययोः कालः १३५०-१४००ई. वर्षं मन्यते। इत्थं केशवमिश्रस्य समयः १०००-१४००ईसवीयस्य मध्यवर्तिकालं मातुं शक्यते। केशवमिश्रस्य ज्येष्ठभ्राताऽपि एकः श्रेष्ठः नैयायिक आसीत्। तेन वैशेषिकदर्शनेप्रशस्तपादभाष्ये उदयनाचार्यविरचिता किरणा-वलीटीका विशदीकृता। एतदतिरिक्तमपि तेन "किरणावलीप्रकाशः" "कणादरहस्यमुक्ताहाराख्यौ" ग्रन्थौ लिखितौ।

वास्तविकं त्विदं यत् केशवमिश्रेण निजाग्रजात् मिश्रप्रदत्तनातर्कशास्त्रमधीतम्। नव्यन्यायप्रवर्तकस्य 'श्रीगङ्गेशोपाध्यायस्य' शिष्यः "वर्धमानोपाध्यायः" किरणावलीमाश्रित्य १२७५ई. वर्षे किरणावली प्रकाशनामकं ग्रन्थं रचयामास। किन्तु पद्मनाभमिश्रः वर्धमानोपाध्यायस्य किरणावली प्रकाशापेक्ष्याऽऽत्मनः किरणावलीप्रकाशस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयामास। इदं निगदितं यत् ये अर्थाः वर्धमानेन न स्पृष्टास्तादृशानां गुरूपदिष्टानां नवीनार्थानां प्रयोगं कुर्मः।

अनेन श्लोकेन इदं प्रतीयते यत् पद्मनाभः केशवमिश्रस्य ज्येष्ठभ्राता वर्धमानोपाध्यायस्य समकालीनोऽथवा किञ्चत्पश्चाद्वर्ती भवेत्। एतयोर्द्वयोरपि मैथिलविदुषोः समयः १२७५-१४००ई. वर्षपर्यन्तं यत्स्वीक्रियते तत्समकालीन एव सुरेन्द्रलालगोस्वामिना निजतर्कभाषासंस्करणे इदममानि यत् "द्वैत-परिशिष्टस्यापि (लेखकः) केशवमिश्र एव। द्वैतपरिशिष्टे केशवमिश्रेण स्वपरमगुरोः "तत्त्वालोके" कृतमहार्णवे च प्रकटितविचाराणां समुल्लेखः कृतो यत् एतेषां ग्रन्थानां रचयिता अभिनववाचस्पतिः। केशवमिश्रस्य परमगुरुत्वेन यदि तस्य पितामहः श्री वाचस्पतिमिश्रः स्वीक्रियते तदा न काचिद् आपत्तिः।

मैथिलोऽयं केशवमिश्रोऽलङ्कारशेखरसंख्यापरिमाणाद्यनेकं ग्रन्थानां प्रणेता सौभाग्येन स्वपरिचयमस्मभ्यं प्रददातीति प्रमोदस्थानम् संख्यापरिमाणाभिधग्रन्थस्य समाप्तावस्य परिचय एवं समुल्लिखितो विद्यते "इति महामहोपाध्याय-कटकावासिसोदरपुरकमलदिवाकरमिश्र-श्रीकेशवकृतं संख्यापरिमाणपुस्तकं समाप्तम्" इति। मैथिलपञ्जीप्रबन्धे पुरुषानुक्रमोऽस्य परिचय उपलभ्यते। तथा हि तत्र "म.म.विश्वनाथ-रतिनाथ मिश्रदालुः मिश्रगदाधरमहोपाध्यायविसो (विश्वधर) महोपाध्यायकेशव" इति दृश्यते। अयं च केशवः कुसुमाञ्जलेशमोदस्यात्मतत्त्वविवेकस्य कल्पलतायाश्च रचयितुः प्रसिद्धात् भवनाथात्मजातशङ्करमिश्रात् पुरुषानुक्रमेण तृतीयस्तद्वांशज एवासीत् मिथिलाया ओइनवारवंशीयान्तिममहाराजस्य लक्ष्मीनाथकंसनारायणस्य सभायां सम्मान्यपण्डितरूपेणास्यावस्थितिरासीत्। अतएव खैटाब्दस्य षोडशशतकस्यादिंभागे मिथिलयां प्रसिद्धातवदावंशेसोदर पुरकटका मूलग्रामे केशवमिश्रो जनिं लेभे इति निश्चेतुं शक्यम् एवञ्च मातृकायामुल्लिखितस्य लक्ष्मणाब्दस्य सङ्गतिरपि भवति। इदानीं ८६८ लक्ष्माब्दः प्रचलति।

अयमेव केशवमिश्रः कवीन्द्राचार्यसरस्वत्यभिधानस्य प्रशंसायां श्लोकचतुष्टयं व्यरचयत्। हरदत्तशर्मसम्पादिते पुण्यपत्तनतः प्रकाशिते कवीन्द्रचन्द्रोदये तेषां श्लोकानां विद्यते समावेशः। तत्र च सम्पादकः ख्रिष्टीयषोडशशताब्द्या अन्तिमांसे सप्तदशशताब्द्याश्च प्रारम्भे केशवमिश्रमनुमानतः प्रस्थापयामास प्रत्यपादयश्च कौटकाङ्गराराज्यस्य नृपतेः माणिक्यचन्द्रस्य सभापण्डित आसीदिति। स च १५६३ खिष्टाब्दे शासनमकरोत्।

सम्भवति कदाचित् मिथिलामहीपालस्य परिषदि अन्तिमे वयसि आसीदयमिति।

यद्यपि केशव इति विभिन्नसमयभावानां मैथिलपण्ड़ितानाम-भिधानं समुपलभ्यते। तैः प्रणीताः ग्रन्थाश्च सन्ति। यथा-तर्कभाषाकृत् केशवमिश्रः नैयायिकेषु प्रसिद्ध एव तथापि तद्भिन्नः गौतमीयसूत्र-प्रकाशस्यालङ्कार-शेखरस्य द्वैतपरिशिष्टस्य संख्यापरिमाणाभिधस्यान्यस्य च ग्रन्थस्य प्रणेता एक एव केशवमिश्र उर्ध्वदर्शितपरिचयः इत्यत्र विवादाभावः। यतो गौतमीय-सूत्रप्रकाशे मङ्गलश्लोकोपसंहारपद्ययोरेषु ग्रन्थेषु सर्वथैक्यं लेखकस्यैकेन विना असम्भवमेवेति नात्र प्रमाणान्तरापेक्षा।

तीरभुक्तिमहीपालपरिषन्मुख्यसूरिणा ।
श्रीकेशवकवीन्द्रेण निबन्धोऽयं विधीयते।।

इति संख्यापरिमाणभिधे ग्रन्थे प्रारम्भश्लोकः। अस्यैव चतुर्थ-चरणं "कृता सूत्रप्रकाशिका" इति रूपेण परिवृत्य गौतमीयसूत्रप्रकाशस्य प्रथमाध्यायान्ते विनिवेशः। अलङ्कारशेखरस्य गौतमीयसूत्रप्रकाशस्य च मङ्गलाचरणमेकेनैव पद्येन विहितम् तच्च पद्यम्

प्राणान् कुशोदरीणां राधानयनान्तसर्वस्वम्।
तेजस्तमालनीलं शरणागतवज्रपञ्जरं वन्दे।।इति।

उमापतिसगर्भस्य श्रीविश्वधरजन्मनः।
श्रीमत्केशवमिश्रस्य कृतिर्विजयतेतराम्।।

इति गौतमीयसूत्रप्रकाशस्यान्तिमश्लोकः पञ्जीप्रबन्धभिहितं विश्वधरात्म-जत्वं केशवस्य स्फुटं प्रतिपादयति।

अयं च मुख्यतो नैयायिकः, वेदान्ते च लब्धप्रतिष्ठः काव्यस्यापि मर्मज्ञ आसीत्। न केवलं जन्मभूमौ मिथिलायामपितु विद्यायाः केन्द्रे वाराणसीनगरेऽपि वेदान्तं न्यायदर्शनं चाध्यापयन् प्राख्यापयत् वैदुष्यमु-पार्जयच्च यशांसीति स्वयमनेन प्रत्यपादि निम्नपद्ये-

सुखेनाध्यापयन् काश्यां न्यायवेदान्तदर्शने।
श्रीकेशवकविश्चक्रे न्यायसूत्रप्रकाशनम्।। इति।

गौतमीयसूत्रप्रकाशान्तिमश्लोकस्तत्रत्या निम्ननिर्दिष्टपुष्पिका चास्मिन् प्रसङ्गे सर्वथावलोकनीया। तद्यथा-"इति महामहोपाध्यायतर्काचार्यवेदान्तव्यास-श्रीकेशवमिश्रकृते गौतमीयसूत्रप्रकाशे पञ्चमोध्यायः।" एवमलङ्कारशेखरस्यपि

तु सप्त पुस्तकानि नैयायिकैरेव ज्ञातुं योग्यानि समारचि, कवीन्द्रेण केशवेनेति स्वयमारम्भे अलङ्कारशेखरस्यारम्भिकश्लोकोऽप्यत्र द्रष्टव्यः। यत्र "वेदान्तन्यायविद्यापरिचयचतुरं कैशवं सन्नियज्य इति लिखितमस्ति। साहित्यशास्त्रे न केवलम् अलङ्कारशेखरः अपितु सप्तान्यानि पुस्तकानि नैयायिकैरेव ज्ञातुं योग्यानि समारचि कविन्द्रेण केशवेनेति स्वयमारम्भे अलङ्कारशेखर-स्याभिद्धात्ययम्-

ग्रन्थाः काव्यकृतां विहिता ये सप्त पूर्वं मया।
ते तर्कार्णवसंप्लवव्यसनिभिः शक्याः परं वेदितुम्।।

इति अस्य च परः सहस्रं शिष्याः विद्याप्रचाराय समुद्रपारमपि समगच्छन्निति निम्नश्लोकस्तदीयः प्रतिपादयति-"श्री केशवेन व्यरचि प्रबन्धः पूर्णानि विश्वान्यपि यद् यशोभिः शिष्यैर्यदीयेश्च परः सहस्रैः पारे समुद्रानपि भूषितभूः इति। सत्यपि नव्य-न्याय प्रचारबाहुल्ये सुत्राणामध्ययने संलग्नचेतसः स्वल्पायासेन प्राचीनन्यायसिद्धान्तसारानवगमयितुं वद्धपरिकराः शिष्याणां हितकामनया शास्त्रसंरक्षणप्रवृत्त्या च वृत्तिप्रणयने तत्परा इमे विद्वांसो वस्तुतः प्रसंसापात्रमस्माकम् न्यायचतुर्ग्रन्थिकारूपाकरतः सिद्धान्त-रत्नामुद्भवविकासपरम्पराप्रदर्शनपुरस्सरं पश्चाद-भावानां न्यायाध्ये-तृणां मार्गप्रदर्शनभप्यकारि।

(वर्धमान उपाध्याय १३वीं शदी)–

१३वीं शदी में ही वर्धमान उपाध्याय का भी प्रादुर्भाव हुआ। ये मैथिल ब्राह्मण थे। नव्य न्याय के क्षेत्र में इनका महान योगदान था। इनके पिता का नाम गङ्गेश्वर उपाध्याय था। **कृति–**

१. तत्त्वाचिन्तामणिप्रकाश (तत्त्वचिन्तामणि की टीका।
२. न्याय-निबन्ध प्रकाश (न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका परिशुद्धि की व्याख्या।
३. न्याय-परिशिष्ट प्रकाश (उदयनाचार्य के न्याय-परिशिष्ट पर टीका।
४. प्रमेय-निबन्ध प्रकाश।
५. किरणावली-प्रकाश।
६. न्याय-कुसुमाञ्जली-प्रकाश।
७. न्याय लीलावती प्रकाश।

८. खण्डन खाद्य प्रकाश।
९. अन्वीक्षानयतत्त्वबोधगौतमसूत्रटीका।
१०. न्यायनिबन्ध; उदयनकृत परिशुद्धि टीका।
११. कुसुमाञ्जली-प्रकाश।
१२. किरणावली प्रकाश।
१३. खण्डन-प्रकाश।
१४. खण्डनोद्धार।
१५. बौद्धाधिकार प्रकाश।
१६. स्मृति परिभाषा।
१७. श्राद्ध-प्रदीप।
१८. आचार-प्रदीप।

शङ्करमिश्र (१५वीं शदी का उत्तरार्ध)–

न्यायवैशेषिक दर्शन के विकास में भी मिथिला एवं काशी के विद्वानों का अभूतपूर्व योगदान है। श्रीशङ्कर मिश्र का जन्म भी मिथिला में ही हुआ। परन्तु कर्मभूमि क्षेत्र के लिये इन्होंने काशी का चुनाव किया। काशी में निवास करते हुए ही इन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति की-अर्थात् उपस्कर एवं भेदरत्न नामक दो पुस्तकों की रचना की।

उपस्कर महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रों की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जिसमें मूल ग्रन्थ के गम्भीर सिद्धान्तों के रहस्य का प्रतिपादन है।

"भेदरत्न प्रकाश" न्यायशास्त्र के भेदवापी दृष्टिकोंण को प्रकाशित करने वाला मौलिक ग्रन्थ है। जो हस्तलिखित प्रति के रूप में है-इसे रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में सुरक्षित किया गया है। यह प्रति उनके जीवन काल में ही लिखी गई थी। अतः इनका समय १५वीं शदी का उत्तरार्ध है।

जीवन परिचय–ये मिथिला के (सरखव) गांव के निवासी थे। इनके पुज्य पिता का नाम भवनाथ मिश्र था-जो उस समय के विद्वत् परम्परा के अग्रज माने जाते थे। यद्यपि इनके पिता इन्हें सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत कर दिये थे तथापि इन्हें और भी अधिक शास्त्र प्रवीण होने के लिये इन्हें काशी भेज दिये। यहाँ पर इन्होंने अत्यन्त ख्यातिप्राप्त

किया। इनके बढ़ता हुआ यश को देखकर काशीस्थ विद्वद्जन इनसे द्वेष करते हुए इनके चरित्र पर आक्षेप लगाने लगे। एवं इतने से भी जब सन्तुष्ट नहीं हुए तो इनके पिता के पास इनके चरित्र पर कल्पित असंख्य आरोप लगाकर पत्र भेजा। तत्पश्चात् इनके पिता जी ने जो पत्र इनके पास भेजा वह निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से व्यक्त है—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव तदनु स्वाभाविकी स्वच्छता,
किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे।
किं वाऽतः परमुच्यते स्तुतिपदं त्वं जीवनं जीविनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पुनः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः।

इस श्लोक को पढ़ने के बाद उन्होंने पिताजी की स्तुति करते हुए अपने विषय में निम्नश्लोक लिखकर पिता के पास भेजा—

तापो नापगतस्तृषा न च कृशा,
धौता न धूलिस्तनो,
न स्वच्छन्दमकारि कन्दकवलः,
का नाम केलेः कथा।।
दूरोत्क्षिप्तकरेण हन्त करिणा
स्पृष्टा न वा पद्मिनी,
प्रारब्धो पधुपैरकारणमहो
झङ्कारकोलाहलः।।

इस श्लोक के द्वारा शंकर मिश्र जी अपनी निर्दोषता सिद्ध किये हैं। तथा काशी के लम्पट विद्वानों की तरफ बहुत ही सरस शब्दों में संकेत किया है। तत्पश्चात् पुनः इनके पिता जी इन्हें सावधान करते हुए एक पत्र श्लोक के माध्यम से भेजा। जो निम्नलिखित है—

परिवादस्तेभ्योभवतु वितथो वाऽपि महतां,
तथाऽप्युच्चेर्धाम्ना हरति महिमानं जनरवः।
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रकटितहताशेष-तमसो,
खेस्तादृक् तेजो नहि भवति कन्यां गतवतः।।

भाव यह है कि-जिस प्रकार कन्या राशि सं संक्रान्त होने पर सूर्य का भी तेज कम हो जाता है; उसी प्रकार किसी कन्या से सम्पर्क करना सम्पूर्ण कीर्ति को विनष्ट कर देता है। पिता द्वारा लिखे हुए पत्र को पाकर

सदाचारी तथा दृढ़प्रतिज्ञ शङ्कर मिश्र ने-परिवाद से नहीं डरना चाहिये इस निश्चय को अपने पत्र का माध्यम बनाते हुए अपने पिता जी के पास पत्र भेजा जो निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से व्यक्त है—

सुधांशोर्जातियं कथमपि कलङ्कस्य कणिका,
विधातुर्दोषोऽयं न च गुणनिधेस्तस्य किमपि।
स किं नात्रेः पुत्रो हरशिरसि चूड़ार्चनमणि-
र्नवा हन्ति ध्वान्तं जगदुपरि किं वा न वसति।

इसमें श्री मिश्र जी चन्द्रमा के साथ अपनी तुलना करते हुए; अपने चरित्र पर कल्पित कलंक को निन्दकों की निन्दा सिद्ध किया है।

अत: यह सिद्ध होता है कि शङ्कर मिश्र एक स्निग्ध हृदय सरस कवि व नैयायिक दोनों थे। इनका समय १५वीं शदी का उत्तरार्ध है। १५वीं शदी में ही शुभङ्कर व प्रगल्भ नाम के नैयायिक भी काशी में हुए थे। इन्होंने काशी में ही तत्त्वचिन्तामणि का अध्यापन किया था। जिसके चार खण्डों पर प्रमेय बहुला टीका थी।

खण्डन-दर्पण नामक वेदान्त ग्रन्थ में प्रगल्याचार्य ने अभिनव वाचस्पति के खण्डनोद्धार का खण्डन कर श्री हर्ष के खण्डन खण्ड खाद्य को मण्डित किया है।

"न्याये प्रगल्भ"वाक्य इनकी प्रौढ़ नैयायिक वैदुष्य का स्पष्ट परिचायक है।

१६वीं शदी में अनेक तार्किकों ने काशी को ही अपनी कर्मस्थली बनाई। जिसमें नरहरि विशारद; रूद्र न्याय वाचस्पति, विश्वनाथ सिद्धान्त पञ्चानन, महेश ठक्कुर भवानन्द वागीश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नरहरि विशारद प्रख्यात नैयायिक तथा कृष्ण भक्त एवं वासुदेव सार्वभौम के पिता थे। इनका समय १६वीं शताब्दी है-ये बंगीय नैयायिकों में प्रधान थे।

प्रसिद्ध नैयायिक रंघुनाथ शिरोमणि ने नव्य-न्याय के स्थापना का श्रेय वासुदेव सार्वभौम को ही दिया है। अर्थात् इन्हीं के द्वारा नव्य-न्याय बंगाल के नवद्वीप में परिवर्धित एवं परिष्कृत हुआ।

सार्वभौमजी नैयायिक होने के साथ साथ गौड़ीय वैष्णव मठ के आचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के अनन्य भक्त थे। वि.स. (१५६६=१५०९

ई.) में वे जगदीशपुरी गये वहीं पर चैतन्य देव से भेंट हुई। शास्त्रार्थ किये और पराजित होकर अन्ततः शिष्यत्व स्वीकार कर लिये।

श्री नरहरि विशारद जी के कनिष्ठ आत्मज विद्यावाचस्पति जी के पुत्र विद्यानिवास भट्टाचार्य भी प्रौढ़ नैयायिक थे। विद्यानिवास के कनिष्ठ पुत्र विश्वनाथ न्यायपञ्चानन की अनेक नैयायिक रचनायें हैं। न्याय सूत्रवृत्ति (रचनाकाल १५५६शकाब्द=१६३४ई.) नितान्त प्रख्यात है। भाषापरिच्छेद तथा मुक्तावली इन्हीं की रचना हैं। परन्तु नयी खोज में ये कृष्णदास सार्वभौम की रचनायें मानीं जाती हैं। इनके ज्येष्ठभ्राता रूद्रन्याय वाचस्पति एक ही साथ नैयायिक और कवि दोनों थे।

इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि, कुसुमाञ्जलीकरिका, रघुनाथ शिरोमणिकृत चिन्तामणि "दीधिति" आदि अनेक प्रौढ़शास्त्रीय ग्रन्थों पर प्रमेय बहुल टीकाओं को भी लिखा।

इसी समय मिथिला के वर्तमान राजवंश के संस्थापक के रूप में वे पर्याप्त प्रख्यात हैं। परन्तु इनका दार्शनिक वैदुष्य भी उच्चकोटि का था। दार्शनिक वैदुष्यता के आधार पर ही इन्होंने मिथिला का राज्य प्राप्त किया था। इन्होंने काशी में रहकर गङ्गेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि पर; पक्षधर रचित आलोक नाम्नी टीका की व्याख्या (दर्पण) लिखी।

इसी समय सिद्धान्त वागीशजी ने तत्त्व-चिन्तामणि "दीधिति" पर प्रौढ़ व्याख्या लिखी थी-जो भवानन्दी नाम से जानी जाती थी। परन्तु असूयाग्राही बंङ्गीय नैयायिकों ने इनकी विपरीत आलोचना की है।

फलतः ये बङ्गीय नैयायिकों में उपेक्षा के पात्र हो गये। परन्तु काशी में महाराष्ट्रीय विद्वानों द्वारा सम्मानित किये गये। इनका वंश १६वीं शदी का अन्त अथवा १७वीं शदी के प्रारम्भ में ही अपने मूल स्थान गोदावरी तीरस्थ पुण्य-स्तम्भ नामक स्थान से काशी आया।

(अन्नंभट्ट १७वीं शदी का प्रथमचरण)–

दक्षिण भारत के परम्परागत मान्यता के अनुसार अन्नंभट्ट चित्तुर जिला के निवासी आंध्रपण्डित थे। इन्होंने तर्कसंग्रह नाम के एक लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की थी। जिसके आरम्भ एवं अन्त से दो श्लोक प्राप्त होते हैं।

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः।।
कणादन्यायमतयोर्वालव्युत्पत्ति-सिद्धये।
अन्नंभट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।।

यह दूसरा श्लोक यह स्पष्ट करता है कि तर्कसंग्रह न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ हैं जिसमें वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष समवाय और अभाव इन सात पदार्थों का प्रतिपादन बड़ी सुस्पष्टता एवं सुबोध भाषा में किया गया है। अन्त में "सर्वेषामपि पदार्थानाम् यथायथमुक्तष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्" कह कर न्याय-दर्शन के प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में अन्तर्भाव को सुचित किया गया है। इस ग्रन्थ के उपर अन्नंभट्ट ने स्वयं एक टीका लिखी हैं; जिसका नाम (तर्कसंग्रह दीपिका) है। तर्कसंग्रहदीपिका के उपर (प्रकाश) नाम की टीका नीलकण्ठ भट्ट ने लिखी है-जो नीलकण्ठी नाम से प्रसिद्ध है। नीलकण्ठी पर नीलकण्ठी के पुत्र श्री नृसिंह जी ने भास्करोदया नाम की एक विस्तृत और प्रामाणिक टीका लिखी है। तथा उसे अर्धनारीश्वर भगवान् शिव को निम्नलिखित पद्य द्वारा प्रस्तुत किया है—

श्रीमत्पण्डितमण्डलाकुमुदनाराकासुधादीधितेः
पुत्रस्तस्य च नीलकण्ठविदुषो लक्ष्मीनृसिंहाभिधः।
श्रीमत्तातविनिमितां कृतिमिमां व्याख्यातवान् मञ्जुलां;
तेनास्मान्मुदितो हिमाचलसुतावामार्धदेहःशिवः।।

श्रीमद्दक्षिणामूर्तिसादलब्धानवद्यविधानिखिल-वेदशाखामुखसर्वतन्त्र स्वतंत्र स्थानाल्पान्ते वासिपञ्चास्यजितदिङ्मण्डलविद्वदगजविविधग्रन्थनिबन्ध-नपटूतर सिद्धान्तपाराणकुशलपण्ड़तमण्ड़लविकचकुमुद्वतीर मणायननानाद्वैत ज्ञानामृतोद्गारधारासम्पातनिरन्तरविड़म्बित प्रावृषेण्यवारिवाह व्युहमहामहो-पाध्याय श्रीनीलभट्टवरणकमलध्यानावलब्धसन्मतिकतत्सुनुसूरि श्री महोपाध्यायः श्री नीलकण्ठ भट्ट चरण-कमल ध्यानावलब्धसन्मति-कतत्सुनूसूरि श्रीलक्ष्मीनृसिंहविरचिता तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाशव्याख्या भास्करोदयाख्या श्री नीलकण्ठस्य प्रीतये सम्बोभूयात्। १-दीपिका २-प्रकाश और ३-भास्करोदया टीकाओं के साथ तर्कसंग्रह निर्णय सागर

प्रेस से (१९१५) में प्रकाशित न्यायवोधिनी-टीका और चन्द्र राजसिंह की ५-पदकृत्य टीका भी बड़ी व्युत्पादक टीकायें हैं। तर्कसंग्रह दीपिका में काञ्ची के राजा त्रिभुवन तिलक की चर्चा और तर्कसंग्रह की एक हस्तलिखित प्रति पर १७२४ई. के उल्लेख के आधार पर अन्नंभट्ट को १७वीं शदी में ही विद्यमान मानना उचित है। इस महापुरूष का अधिकांश जीवन वाराणसी में ही व्यतीत हुआ। तथा अन्त में काशी में ही इनकी मृत्यु हो गयी।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन १७वीं शदी तृतीय चरण–

ये विद्यानिवास के पुत्र हैं। विद्यानिवास के (दानकाण्ड) नामक पुस्तक की एक हस्तलिपि प्रति म.म. हरप्रसादशास्त्री की (नेपालग्रन्थ सूची) की एक भूमिका में उल्लिखित है।

ये रघुनाथ शिरोमणि के शिष्य-परम्परा मे नवद्वीप के श्रेष्ठ नैयायिक हैं। भाषापरिक्षेद-कारिकावली न्याय और वैशेषिक का एक सुप्रशस्त प्रकरण ग्रन्थ है। अपने अनन्य भक्त एव अल्पमति छात्र के अनुग्रह पर इन्होंने ही भाषा-परिक्षेत् कारिकावली पर एव व्याख्या लिखी थी। जैसा इन्होंने स्वयं ही कहा है—

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः
विशदीकरवाणि कौतुकान्नु राजीवदयावशम्बदः ।

यह व्याख्या (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली) के नाम से विद्वत् समाज में सुप्रसिद्ध है। इनका लेखन १७३४ में समाप्त हुआ। ये रघुनाथ शिरोमणि के अनुयायि है। इस वचन के अनुसार १५१०शक (१५८८ई.) में ये व्याख्या लिखी हुई प्रतीत होती है। परन्तु मं.मं.पं. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार १६३४ई. में विश्वनाथ ने न्यायसूत्र वृत्ति का निर्माण किया था।

लौगांक्षिभाष्कर- १७वीं शदी–

ये न्यायवैशेषिक और मीमांसादर्शन के विशिष्ट विद्वान थे। इनके पिता का नाम मुद्गल और पितृव्य का नाम रूद्र था। ये वाराणसी के निवासी थे। इन्होंने न्यायवैशेषिक के एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ की रचना की थी। जो तर्ककौमुदी के नाम से प्रसिद्ध है।

महादेव भट्ट-(१७३० के आसपास)–

नैयायिकाग्रेसरोऽयं महादेवपण्डितों नाविदितो विदितनैयायिक-परम्परायाः कस्या अपि। नैकेषां न्यायग्रन्थानां रचयिता चायं काशीवास्तव्य-

महाराष्ट्रीयं पुणतामकरकुलं व्यभूषयत्। वंशेऽस्मिन् गृहीतजन्मानः शास्त्र-पारम्परामनुतिष्ठन्तः केचन केचन चाननुतिष्ठतोऽपि विराजन्ते अद्यापि "सूतटोला" इति ख्याते काशीनगरैकदेशे डा० बलिराम शुक्लस्य मतानुसारेण महाराष्ट्रप्रान्ते गोदावरीतीरे वर्तमानादत्यन्त मैतिहासिकात् "पुण्यस्तम्भ" इति स्थानात् केनापि कारणविशेषेण काशीं समागतास्तत्रैव च वसति मुरीकृतवन्तः खल्वैतद्वंशीयाः। कथनमिदं तात्त्विकं प्रतिभाति यतो नैकेऽपि महाराष्ट्रीया वंशास्तदा तदा तेन तेन कारणेन तस्मात्तस्मात् स्थानात्समागत्य काश्यां वासमङ्गीकृतवन्तो येषामिदानीं महाराष्ट्रमण्ड़ल-महाराष्ट्रसमजमहाराष्ट्र-भवनप्रभृतयो नैकाः संस्था अपि जीवन्ति समेधमानाः अन्यच्च पुणतामकर इति शब्दः पुण्यस्तम्भकर इत्यस्यापभ्रंश इव प्रतीयते। अत एव Catalagus. Catalogarum. इत्यत्र महादेवपण्ड़ितस्योपनामविषये पुणतामकरः, अथवा पुण्यस्तम्भकर इति स्पष्टतया लिखितं वर्तते। ईदानीं तद्वंशीयैः प्रयुक्त उपाधिस्ततोऽप्यपभ्रष्टः पुणताम्बेकर इति। डा० बलिरामशुक्लेनेद मेवोपनाम विषये पुणतामकरः अथवा पुण्यस्तम्भकर इति स्पष्टतया लिखितो वर्तते।

श्रीशुक्लेन वर्तमानप्रचलितोपनामनुसारेण व्यवहारः कृतः स्यात् कस्मिश्चिद् हस्तलेखविशेषे तथा प्राप्तं वा स्यात्। श्रीमता उमेशमिश्रेणापि स्वसम्पादिते न्यायकौस्तुभे पुणतामकर इ़त्येव व्यवहृतम्। एतद्वंशीयानां प़न्त इत्यप्युपाधिर्वर्तते।

महादेवस्य पिता मुकुन्दः, मुकुन्दपण्डित इत्यादिनाम्ना विख्यात आसीत्। तं स्वतो महादेवः षट्शास्त्रतत्त्वदर्शीत्युक्तवान्; किन्तु स महादेवस्य विद्यागुरुर्नासीदिति तद्वचसैव प्रतीयते—

मुकुन्दं पितरं नौमि षट्शास्त्रतत्त्वदर्शिनम्।
यत्पुण्यपरिपाकेन शास्त्रे गतिरभून्मम।।इति।।

तथा हि-पितुः पुण्यपरिपाको महादेवस्य शास्त्रे गती हेतुः पितुः सत्कर्मर्णः पुण्यस्य वा फलमुपभुञ्जत एव पुत्राः गुरू विषये प्रायशः "यत्कृपातः, यत्प्रसादात्, इत्यादिशब्दा ग्रन्थकृद्भिर्व्यवहृताः समुपलभ्यन्ते। किञ्च स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः इति व्याख्या न क्रमे "एकस्मादेव गुरोः सर्वा विद्या अधिगता इत्येकवचनेन लभ्यते" इति शब्दरत्नवदत्रापि बोध्यम्। यतो महादेवोऽपि गुरुनमस्कारावसरे एकत्वन्न प्रयोक्तव्यं गुरावात्मनि चेश्वरे इति निषेधे व़र्तमानेऽप्येकवचनमेव प्रयुङ्क्ते-

पुरूहूतपुरोहितं सभायां कवितायां किल कालिदासमन्यम्।
निखिलाखिलशास्त्रविद्धुरीणां शितिकण्ठाभिधसद्गुरुं नमामि ।।

सम्भवतो महादेवस्य विद्याध्यनावसरे मुकुन्दपण्डितो जीवितो न स्यात्। कोऽन्यथाषट्शास्त्रतत्त्वदर्शिनि पितरि वर्तमानेऽन्यमुपसर्पेत्; किन्त्वेतत्सर्वं कल्पनामात्रम्।

वस्तुस्थितिस्तु महतानुसन्धानेनावगन्तुं शक्या। इदन्तु सत्यं यद् मुकुन्दपण्ड़ितस्य काऽपि कृतिर्नोपलभ्यते; किन्तु उमेशमिश्रानुसारेण सत्पद्य-मुक्तावल्याः कर्ता महादेवस्य पिता मुकुन्दपण्ड़ित एव।

गुरुशितिकण्ठःदीक्षितः क्वचित् श्रीकान्तदीक्षितः इति नाम्नाऽपि ज्ञायते। अयं सम्भवतस्तत्त्वचिन्तामणेः शितिकाण्ठीयटीकायाः कर्ता स्यात् महादेवस्य वंशवृक्षो निम्नलिखितरूपेण चित्रयितुं शक्यः

नीलकण्ठ पन्तः
|
बालोपन्तः
|
त्रयम्बकपन्तः
|
अनन्तपन्तः
|
मुकुन्दपन्तः
|
महादेवपन्तः (प्रस्तुतग्रन्थ रचयिता)
|
शम्भूपन्तः
|
गणेशपन्तः — गोविन्दपन्तः

गणेशपन्तः
|
सोमनाथपन्तः
|
मुकुन्दपन्तः
|
गङ्गाधरः — महादेवः

महादेवः
|
गणेशः
|
विश्वनाथ; — सखारामः

विश्वनाथ;
|
मुकुन्दः — गङ्गाधरः — गोविन्दः — गोपीनाथः — दामोदरः

महादेवरचितानां हस्तलेखानामाधारेण पं० गोपीनाथकविराज प्रभृतयो विद्वांसो महादेवस्य कालं ख्रिष्टीय-सप्तदशशतकस्यान्तं निर्धारयन्ति। इदं युक्तमेव। यत; महादेवस्य कृतिस्त्वन्तं महत्त्वपूर्णाऽस्ति भवानन्दी प्रकाश:। इयं हि कृतिस्तत्त्वचिन्तामणेर्भबानन्दसिद्धान्तवागीशकृत- भवानन्दीटीकाया व्याख्यानरूपा। भवानन्दस्य कार्यकालौ विविधै: प्रमाणै: १६२५ इशव्या: समीपे मन्यते। अयमेव जगदीशस्य जन्मकालोऽपि मन्यते महादेवस्य लेखनशैल्यां रघुनाथशिरोमणे: पर्याप्तं प्रभांवो दृश्यते। न तु जगदीशस्य न वा गदाधरस्य।

इमौ तेन न पुनाऽपि विशेषतोऽस्मिन् ग्रन्थे चर्चितौ यथा पक्षधर-मिश्र: रघुनाथशिरोमणिप्रभृतयश्चर्चिता: अतो भवानन्दादुत्तरं गदाधरात् पूर्वं जगदीशस्य समकालं किञ्चिदुत्तरं वा महादेवस्य कालो निर्धारयितुं शक्य: किञ्च महादेवस्य पितामहस्य काल: १६५० इशव्या: समीपे निर्धार्यते।

तथैव तत्प्रपौत्रस्य सोमनाथपन्तस्य काल: १७३० इशव्या: समीपे ज्ञायते। अतस्तन्मध्यं वर्तमान: कालो महादेवस्यावश्यमेव भवेत्। प्रस्तुत-ग्रन्थातिरिक्तं महादेवस्य नैके ग्रन्था: समुपलभ्यन्ते तेषु भवानन्दीप्रकाश: दीधितिगूढार्थप्रकाशिका न्याय-कौस्तुभ: सर्वोपकरणी च प्रामुख्यं भजन्ते। तत्र न्यायकौस्तुभ: स्वतंत्रो ग्रन्थ:। भवानन्दीप्रकाशस्तु तत्त्वचिन्तामणेर्भ-वानन्दसिद्धान्तवागीशकृत-भवानन्दीटीकाया व्याख्यानम्। तथैव सर्वोपकरणी अपि भवानन्दीटीकाया एव व्याख्यानम्। किन्तु प्रकाशो विस्तृत: सर्वोपकरणी च संक्षिप्ता।

एतदतिरिक्तमपि तासु तासु ग्रन्थग्रन्थकारसूचीषु महादेवनाम्ना निम्नलिखिता ग्रन्था: समुपलभ्यन्ते—

१. अवच्छेदकत्त्व लक्षण प्रकाश;।
२. उपाधि वाद प्रकाश:।
३. ज्ञप्ति रहस्यम्।
४. तर्कग्रन्थ प्रकाश:।
५. व्याप्तिग्रहोपायपूर्वपक्ष प्रकाश:।
६. व्याप्ति पूर्वपक्ष प्रकाश:।
७. व्याप्त्यनुगम प्रकाश;।
८. सहचार ग्रन्थ प्रकाश;।

९. सामान्य लक्षणापूर्वपक्ष प्रकाश:।
१०. सामान्य भाव प्रकाश;।
११. पदार्थ प्रकाश भाष्यम् (लौगाक्षिभास्करकृत पदार्थ प्रकाशस्य)
१२. मितभाषिणी न्यायवृत्ति।
१३. अनुमान लक्षणम्।
१४. अनुमान स्वरूप निर्णय;।
१५. अनुमिति प्रकाश:।
१६. अनुमिति लक्षण प्रकाश:।
१७. अनुमिति परामर्श: विचार:।
१८. अनुमिति सङ्गति प्रकाश;।
१९. अवयव ग्रन्थ टीका।
२०. अवयव ग्रन्थ रहस्य टीका।
२१. असिद्धि पूर्वपक्ष प्रकाश:।
२२. असिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाश:।
२३. आत्मत्व जाति विचार:।
२४. आत्म वाद:।
२५. ईश्वर वाद:।
२६. उपनय लक्षण प्रकाश:।
२७. उपाधि ग्रन्थ टीका।
२८. उपाधि पूर्वपक्ष प्रकाश:।
२९. उपाधि सिद्धान्त ग्रन्थ।
३०. कुटघटित लक्षण प्रकाश;।
३१. कुटघटित कुटाघटित लक्षण प्रकाश:।
३२. कुटाघटित घटित लक्षण प्रकाश:।
३३. केवलान्वयी ग्रन्थ: प्रकाश:।
३४. चक्रवर्तिलक्षण प्रकाश:।
३५. तृतीय मिश्रलक्षण प्रकाश:।
३६. द्वितीय चक्रवर्ती लक्षण प्रकाश;।
३७. द्वितीय मिश्र लक्षण प्रकाश:।
३८. नव्यानुमिति कार्य कारण भाव विचार:।

३९. पक्षता ग्रन्थः।
४०. पक्षता पूर्वपक्ष प्रकाशः।
४१. पक्षता विचारः।
४२. पक्षता सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशः।
४३. पञ्चलक्षणी प्रकाशः।
४४. परामर्शपूर्वपक्ष प्रकाशः।
४५. परामर्श सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशः।
४६. पुच्छ लक्षण विचारः।
४७. पूर्वपक्ष ग्रन्थ;।
४८. पूर्वपक्ष ग्रन्थ प्रकाशः।
४९. प्रगल्भ लक्षण प्रकाशः।
५०. प्रतिज्ञा लक्षण टीका।
५१. वाध पूर्वपक्ष ग्रन्थ प्रकाशः।
५२. वाध सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशः।
५३. विधिवादः।
५४. विशेष निरूपण प्रकाशः।
५५. व्यधिकरण धर्मावच्छिन्ना भाव प्रकाशः।
५६. व्याप्तिवाद प्रकाशः।
५७. सङ्गति प्रकाशः।
५८. सत्प्रतिपक्ष पूर्वपक्षग्रन्थ प्रकाशः।
५९. सव्यभिचार सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशः।
६०. सहचार ग्रन्थ प्रकाशः।
६१. साजात्य लक्षण प्रकाशः।
६२. सादृश्यवादः।
६३. सिंह व्याघ्र लक्षण प्रकाशः।
६४. सिद्धान्त लक्षण प्रकाशः।
६५. स्वलक्षण प्रकाशः।
६६. हेतुलक्षण टीका।
६७. हेतुलक्षण प्रकाशः।

एषु केचन स्वतन्त्रा ग्रन्थाः। केचन च भवानन्दीप्रकाशस्यांशभूताः।

यतः स्वयं रचयित्राऽस्य ग्रन्थस्यैकस्मिन् स्थलविशेषे प्रोक्तम्-"प्रकारान्तरञ्चा-स्मत्कृतभवानन्दीप्रकाशानन्तरं **रचितस्तद्भिन्नम्** एवेति प्रतीयते। ग्रन्थोऽय-मनुमिति परामर्शयोः कार्यकारणभावं वैशद्येन चर्चयन्नत्यन्तं गभीरो विवेचनापरो गभीरविषयोऽपि विवेचनापद्धतिमहिम्ना सारल्यमुपगतौ नैकत्र नोक्तपूर्वामपि विचारसन्ततिं प्रनस्तुवन् नव्यन्यायक्षेत्रे किमपि वैशिष्ट्यपूर्णं स्थानमावहति। शैली खल्वस्य सरला स्पष्टा च। वाक्यप्रयोगे विशेषतो गीर्वाणगुरूणा-मप्यशक्यमित्यादि गर्वोक्तो प्रयुञ्जानो।

पं० कैलाश चन्द्रशिरोमणि (आस्पद भट्टाचार्य उपाधि-महामहोपाध्याय)-

इनका जन्म बंगाल के धार्त्री नामक गॉव जो वर्धमान जिले में पड़ता था १७५२ शकाब्द (तदनुसार सन् १८३०ई.) में हुआ था। आपके पितामह का नाम भवनाथ तर्कपञ्चानन था। तथा पुत्र (सार्वभौम)-संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्हीं के पुत्र का नाम कैलाशचन्द्र शिरोमणि था। शिरोमणि के माता का नाम आदरमणि देवी था; जो सती साध्वी एवं पतिपरायणा स्त्री थी। घनस्याम सार्वभौम भगवान शिव के परम उपासक थे। भगवान शिव के कृपा से ही उन्हें कैलाशचन्द्र शिरोमणि जैसे पुत्र की प्राप्ति हुई।

कार्यक्षेत्र–पॉच वर्ष की अवस्था में ही गाँव मे इनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ हुइ। कुछ ही समय बाद ये अपनी मातृभाषा बंगला में प्रवीण हो गये। आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। ब्रह्मचर्य धर्म का पूर्णरूप से पालन करने के कारण इनके अद्भूत शक्ति का स्फुरण हुआ। अपने पितृव्य पं० जनार्दन तर्कवागीश के पास रहकर संस्कृत, व्याकरण कोश तथा काव्य में अतिगम्भीर व्युत्पत्ति प्राप्त की। १८ वर्ष की अवस्था में ये न्याय शास्त्र के क्षेत्र में पदार्पण किये। न्याय के क्षेत्र में इनका प्रारम्भिक अध्ययन देवीपुर गाँव से हुआ। इन्होंने देवीपुर गाँव में ही कणाद के नवीन अवतार हरचन्द न्यायवागीश का शिष्यत्व स्वीकार किया उस समय इनकी आयु लगभग ८० साल की थी। अपने गुरुवर के चरणों में रहकर ही न्याय-शास्त्र के सामान्य निरुक्ति तक अध्ययन किया। पुन; ये घर लौट आये परन्तु न्यायशास्त्र के गम्भीर अध्ययनार्थ इन्होंने नवद्वीप में पदार्पण किया। नवद्वीप के प्रधान नैयायिक पं० गोलोकनाथ न्यायरत्न का बहुत प्रकरण था। न्याय शास्त्र में इनकी

महत्ता प्रख्यात थी। इनके ख्याति का कारण अनेक ग्रन्थों का सम्पादन एवं निर्माण हुआ था। ये केवल चार महीने ही उनसे न्याय शास्त्र का अध्ययन किये थे-तभी इनके गुरु का देहान्त हो गया। उनके निधन के पश्चात् ये अत्यन्त ही खिन्नमनस्क रहने लगे। परन्तु न्याय-शास्त्र के अध्ययन की लालासा इन्हें कचोटती रही। इसलिये पुनः नवद्वीप जाकर पं० प्रसन्न चन्द्र तर्करत्न के सम्पर्क में न्याय-शास्त्र के चूड़ान्तग्रन्थों का अध्ययन किया। जहाँ पर विद्वद्जनों ने परिक्षित कर इन्हें (शिरोमणि) पदवी से अलंकृत किया। नवद्वीप में अध्ययन समाप्त कर ये पुनः गाँव लौट आये एवं गाँव में ही न्याय का एक पाठशाला खोलकर अध्यापन करने लगे। तीन वर्षों तक इन्होंने अध्यापन कार्य किया। जब इनके बड़े भाई आई. एस की परीक्षा उत्तीर्ण कर पद का कार्य सम्हालने वाले थे-तभी इनकी असामविक निधन हो गयी। इस भीषण वज्रपात हो जाने के कारण इनकी माता जी गंगा नदी में कूद कर आत्महत्या कर ली। इस घटना के बाद शिरोमणि जी का मन इस संसार से उचट गया, और ये अपने दो शिष्यों के साथ घर से निकल गये। ये अपने गाँव के पास ही के गाँव देवीपुर के निवासी राजकृष्ण सिंह जी; जो अत्यन्त सम्पन्न थे-उनके सम्पर्क में आये जो पटना में रहते थे-परन्तु उनको वहाँ न पाकर-उन्हीं की खोज मे मुंगेर चले गये। परन्तु कहीं भी उनसे भेंट न होने पर वे निराश होकर काशी चले आये। इनके दोनों शिष्यों का नाम १-तारणीचरण न्यायचन्द्र और २-वरदराजाचार्य न्यायचन्द्र था। काशी में भी इनका कोई परिचित नहीं था। उसी समय दशाश्वमेघ घाट के पास स्थित चौसठ्ठी घाटपर स्थित विशुद्धानन्द जी के आश्रम में इन्होंने डेरा डाल दिया। जब इनके दोनों शिष्य सामान खरीदने जा रहे थे तभी उनकी भेंट पं० वैकुण्ठ नाथ न्याय-रत्न से हुई। इन लोगों ने जब काशी आने का कारण बैकुण्ठ नाथ को बतलाया तो उन्होंने शिरोमणि जी से अगस्तकुण्ड़ स्थित पं० रामदास भट्टाचार्य जी के घर चलने का आग्रह किया। जो उनके पिता के विद्यार्थी थे। परन्तु इन्होंने किराये का मकान लेकर उसी मकान में पाठशाला खोल दिया। इनके अध्यापन की विशेषता थी कि ये-शुष्क विषय को भी सरस शैली में पढ़ाते थे। अध्यापन करते समय इनका सम्पर्क पं० अच्युतानन्द परिव्राजक से

हुआ। जो वेदान्त शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने शिरोमणि जी से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। एवं शिरोमणि जी ने अच्युतानन्द जी से वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया। अतः न्याय के साथ साथ ये उसी समय इनके विद्वत्ता की चर्चा चतुर्दिक् होने लगी। उसी समय गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस में म.म.प. वासुदेव शास्त्री ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष थे। पं० वासुदेव शास्त्री जी इनके अगाध प्रतिभा से प्रभावित होकर तत्कालीन प्रिंसिपल से इनकी प्रशंसा कर शिरोमणि जी को गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में न्याय-शास्त्र के एक रिक्त पदपर प्रतिष्ठापित करा दिया। यद्यपि इस कालेज के सभी शिक्षकों को मात्र ३० रू० वेतन मिलता था। परन्तु शिरोमणि जी के विद्वत्ता के कारण इन्हें ४० रू० वेतन के रूप में मिलता था पहले इन्हें केवल ३ महीने के लिये रखा गया था। परन्तु बाद में स्थाई रूप से इन्हें नियुक्त कर लिया गया। ३९ वर्षों तक इन्होंने अध्यापन कार्य किया। इनके विद्वता से परिचित होकर ब्रिटिश सरकार ने सन् १८९६ ई. में महामहोपाध्याय की उपाधि इन्हें प्रदान की।

साधारणतया सरकारी कर्मचारियों के सेवानिवृत्ति का काल ५५वर्ष उस समय निर्धारित था। परन्तु ७७वर्ष तक के वय तक ये कालेज में अध्यापन का कार्य करते रहे। जब ये पैदल चलने में असमर्थ हो गये तब ये पालकी पर बैठकर जाया करते थे। डा० वेनिश इन्हें किसी भी शर्त पर मुक्त करना नहीं चाहते थे।

इनके जीवन की एक घटना यह है कि ७५ की अवस्था पारकर जब ये अध्यापन कार्य कर रहे थे। उसी समय तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर जनरल लाट साहब आये थे। उन्होंने डा. वेनिस से इनके रिटायर न होने का कारण पूछा तब डा. वेनिस ने बताया कि-ये बहुत बड़े विद्वान हैं। इनके द्वारा इस कालेज की शोभा है। इस बात को सुनकर लाट साहब अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और समुचित उत्तर देकर चले गये। इनके पाँच पुत्र और एक पुत्री थी। १-पं० राजवल्लभभट्टाचार्य २-मुकुन्दबल्लभ भट्टाचार्य ३-आशुतोष भट्टाचार्य ४-सदानन्दभट्टाचार्य ५-नित्यानन्द भट्टाचार्य। इनमें से प्रथमपुत्र की मृत्यु इनके जीवन काल में ही हो गयी थी।

इनके शिष्यों में—चार प्रमुख शिष्य हुए म.म. प्रमथनाथ तर्कभूषण २-म.म. आदित्यराम भट्टाचार्य ३-म.म. पं० वामाचरण भट्टाचार्य ४-म.म. लक्ष्मण शास्त्री द्रविण इनमें प्रथम दो विद्वानों का कार्यक्षेत्र काशी था। एवं प्रमथनाथ तर्कभूषण जी कलकत्ता संस्कृत कालेज प्रतिष्ठित अध्यापक थे। तथा म.म. आदित्यराम भट्टाचार्य इलाहाबाद के म्योर संस्कृत कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे।

इसके अतिरिक्त इनके शिष्य परम्परा में अन्य लोग थे—१-स्वामीनिष्यानन्द २-म.म. गुरुचरण तर्कदर्शनतीर्थ ३-वीरशैव मठ के अधिपति पं० शिवलिङ्ग स्वामी ४-यादवेश्वर तर्करत्न ५-सुरेन्द्र लाला गोस्वामी ६-म.म. विन्धेश्वरी प्रसाद द्विवेदी ७-पं० रामशास्त्री भागवताचार्य और ८-म.म. डा० सतीशचन्द्रविद्याभूषण जो आगे चलकर संस्कृत कालेज कलकत्ता में प्रिंसिपल थे। इन्होंने ही (ए हिन्दी आप इण्डियन लाजिक) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की।

कृति–इन्होंने न्याय-भास्य पर एक टीका लिखी थी जो दुर्भाग्य से आज अप्राप्य है। देवी देवताओं के विषय में भी एक स्त्रोत की रचना की। इन्होंने न्याय-शास्त्र के जटिल विषयों को सरल संस्कृत भाषा में अनुवाद कर एक प्रबन्ध की भी रचना की थी। इनके विषय में यह प्रशंसा की जाती है; जो निम्नलिखित है—

दुर्वोधान्बहुलप्रकारजटिलान् नैयायिकानां वचो-
विन्यासान् गमयत्यझटिति तद्बोधं च सम्पादयन्।
प्रौढ़िकामपि दर्शयत्यनुपमां शास्त्रे श्रमं निस्तुले,
श्रीमत्तार्किकपुङ्गवस्य सततं कैलाशचन्द्रात्मनः।।

काशी में म.म.म. दामोदर शास्त्री का मैथिल विद्वान् (पं० बच्चा झा) से अलौकिक तथा ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ। जिसमें पं० शिवकुमार शास्त्री जी के साथ शिरोमणि जी भी उपस्थित थे। उस समय केवल न्याय और व्याकरण पर ही शास्त्रार्थ हुआ। अतः न्याय के विषय में जब भी शास्त्रार्थ होते थे, ये बड़े ही आदर के साथ आमन्त्रित किये जाते थे। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्र लाला गोस्वामी भी इनके लब्धकीर्ति शिष्य थे। सुरेन्द्र लाल गोस्वामी जी को तर्कतीर्थ के नाम से जाना जाता था। जो न्यायशास्त्र के प्राध्यापक थे। इन्होंने (तर्कभाषा) की (न्याय प्रदीप)

नाम्नी व्याख्या का सम्पादन किया था। जिसकी भूमिका में इन्होंने न्याय के विषय में अनेक ऐतिहासकि तथ्यों का विवरण दिया है।

इनके व्यक्तित्व का परिचायक यह श्लोक द्रष्टव्य है—

वङ्गेषु लब्धजन्मा शिवपुरिसम्प्राप्तभूरितरशर्मा।
कैलाशचन्द्रशर्मा जयति शिवात्मा स सत्कर्मा।।

इनके विद्वत्ता का परिचय इसी से प्राप्त होता है कि इनके मृत्यु के पश्चात् काशी की जो दशा हुई वह निम्न है—

विद्वत्कोककुलं सशोकमभवद्; दुःखान्धकारोच्चयः
सर्वत्रैव कृतास्पदः परपदं कैलाशचन्द्रे गते।।
तर्कव्याकृतिकौशलं निरुपमं तत् प्रातिभोट्टङ्कनम्।
धर्मे सा दृढ़ता च सर्वमगमत् तेनैव साकं किमु।

इस प्रकार श्री शिरोमणि जी गत शताब्दी के उत्तरार्ध में काशीस्थ विद्वानों में अपनी तर्क निपुणता, नव्य-न्याय में अलौकिक वैदुष्य के कारण तथा अपने निर्मल सदाचारी जीवन के द्वारा अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। शिरोमणि शब्द इनके नाम का अंश न होकर नवद्वीप के तार्किक विद्वान् के द्वारा प्रदत्त था। यद्यपि इनका जन्म बंगाल में हुआ था। परन्तु इनकी शिक्षा दीक्षा नवद्वीप में हुई। इनके विद्वत्ता का प्रसार प्रचार काशी में हुआ। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि-नव्य-न्याय के महनीय गद्दी को सुशोभित करने वाले नैयायिकों में ये अग्रमण्य हैं।

पं० चन्द्रनारायण न्याय पञ्चानन–१७७३ई.–

ये बंगीय नैयायिक थे। बंगाल के फरीदपुर मंडल के धानुका गाँव में इनका जन्म हुआ था। माता का नाम सुख्या देवी था एवं पिता का नाम कृष्णजीवन न्यायालङ्कार। अपने पिता जी के द्वारा इन्होंने कलाप व्याकरण पढ़ा। तत्पश्चात् इन्होंने न्यायशास्त्र पर गम्भीर अध्ययन किया। न्याय शास्त्र की शिक्षा भी इन्हें अपने पिता द्वारा प्राप्त था। काशी के विद्वान नैयायिक राजनाराण तर्क-सिद्धान्त के आग्रह पर काशी आकर अपने पाण्डित्य का सिक्का जमा लिये। १८१३ई. में काशी के संस्कृत कालेज में न्याय के अध्यापक पद पर नियुक्त हुए। २० वर्षों तक इन्होंने इसपद पर अध्यापन कार्य किया। इनके आरम्भिक शिष्यों में हरिनारायण तर्कालङ्कार तथा स्वर्गीय ज्येष्ठ आत्मज राधाकान्त शिरोमणि अन्यतम

थे। १८२५ई. मे कालेज के अध्यक्ष ने इनका मासिक वेतन ६०रू० से बढ़ाकर ८०रू० कर दिया। जिससे इनके विद्वत्ता का प्रमाण प्राप्त होता है। तत्पश्चात् इन्होंने न्याय के क्रोड़पत्र का निर्माण किया। जिसका प्रचार कालेज के मैथिल तथा दक्षिणात्य छात्रों में पहली बार होने लगा। इनका एक पुस्तकालय भी था। जिसमें ५०० पुस्तकें विद्यमान थी। इनके ही वरिष्ठ शिष्य कालिशङ्कर शिरोमणि भट्टाचार्य भी न्याय के अध्यापक पद पर आसीन थे। गुरु और शिष्य दोनों ही न्याय के अध्यापक थे। न्यायशास्त्र के क्षेत्र में शास्त्रार्थ के लिये इन्होंने क्रोड़पत्रों का निर्माण किया। काशी के ही पं० अहोबल शास्त्री से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के कारण चन्द्रनारायण जी पेशवा अमृतराव के सम्माननीय व्यक्ति बन गये। पेशवा का काल अन्तिम पेशवाओं से सम्बन्ध रखता है। अमृतराव पेशवा ने १८०७ ई. में काशी में रामघाट के पार्श्ववर्ती अग्नीश्वर घाट में-अमृतविनायक-मन्दिर का निर्माण किया।

अमृतराव पेशवा विद्वानों का अधिक सम्मान करते थे। तथा शास्त्रार्थनुरागी थे। एक बार उन्हीं के दरबार में अहोबल शास्त्री पं० चन्द्रनारायण तर्करत्न से शास्त्रार्थ हुआ। जो तीन दिन तक चला अन्त में विजयश्री का वरदान न्यायपञ्चानन जी ने वरण किया। पेशवा ने इनका सर्वोत्कृष्ट आदर किया तथा इन्हें सम्मानित करते हुए पालकी द्वारा घर भेजा। पेशवा के मृत्यु के अनन्तर ८ वर्षों के अन्तराल में इनका निधन हो गया। निधन के समय इनकी आयु ६० वर्ष की थी। यदि इनके निधन को ६० साल की अवस्था में स्वीकार किया गया है तो इसी आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि १७७३ में ही इनका जन्म हुआ होगा।

पं० राखालदास न्यायरत्न (आस्पदभट्टाचार्य-उपाधि-महामहोपाध्याय)–

इनका जन्म बंगाल के चौबीस परगना जिले के अन्तर्गत (१२३६ बंगाब्द) (१८२९ ई.) के भाद्रपद में जन्म हुआ। ये पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० सीताराम विद्याभूषण था तथा माता का नाम निर्मला देवी था। इनके पिता स्मृतिशास्त्र के मर्मज्ञ थे। इनका कुटुम्ब आध्यात्मिक साधना व विद्या के लिये अत्यन्त ही प्रसिद्ध था।

इनका अक्षरारम्भ पाँच वर्ष की अवस्था में माँ दुर्गा के नाम से हुआ। जीवन भर ये इस नाम को भूल नहीं पाये। व्याकरण की शिक्षा इन्होंने जयराम सार्वभौम से प्राप्त की। उन्नीस वर्ष की अवस्था में भट्टपल्ली के ही प्रसिद्ध नैयायिक पं० यदुनाथ सार्वभौम से इन्होंने न्यायशास्त्र की विधिवत शिक्षा प्राप्त की। थोड़े ही दिनों न्याय-शास्त्र के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा चारों तरफ फैल गइ। उस समय भट्टपल्ली के ही अत्यन्त वृद्ध नैयायिक पं० हलधर तर्कवागीश (तर्कचूड़ामणि) ने इनके नैयायिक पटुता को स्वीकार करते हुए कहा कि मेरे बाद यदि भट्टपल्ली के कीर्ति को स्थापित करेगा तो वह एकमात्र राखालदास न्यायरत्न ही स्थापित करेगा। उन्तीस वर्ष के अवस्था में ही ये न्याय रत्न की उपाधि से विभुषित किये गये।

हथुवानरेश महाराजा कृष्णप्रतापशाही लक्ष्मी के साथ साथ सरस्वती के भी समुपासक थे। अर्थात् वे विद्वानों का सम्मान करते थे। काशी के अनेक विद्वानों को वे मासिक वृत्ति देकर अपने गुण ग्राहिता का परिचय देते थे। न्यायरत्न जी को जब उन्होंने काशी के लिये आमान्त्रित किया तो उन्होंने अपनी असमर्थता प्रगट की। अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे पास भत्ता नहीं है। उनके आर्थिक जिम्मेदारी को काशी में रहने के लिये जब हथुवा नरेश ने स्वीकार कर लिया तो वे बंगाब्द १८९३ ई. के फाल्गुनमास में ६४ वर्ष की अवस्था में काशी चले आये। अपने जीवन के अन्तिम २१ वर्षों को आपने काशी में ही व्यतीत किया। इनकी न्यायशास्त्र में विशेष उपलब्धि थीं। इनके शिष्यों में पं० दामोदर लाला शास्त्री अग्रगण्य हैं। पं० दामोदर लाल शास्त्री नैयायिक होने के साथ साथ साहित्यिक भी थे। उन्होंने स्वयं ही लिखा था कि-अभी अनुमान खण्ड का कुछ अंश शेष ही था कि-एक दुर्घटना ने अध्ययन की इच्छा समाप्त कर दी। पुनः काशी आकर ये भजन पूजन में तल्लीन हो गये। न्यायरत्न जी के सुयोग्य पुत्र की मृत्यु इनके हृदय को अत्यन्त ही व्यग्र कर दिया। (१३३१) बंगाब्द= (१९१४) ई. के अगहन मास में काशी में ही ये परलोक गमन किये।

इनके परिवार में भी विद्वत्ता की कमी नहीं थी। इनके अनुज (पं० ताराचरण तर्करत्न) काशीराज (ईश्वरी नारायण सिंह) के प्रधान पुरोहित

(विद्वान) थे। इन्होंने दयानन्दसरस्वती से भी वेद पर शास्त्रोर्थ किया था। इन्हीं के पुत्र प्रमथनाथ एवं इनके अनुज ताराचरण-इन दोनों में शास्त्र विषयक हास परिहास भी होते थे।

श्री ताराचरण जी अपने भाई राखालदास न्यायरत्न जी से कहा करते थे कि-तर्करूपी कुदाल के द्वारा अपनी प्रज्ञा भूमि को आपने उर्बर बना दिया। परन्तु उसमें वेदान्तरूपी बीज को अभी तक नहीं डाला। इसलिये वह भूमि आज भी वन्ध्या है। राखाल जी को यह बात बुरी नही लगती थी। बल्कि वे कहते थे कि एक दिन अवश्य ही इस प्रज्ञाभूमि के बीजारोपण का महोत्सव होगा।

यद्यपि न्यायरत्न जी शुद्ध नैयायिक थे। परन्तु इनकी मुलाकात केदारघाट स्थित पं० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री से हुई जो अद्वैत वेदान्ती थे। इन दोनों विद्वानों में जमकर शास्त्रार्थ हुआ। राखालदास जी अपने तिक्ष्ण बुद्धि के आधार पर उनके मत को खण्डित कर नवीन युक्तियों का एक व्युह खड़ा कर दिया जिससे स्वामी जी निरुत्तर हो गये-परन्तु राखालदास जी जब उनके तरफ देखे तो उन्हें यह लगा कि श्री स्वामी जी अत्यन्त ही दु;खी हैं। उन्हें अपने अहंकार पर अत्यन्त ही ग्लानि हुई तथा स्वामी जी से उन्होंने माफी माँगते हुए कहा कि विद्या के अहंकार में मैंने आपका बहुत अपमान किया-आप मुझे माफ कर दीजिये। श्री सुब्रह्मण्यम् स्वामी ने कहा कि आप ने मेरा क्या अपमान किया। आपने तो उन आचार्यों के सिद्धान्तों व विचारों को अपमानित किया; जिनका प्रतिपादन मैं करने जा रहा था। मुझे इस बात का कष्ट है कि-आपने इन शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन नहीं किया। अत: आप अधिक नहीं तो मेरे ख्याल से वेदान्त चतुष्पदी अथवा चतु:सूत्री का अध्ययन करके देखें। यदि आप वास्तव में इन शास्त्रों का अध्ययन करेंगे तो आपका कथन नि:सार अथवा प्रमाणहीन होगा।

पं० राखालदास जी ने बात को स्वीकार कर ली। श्री शास्त्री जी स्वयं ही उन्हें शाङ्कर भाष्य की पोथी उन्हें लाकर दे दी। शाङ्कर-भाष्य का अध्ययन करने के उपरान्त इनमें एक अजीब परिवर्तन हुआ। वे शास्त्री जी के पास गये और कहे कि सचमुच मैं गलती पर था। सममुच उपनिषद् तथा वेदान्त का परिनिष्ठित मत ही अद्वैतवाद है। अत: वे जब

तक जीये तबतक अद्वैत तत्त्व का ही चिन्तन करते रहे। ये दोनों ही नव्य-न्याय के पारंगत विद्वान थे। इन दोनों ही विद्वानों ने नव्य-न्याय के शिक्षा का प्रचार प्रसार काशी में किया। एवं गणमान्य शिष्यों को तैयार कर न्याय-विद्या को आगे बढ़ाया।

कृति—१८८७ ई. में राखालदास न्यायरत्न को महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त हुई थी। ये विद्वान होने के साथ साथ कवि भी थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—

१. तत्त्वसार।
२. अद्वैतवाद खण्डन।
३. गदाधर न्युनतावाद।
४. शक्तिवाद रहस्य।
५. दीधित्तिकृत न्युनतावाद।
६. मायावाद-निरास।
७. विविध-विचार।
८. कवितावली।
९. विधवोद्वाह खण्डनम्।

न्यायरत्न जी बड़े ही प्रौढ़तार्किक तथा काल्पनिक थे कल्पना को तात्पर्य यह है कि-ये न्याय के क्षेत्र में नई नई युक्तियों का सहारा लेते थे अपने नवीन युक्तियों के आधार पर ही ये शिरोमणि एवं अन्य नैयायिकों के प्रतिभासम्पन्न विद्वानों में त्रुटियों को दिखलाने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार इनके तर्क का साक्षात्कार पद पद में प्राप्त होता है।

पं० वामाचरण भट्टाचार्य–जन्म, समय तथा शिक्षा–

इनका जन्म प्रसिद्ध नगरी काशी में हुआ आश्विनशुक्ल चतुर्दशी शकाब्द १८०१ (सन् १८८०) में हुआ था। इनके माता का नाम शारदा सुन्दरी एवं पिता का नाम काशीप्रसाद भट्टाचार्य था। ये अपने माता पिता के बड़े पुत्र थे। इनके तीन भाई एवं दो बहने थी। इनका विवाह बंगाब्द १३०२ (सन् १८९५ ई.) सौर फाल्गुन २३ बृहस्पतिवार को हुआ था।

न्यायशास्त्र की उच्चतम शिक्षा इन्होंने संस्कृत कालेज में न्याय विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत कैलाशचन्द्र शिरोमणि के द्वारा प्राप्त

किया। श्री शिरोमणि जी न्यायशास्त्र का अध्ययन नवद्वीप के प्रधान विद्वान न्यायाचार्य पं० गोलोकनाथ शिरोमणि से प्राप्त की। वामाचरण जी पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि के प्रधान शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के प्रेरणा से ही न्याय-शास्त्र का अध्ययन आद्योपान्त रूप से किया। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज से इन्हें (न्याय वैशेषिकाचार्य) की उपाधि प्राप्त हुई। अध्ययन के उपरान्त इनकी नियुक्ति नगर के मुहल्ले में स्थित रूईया पाठशाला में हुई थी। जहाँ इन्होंने अनेक वर्षों तक अध्यापन कार्य किया। इसके पश्चात् सन् १९०५ में पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि के अध्यक्षता में ही ये संस्कृत-कालेज में न्याय-शास्त्र के अध्यापक पद पर नियुक्त हुए वहीं पर सन् १९०७ ई. में शिरोमणि जी के अवकाश ग्रहण करने पर न्याय शास्त्र के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया, मात्र (२६) वर्ष की अवस्था में ही ये विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए। तथा २४ वर्षों तक बने रहे।

श्री भट्टाचार्य जी का व्यक्तित्व–

ये अद्वितीय तर्ककुशल नैयायिक थे। नैयायिकों में जो स्थान कैलाशचन्द्र शिरोमणि जी का था। वही स्थान उनके पश्चात् श्री वामाचरण भट्टाचार्य जी का था। नव्य-न्याय के क्षेत्र में जितनी क्षमता शिरोमणि के प्रधान शिष्य वामाचरण जी में था उतनी क्षमता अन्य किसी में नहीं था।

इनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही भव्य था। तपस्वी वेश में ही ये गवर्नमेण्ट कालेज में अध्यापन के लिये जाया करते थे। इन्होंने अपने जीवन में कभी सिला हुआ वस्त्र धारण नहीं किया, इनका वाह्यं एवं आभ्यन्तरिक दोनों जीवन सादगी पूर्ण था। अध्ययन और अध्यापन के अलावा इनकी कोई वृत्ति नहीं थी। इनका वेतन इनके भाई स्वीकार करते थे। इन्होंने अपना वेतन कभी अपने हाथ से नहीं छुआ। ये घर के झंझटों से सर्वदा दूर रहा करते थे। सामवेद विद्यालय रामघाट में गणेसोत्सव के अवसर पर शास्त्रार्थ के लिये जो सभा होती थी। उस सभा में ये जाकर न्याय सम्बन्धी समस्याओं पर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते थे। न्याय सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर जब वे लोगों से जानना चाहते थे; तो कोई उनके प्रश्नों का उत्तर दे नहीं पाता था। तब वे स्वयं ही उन प्रश्नों का समाधान कर देते थे। उनके विषय की सत्यता को निम्नश्लोक द्वारा हम प्रगट कर सकते हैं—

मधुरैवशानि लम्भयन् अपि तिर्यञ्चिशमः निरीक्षिते।
परितः पटुविभ्रदेनसीं दहनं धामविलोकनक्षमम्।।

अर्थात् जिस प्रकार व्यास जी मनुष्यों को कौन कहे चंचल पशु पक्षियों को भी अपने मधुर निरिक्षण के द्वारा शान्ति प्रदान करते थे। उनके तेज से समस्त पाप का खंण्डन एवं स्नेहिल दृष्टि द्वारा सभी को शान्ति मिलती थी। एक विद्वान में जो गुण होना चाहिये श्री वामाचरण उन सभी शुभ गुणों से सम्पन्न थे। उनके शुभ लक्षण निम्नलिखित हैं—

"नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिः स्यात् श्रुतधारिणी।
संशयोच्छेदनैः शिष्यहिताधानार्थ-दर्शने।
वर्ण्यते चित्तसंतोषाद् विदग्ध-व्यवहारतः।।"

ये अत्यन्त ही शान्त स्वभाव के थे। इनके शिष्यों का कथन था कि-कभी भी गुरुजी को हमने गुस्से में नहीं देखा। इनका जीवन त्याग एवं तपोमय था। इन्होंने अपने जीवन में भक्तिरस को महत्व दिया। अग्निहोत्री ब्राह्मण होने के कारण अग्नि के परिचर्चा में ही ये निमग्न रहते थे। शास्त्रार्थ के अवसर पर भी पक्ष और विपक्ष का निर्णय ये न्याय के द्वारा करते थे। ये योगाभ्यास के भी प्रेमी थे। हिन्दी और बंगला इनकी प्रमुख भाषा थी।

कृति—इनके पास स्वयं ग्रन्थ-रचना करने के लिये समय नहीं मिलता था। इनका समय अध्ययन अध्यापन में ही चला जाता था। जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा विरचित जागदीशी-अवच्छेदकत्वनिरुक्ति नाम से मनोरमा टीका का उल्लेख श्री वामाचरण के नाम से ही प्राप्त है। इनकी एकमात्र कृति तत्कालीन कशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिंह द्वारा रचित रचनाओं के द्वारा "पार्थपाथेयम्" नामक उल्लाप्य की भूमिका है-जिसे इन्होंने स्वयं लिखा है। काशीनरेश के हृदय में इनके प्रति बहुत समादर थी। काशीस्थ विद्वद्गण भी इनमें श्रद्धा रखते थे। "पार्थ पाथेयम्" की भूमिका में श्री वामाचरण जी ने नाटक के गुण दोषों का सम्यक् विवेचन किया है। इनके साहित्य सम्बन्धी विद्वत्ता का परिचय महाराजा के स्तुति में विरचित दो श्लोकों के माध्यम से व्यक्त होता है। जो अधोलिखित है—

यः साहित्यकलाविलासविपिने मञ्जुध्वनिः कोकिलो,
वेदान्तादिगभीरतत्त्वजलधौ मग्नो महाग्राहकः।

विद्वद्भिर्विविधागमाटवि मुहुः सञ्चार-पञ्चाननै-
र्यत्संसद् गुरुभूषणामपि सुधर्माणं हसत्यन्तरा।।
योऽसौ सत्तपसां निधिः प्रतिनिधिर्विष्णोर्धरा रक्षणे;
श्रौताचार-पथप्रचारण-विधानुद्यद्विवस्वानिव ।
यत्कारूण्य-कथा-विलास सुभगां पुष्टिं दधानां चिरम्;
विद्याकल्पलतां सतां नयनयोरानन्दमासिञ्चति।

इनके परिवार में इनके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम गोपालचन्द न्यायाचार्य था। जो दिवंगत हो गये। ये काशी में ही किसी विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे। इनके दूसरे पुत्र का नाम शिवानन्दन न्यायाचार्य था; जो राची (बिहार) के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में अध्यापक के पद पर आसीन है। इनके शिष्यों में प्रधान रूप में (१) पं० राजराजेश्वर शास्त्री द्रविणा (२) पं० शिवदत्त मिश्र (३) वामाचरण तर्कतीर्थ जो छोटे वामाचरण के नाम से प्रसिद्ध हैं। (४) सूर्यनारायण शुक्ल जो (गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में) व्याकरण के अध्यापक थे। (५) नेपाल के राजगुरु खगेन्द्र नाथ पाण्डेय (६) महामहोपाध्याय कुञ्जविहारी तर्कतीर्थ (७) महामहोपाध्याय श्रीसतीशचन्द्रविद्याभूषण (८) महामहोपाध्याय पं० रमेशचन्द्र तर्कतीर्थ आदि। इन शिष्यों के आधार पर भी इनके गुरु का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार न्याय-शास्त्र में लोकातीत वैदुष्य तथा विशाल कीर्ति अर्जित कर मं.मं. वामाचरण भट्टाचार्य ने बङ्गाब्द (१३३७) सौर चैत्र (७) शनिवार तदनुसार चैत्रशुक्ल तृतीया मार्च २१ सन् १९३१ ई. को शिवत्व प्राप्त किया।

पं० फणिभूषण तर्कवागीश १८७६ (जन्म समय)– (आस्पदभट्टाचार्य, उपाधि-महामहो-पाध्याय)–

पं० फणिभूषण तर्कवागीश जी न्यायशास्त्र के प्रखर विद्वान थे। इन्होंने तर्कविद्या का तलस्पर्शी अध्ययन करते हुए न्यायशास्त्र का व्यापक प्रचार प्रसार किया।

इनके पिता का नाम पं० सृष्टिधर भट्टाचार्य था। इनके उपर इनके पिता का उदात्तगुण, निर्मल चरित्र तथा धर्मनिष्ठा का प्रभाव पड़ा था।

जीवन परिचय–

इनका जन्म बंगाल के यशोहर जिलान्तर्गत तालखड़ी नामक ग्राम में माघ शुक्ल चतुर्दशी को सन् १८७६ ई. में हुआ था। इन्होंने पं० जानकीनाथ तर्करत्न से न्याय-शास्त्र का तथा वेदान्त वागीशजी से काव्य, वेदान्त तथा व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। अपनी प्रखर प्रतिभा के ही कारण आपने शीघ्र ही व्याकरण, काव्य, वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन किय, तथा न्यायशास्त्र में प्रौढ़ विद्वत्ता प्राप्त की। इनके गुरु जी जब वृद्ध हो गये तो इन्हीं को पढ़ाने का आदेश देते थे। तर्कवागीशजी ने काव्यतीर्थ तथा सांख्यतीर्थ परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

अध्यापन–

बंगाल के अध्यापन के पश्चातत् आप अनेक वर्षों तक काशी में न्याय के अध्यापक पद पर रहे। इसके पश्चात् सन् १९२६ ई. में संस्कृत कालेज कलकत्ता के तत्कालीन प्रिन्सीपल महामहोपाध्याय डा० हरिप्रसाद शास्त्री ने इन्हें अपने कालेज में न्याय के प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया। तर्कवागीश जी इनके आग्रह को स्वीकार कर कलकत्ता चले गये। इस पद पर १९२६ से लेकर १९३१ तक कार्य किया। परन्तु सन् ३१ में त्यागपत्र दे दिया। तथा पुनः काशी लौट आये। तत्पश्चात् इनके विद्वत्ता से प्रभावित होकर गुणग्राही राजनेता डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी-जो उन दिनों कलकत्ता विश्व-विद्यालय में चांसलर थे, इन्हें न्याय के विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया। इस सम्मानित पद पर इन्होंने अनेक वर्षों तक कार्य किया। तथा छात्रों को प्रभावी ढ़ंग से पढाया। इन्होंने न्यायशास्त्र के अलावा व्याकरण, काव्य तथा वेदान्त में भी विद्वत्ता अर्जित की थी। परिणामस्वरुप विभिन्न संस्थाओं द्वारा भी ये सम्मानित किये गये। आप हरिनाम प्रदायिनी सभा, बङ्गीयसाहित्य-परिषद्, तथा संस्कृतसाहित्यपरिषद कलकत्ता के अध्यक्ष तथा उपप्रधान के पद पर थे। तथा इस पद का संरक्षण आपने इमानदारीपूर्वक किया। आप शास्त्ररक्षा समिति के संस्थापक पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविण तथा पं० वामाचरणभट्टाचार्य के अन्यतम सहयोगियों में से थे। न्याय वेदान्त तथा साहित्य का क्षेत्र आपका सर्वथा ऋणी रहेगा। तत्कालीन विद्वानों द्वारा आपके सम्मान में लिखे गये श्लोक अधोलिखित है—

साहित्याम्बोधि-मन्थोत्थितरसरसनैरात्तगीर्वाणगर्वो ।
नास्तिक्येभ्येन्द्र-कुम्भोद्दलनकृतमतिः दृप्तपञ्चाननस्त्वं।।
भाष्ये वात्स्यायनीये भृशमतिगहने व्याकृतिर्या त्वदीया।
सैवाकल्पं समन्ताद् बुधवरभवतः कीर्तिगीतिं विधात्री।।

महाराज काशीनरेश ने आपको निम्न पद्य से सम्मानित किया था—

न्याये वैशेषिके च स्फुरति मतिरिति श्रेयसी तावकीना;
व्याख्यानं न्यायभाष्ये किमपि रचितवान् बङ्गभाषामयं च।
जानीषे जैनशास्त्रं मतमपि सुमते सौगतं वैष्णवं च;
प्रौढिं धत्से च मन्वादिभिरपि लपिते धर्मशास्त्रेति बाढम्।।

इनके दो सुयोग्य एवं विद्वान पुत्र हैं। १-अहिभूषण भट्टाचार्य २-श्री सुधीभूषणभट्टाचार्य। ये दोनों ही भाई पिता की तरह आस्तिक विनम्र तथा संस्कृत प्रेमी हैं।

इनके ज्येष्ठ पुत्र अहिभूषण भट्टाचार्य कमच्छा स्थित (चिन्तामणि एंग्लोबंगाली कालेज में प्रधानाध्यापक थे। तथा कनिष्ठ पुत्र (गवर्नमेण्ट आफ इण्ड़िया) के नेतृत्व विभाग में उच्च अधिकारी के पद पर नियुक्त हैं। फणिभूषण तर्कवागीश जी काशी में ही माघशुक्ल एकादशी को अपने भरेपूरे परिवार को छोड़कर १९४२ ई. में शिवसायुज्यता को प्राप्त हुए।

ग्रन्थ रचना अथवा कृति–

इन्होंने विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनकी मातृभाषा बंगाली व हिन्दी दोनों थी। इन्होंने न्याय-भाष्य पर विस्तृत व विशाल बंगला भाषा में अनुवाद किया है। यह पुस्तक बंगीयसाहित्यपरिषद् कलकत्ता से पाँच विशाल भागों में प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि गौतम के न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन के भाष्य का पुंखानुपुंख तलस्पर्शी पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद बंगलाभाषा में किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्याय-भाष्य के उपर उद्योतकर के वार्तिक, वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्य टीका तथा उदयनाचार्य की तात्पर्यपरिशुद्धि इन सभी ग्रन्थों के तात्पर्य को लेकर इन आचार्यों के तत् तत् मतों की विधिवत् मीमांसा इसमें की है।

इतना ही नहीं न्याय के विभिन्न मतों का वैदिक व अवैदिक

दर्शनों में समीक्षा तथा आलोचना करके विभिन्न मतों की पुष्टि की है। सच कहा जाय तो यह ग्रन्थ न्याय-दर्शन के सिद्धान्तों के लिये एक वृहद् विश्व कोश है।

जिसकी प्रशंसा डा० वेनिस, इटालियनविद्वान् डा० तुच्ची (रोम) प्रो० एच.एच. इन्गलन्स (हार्वर्ड विश्वविद्यालय) म.म.पं० गोपीनाथ कविराज; म.म. पञ्चाननतर्करत्न; पं० सुखलाल इत्यादि देशी तथा विदेशी विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है।

२-न्याय-परिचय–इस दूसरे ग्रन्थ द्वारा इन्होंने न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का सरल व सुबोध भाषा में व्याख्या की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर जब ये गये तो (वसुमल्लिक लेक्चर्स) में उसी का संग्रह है। इस पुस्तक में आत्मा, उसका स्वरूप, उसकी उपलब्धि के सिद्धान्तों का वर्णन न्याय-शास्त्र के दृष्टि से किया गया है। इसके साथ ही उन्होंने अन्य दर्शनों के न्याय पर भी विचार किया है। न्यायशास्त्र का प्रयोजन, अपवर्ग, मुक्तिका उपाय, जीवात्मा के श्रवण तथा मनन का प्रयोजन; जीवात्मा की नित्यता तथा युक्तियाँ आदि विषयों का इसमें तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

प्राचीन न्याय का विवेचन करने वाला यह ग्रन्थ अपने आप में महत्वपूर्ण है।

इसकी भूमिका में बंगदेशीय नैयायिकों के जीवन परिचय, काल, निर्णय, दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। श्री तर्कवागीशजी ने उसके महत्व का ऐतिहासिक निर्णय भी प्रस्तुत किया है। जो प्रमाण पुरस्सर होने के नाते नितान्त प्रामाणिक व उपादेय है। यह भूमिका ५० पृष्टों में मुद्रित है। इस भूमिका का नाम ही न्याय-शास्त्र में बंगालियों की विजय है।

विशेषता–इन्हें अपनी मातृभाषा से विशेष प्रेम था। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा के प्रति भी इनकी अगाध रूची थी। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों का प्रकाशन बंगला में ही किया है।

इनकी पहली विशेषता यह थी कि इन्हें अपनी मातृभाषा के साथ-साथ संस्कृत से भी लगाव था। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि-कोई भी संस्कृत का विद्वान् अपने विषय में कुछ नहीं कहता है; परन्तु

इन्होंने अपने विषय में कहा है। पाठकों के जानकारी के लिये निम्नश्लोक उद्धृत है—

युग्माष्टद्व्येकबंगाब्दे, माघस्यैकादशादिने।
सोमवारे चतुर्दश्यां लग्ने च मिथुने शुभे।।
यशोहरप्रदेशे यो विद्वद्विप्रकुलान्विते।
ग्रामे तालखड़ी नाम्नि भट्टाचार्यकुलेऽभवत्।।
पिता सृष्टिधरो नाम यस्य विद्वान् महातपाः।
माता च मोक्षदा देवी देवीव भुवि या स्थिता।।
सरोजवासिनी पत्नी, निजमुक्त्यर्थमेव हि।
यं काशीमनयद् बद्ध्वा, पूर्वपूर्वतपोगुणैः।।
सोऽधुनाकालिकातास्थो बद्धः कर्मवशादहम्।
विश्व-विद्यालये वृद्धः पाठयामीश्वरेच्छया।।
अशक्ते नाऽपि तेनाऽति नियुक्तेन यथामति।
न्याय-दर्शनसिद्धान्त-व्याख्या संक्षेपतः कृता।।

गदाधर भट्टाचार्य १९वीं शताब्दी–

गदाधर का जन्म १९वीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी बंगाल के लक्ष्मीपासा नामक जिले में हुआ था। इनके पिता का नाम जीवाचार्य था। ये पूर्वी बंगाल के थे। इनका जन्म पारम्परिक विद्वत्कुल में नहीं हुआ था। इन्होंने न्याय की शिक्षा नवद्वीप में पहुँचकर हरियम तर्कवागीश के विद्यापीठ में ग्रहण की। इनके विद्वत्ता से इनके प्रति इनके गुरु का आकर्षण इतना हुआ कि-अपने मृत्यु के समय इन्हें विद्यापीठ के आचार्य के रूप में इनकी नियुक्ति कर दी। इनकी शिक्षा अभी पूर्ण नहीं हो पाई थी तभी इनके गुरु का देहान्त हो जाने से इन्हें कोई उपाधि प्राप्त नहीं हुई। अतः नदिया के पुराने छात्र इन्हें गुरु रूप में नहीं स्वीकार किये। परिणामतः कोई छात्र इनके विद्यापीठ में प्रवेश नहीं लिया। तब इन्होंने गंगा की ओर जाने वाले मार्ग पर ही एक बगीचा लगा लिया। वहीं पर एक पेंड़ के नीचे ये रहने लगे। जब इनके पास कोई छात्र नहीं आया तो ये पेंड़ पौधों को ही शिक्षा देने लगे धीरे धीरे फूल तोड़ने के बहाने अध्ययनार्थियों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ। इनके भाषणों से वे बड़े प्रभावित हुए एवं शीघ्र ही इनके विद्यापीठ में शिष्यों की संख्या

पठनार्थ बढ़ने लगी। न्याय के प्रति इनकी श्रद्धा इतनी तिव्र थी कि मरते वक्त ये राम राम न कह कर परमाणु परमाणु कहने लगे। इसी अवधि में इन्होंने रघुनाथ शिरोमणि की (तत्त्वचिन्तामणि) (दीधिति) पर प्रकाशिका नामक टीका लिखी। परिणामतः ये बङ्गीयनैयायिकों में अग्रगण्य हो गये।

कृति–इनके ग्रन्थ जो सामान्यतया गादाधरी नाम से प्रसिद्ध है— वह इस प्रकार है—

१. तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति प्रकाशिका।
२. तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या।
३. तत्त्वचिन्तामण्यालोक टीका।
४. मुक्तावली टीका।
५. रत्नकोशवाद रहस्य।
६. अनुमान चिन्तामणिदीधिति टीका।
७. आख्यातवाद।
८. कारकवाद।
९. नञ्वाद।
१०. प्रामाण्यवाद दीधिति टीका।
११. बुद्धिवाद।
१२. मुक्तिवाद।
१३. विधिवाद।
१४. विषयतावाद।
१५. व्युत्पत्तिवाद।
१६. शक्तिवाद।
१७. स्मृतिसंस्कार वाद।
१८. शब्दप्रामाण्यवाद रहस्य।

अतः इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है (दीधिति) की बृहत्काय व्याख्या जो सर्वसाधारण में (गादाधरी) के नामसे प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन (आत्मतत्त्वविवेक) के उपर तथा तत्त्वचिन्तामणि के कतिपय भागों के उपर (मूलगादाधारी) नामक व्याख्या लिखी है।

टीकाओं के अतिरिक्त न्याय के महत्त्वपूर्ण विषयों के उपर लगभग ५२ ग्रन्थों की रचना की है।

जिसमें व्युत्पत्तिवाद एवं शक्तिवाद का विशेष उल्लेख है।

यदि नव्य-न्याय विशाल वटवृक्ष है तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी जड़े मिथिलामें वद्धमूल हुई; जो तत्त्वचिन्तामणि के रूप में सुदृढ़ हुआ। जिसका सुन्दर फल जागदीशी व गादाधरी। यदि रघुनाथ-नैयायिक शिरोमणि है तो गदाधर भट्टाचार्य नैयायिक सम्राट हैं-जिसके मस्तक को मणि से जटित वह मुकुट सुशोभित कर रहा है।

पं० बदरीनाथ शुक्ल सं० १९१४–

इनका जन्म बस्ती जिले के घनघटा ग्राम में १९१४ ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० राजाराम शुक्ल था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इनके पिता के संरक्षण में गाँव में ही हुई। यहाँ इन्होंने काशी तथा मिथिला के मनीषी पं० बालकृष्ण मिश्र जी से भारतीय न्याय शास्त्र की मैथिल परम्परा तथा तर्करत्न श्री शङ्करदेव भट्टाचार्य से न्यायशास्त्र के बङ्गीय परम्परा तथा मध्वसम्प्रदाय के आचार्य दामोदर लाल गोस्वामी महोदय से साहित्य काव्य-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। ये काशी हिन्दु विश्व-विद्यालय के प्राच्य विद्या संकाय के छात्र थे। उस समय ये इस संकाय के प्रखर मेधावी एवं विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न परम्परागत संस्कृत के छात्र के रूप में लोकप्रिय थे। पं० महामना मदन मोहन मालवीय इनकी योग्यता से अत्यन्त ही प्रभावित थे। जिसके फलस्वरूप मालवीय जी ने (प्राच्य विद्या संकाय) में भारतीय न्यायशास्त्र के अध्यापन के लिये इन्हें नियुक्त किया। ये अत्यन्त ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न विधाओं विशेषकर साहित्य तथा व्याकरण शास्त्र न्याय-वैशेषिक दर्शन, वेदान्त आदि दर्शनों के मर्मज्ञ थे। न्याय वैशेषिक दर्शन के तो ये साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे।

लगभग १५ वर्षों तक विशिष्ट अध्यापन द्वारा पर्याप्त ख्याति अर्जित करने के बाद आचार्य शुक्ल उस समय में सुप्रसिद्ध (काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में जो अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। ज्येष्ठ आचार्य के पद पर नियुक्त हुए। इस समय तक पं० शुक्ल जी काशी के विद्वन्मण्डली में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान

बना चुके थे। इनके विद्वत्ता की चर्चा काशी के अतिरिक्त बंगाल तथा मिथिला के विद्वानों के बीच भी होने लगी थी। १९५८ में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय जब सं.सं.वि.वि. में विलय कर लिया गया तो ये-आचार्यशुक्लनवगठित विश्व-विद्यालय के न्यायवैशेषिकविभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये। इस पद पर कार्य करते हुए-विशिष्ट अध्ययन द्वारा, एवं चिन्तन मनन द्वारा परम्परागत प्रौढ़ पाण्डित्य के क्षेत्र में विशेष ख्याति अर्जित की। इसी समय आपने न्याय वैशेषिक में प्रौढ़ पाण्डित्य प्राप्त किया। विभिन्न शिक्षण संस्थाओं के आमन्त्रण को स्वीकार कर आप अपने अथाह ज्ञानराशि का वितरण करते रहे। इसी क्रम में देश के कई धर्माचार्यों व दर्शनाचार्यों को भी शिक्षित किये।

शास्त्रार्थ परम्परा के विकास में भी इनका अमूल्य योगदान था। काशी के विद्वत् सभाओं, तथा शास्त्र चर्चाओं के लगभग ३० वर्षों के इतिहास में प्रत्येक स्थल पर इन्होंने अपने पाण्डित्य के क्षमता को प्रदर्शित कर शास्त्रार्थ परम्परा के विकास में अमूल्य योगदान दिया। एक समय तो ऐसी भी स्थिति आ गयी जब आचार्य शुक्ल के बिना काशी की विद्वत्सभा सुनी लगती थी।

इनकी शास्त्रार्थ पटुता इतनी प्रखर थी कि-कठिन से कठिन शास्त्रार्थ अथवा शास्त्रीय गुत्थियों को ये पल भर में सुलझा देते थे। इनका वक्तृत्व भी उच्च कोटि का था। इन्होंने १९७७ में पेरिसनगर में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में अपने कुशलवक्तृत्वशैली में भारतीय दर्शनों तथा संस्कृत वाङ्मय की विशेष प्रतिष्ठा कर भारतीय चिन्तन को विश्वस्तर पर प्रतिष्ठापित किया।

विश्व-विद्यालय की सेवा से अवकाश लेने के बाद १९७८ ई. में आचार्य शुक्ल उ.प्र. शासन द्वारा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय के कुलपति पद पर नियुक्त हुए। इन्होंने विश्व-विद्यालय के सर्वतोन्मुखी विकास के लिये उल्लेखनीय प्रयास किया। ये कई वर्षों तक उ.प्र. संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष भी रहे। तथा संस्कृत जगत की विशिष्ट सेवा किय। आप कुशल प्रशासक भी थे। प्रशासनिक क्षमता होने के कारण ही आप कुलपति के रूप में अथवा अकादमी के अध्यक्ष के रूप में काफी लोकप्रिय रहे। प्रशासनिक कार्यों को देखते हुए भी ये निरन्तर

छात्रों का अध्यापन, लेखन तथा अन्य विषयों यथा शैक्षिक गतिविधियों का सम्पादन बड़े ही मनोयोग से करते रहे।

१९८३ ई. में स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर भारत गणतन्त्र के राष्ट्रपति ज्ञानीजैलसिंह ने आचार्य शुक्ल को राष्ट्रपति पदक से सम्मानित किया।

इनकी अगाध ज्ञानवत्ता तथा प्रतिभा का दिग्दर्शन इनकी कृतियों से ही प्राप्त होता है। नव्य-न्याय शास्त्र जैसे ग्रन्थों का-जिनकी भाषा अपने आप में क्लिष्ट हैं; ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थों को इन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुदित कर भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं को लाभान्वित किया। इन्होंने गङ्गेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि विधिवाद; तथा इस ग्रन्थ के उपर मथुरानाथ तर्कवागीश द्वारा विरचित रहस्य-व्याख्या का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण कर न्याय एवं मीमांसा जगत के जिज्ञासुओं को कृतकृत्य कर दिया।

शुक्ल जी मौलिक प्रतिभा के धनी थे। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में समय समय पर इन्होंने नये नये सिद्धान्तों एवं मतों का प्रतिष्ठापन कर दार्शनिकों को आश्चर्य चकित कर दिया।

इनके द्वारा स्थापित नये सिद्धान्तों मे न्याय-शास्त्रीय विचार पद्धति के अनुसार (देहात्मवाद की संभावना) तथा (मुक्ति स्वरूप विमर्श) अपना विशेष स्थान रखते हैं।

विगत १९८५ वर्ष में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् (I.C.P.R) नई दिल्ली द्वारा सारनाथ स्थित (केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान) में आयोजित न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के ख्याति प्राप्त विद्वानों की उपस्थिति में आचार्य शुक्ल द्वारा (देहात्मवाद) की स्थापना भारतीय दर्शन के इतिहास में अनोखी घटना थी। इनकी विशिष्ट प्रतिभा, दृढ़ संकल्पशक्ति सभा में वाक् चातुर्यता का उत्कर्ष अपने आप में अद्वितीय था।

विगत दिनों पं० शुक्ल जी को भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् (I.C.P.R) के द्वारा अनुष्ठान् कार्य के लिये ज्येष्ठ अनुसन्धाता (सीनियर फेलो) पद पर सर्वोच्च मानदेय के साथ नियुक्त किया गया था।

भारतीय तथा विदेशी दार्शनिकों के साथ अखिल भारतीय स्तर पर इनका निरन्तर सम्पर्क रहा। परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य दार्शनिकों के उपर भी (न्याय-वैशेषिक) दर्शन का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार आजीवन गतिशील रहते हुए इन्होंने संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय दर्शनों का मुखरतम स्वर प्रदान किया। इनकी अगाध प्रतिभा, ज्ञानयुक्त वक्तृत्व सामाजिक निष्ठा अत्यन्त ही श्लाघनीय हैं।

शैक्षिक योग्यता–

(क) सन् १९३६ ई. में न्याय वैशेषिक दर्शन मे प्रथम श्रेणी में शास्त्राचार्य।

(ख) १९४२ में अद्वैतवेदान्त में प्रथम श्रेणी में शास्त्राचार्य।

(ग) १९५१ में संस्कृत से एम.ए.।

२-विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्राप्त पुरस्कार–

(क) वाद-विाद प्रतियोगिता, शास्त्रार्थ विचार व निबन्ध आदि में सम्पूर्ण भारत में।

(ख) काशीविद्वत् परिषद् द्वारा पण्डितराज की पदवी से सम्मानित।

(ग) १९८३ में उ.प्र. संस्कृत अकादमी लखनऊ द्वारा १५,०००१ का विशिष्ट पुरस्कार प्रदान किया गया।

(घ) १९८३ में ही भारत सरकार नई दिल्ली द्वारा संस्कृत में आनर का प्रमाण पत्र दिया गया।

कार्य क्षेत्र–(अ) काशी हिन्दु विश्व-विद्यालय में न्याय-वैशेषिक के पद पर १९३७ से १९५२ तक लेक्चरर के रूप में नियुक्त हुए।

(ब) वर्ष १९५२ से १९७७ तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय वाराणसी में न्याय वैशेषिक दर्शन के विभागाध्यक्ष व प्रोफेसर के पद पर रहे।

(स) वर्ष १९७१ से १९७० तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि. शोधसंस्थान के निर्देशक के रूप में।

(च) विद्यार्थी कल्याण परिषद्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त रहे।

(छ) वर्ष १९७५ से १९७८ तक विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में नियुक्त रहे।

अन्य शैक्षणिक अस्तित्व–

(अ) सम्पादन, सारस्वती सुषमा, चार्तुमासिक शोध पत्रिका सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय वाराणसी।

(ब) इनके द्वारा न्याय-वेदान्त, बौद्ध-दर्शन धर्मशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों का प्रकाशन सं.स.वि.वि. के सहयोग से।

(स) १९५७ से १९७० तक सं.स.वि.वि. सांस्कृतिक कमेटी के अध्यक्ष के रूप में।

(द) १९६५ से १९६८ तक (सं.स.वि.वि.) से सम्बन्धित स्कूलों एवं संस्कृत विद्यालयों के निरिक्षक के रूप में।

(च) सं.स.वि.वि. में विनियोजन कमेटी के सदस्य के रूप में।

(छ) (सं.स.वि.वि.) में धर्म-दर्शन, संस्कृत व्याख्यानमाला के कन्वेनर के पद पर।

(ज) विश्वसंस्कृत-सम्मेलन के अध्यक्ष।

विदेशों द्वारा प्राप्त प्रमाण पत्र–

(अ) "इकोलेप्रेक्टिक्वेदासइट्युड़स" पेरिस (फ्रांस) वर्ष १९७६ में प्राप्त होने वाले थे परन्तु पत्नी के अस्वस्था के कारण न प्राप्त हो सका।

(ब) जून १९७७ में विश्व संस्कृत सम्मेलन (पेरिस) में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया।

इसके अलावा १९५२ से १९५८ तक उ.प्र. राजकीय संस्कृत कालेज में अध्यापक के पद पर कार्य किये। तत्पश्चात् काशी विश्वनाथ मन्दिर में नामित ट्रस्टी के रूप में भी आप थे—

कृतियाँ–

१. तर्कभाषा की हिन्दी व्याख्या।
२. वेदान्तसार की हिन्दी व्याख्या।
३. माधुरी व्याप्तिपञ्चकम की व्याख्या।
४. तत्त्वचिन्तामणि विधिवाद की हिन्दी व्याख्या।
५. तत्त्व-चिन्तामणि मङ्गलवाद का सम्पादन।
६. शास्त्र वार्तासमुच्चय का सम्पादन।

इनकी मौलिक कृतियाँ–

१. शतश्लोकी।

२. मुक्ति स्वरूप विसर्ग।

३. न्याय-शास्त्रीयविचारपद्धति के अनुसार देहात्मवाद की सम्भावना।

इनके शोध व प्रकाशन–

(अ) इनके द्वारा बीस शोधच्छात्रों को पी. एच. डी. व डी. लिट. की डिग्री के निर्देशक के रूप में।

(ब) पाँच शोध छात्रो ने पी.एच.डी. डिग्री व तीन शोध छात्रों ने डी.लिट की डिग्री प्राप्त की।

(स) भारत सरकार द्वारा विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पी.एच.डी. व डी. लिट के परिक्षक के रूप में नियुक्त किये गये।

प्रकाशन कार्य–

	कार्य	वर्ष	विषय	भाषा
१.	आरम्भवाद	१९५२	न्याय	संस्कृत
२.	न्याय खण्डन खाद्य की व्यवस्था	१९५६	जैन-दर्शन	हिन्दी अनुवाद
३.	शास्त्रवार्ता समुच्चय की व्याख्या		जैन-दर्शन	
४.	तर्कभाषा व्याख्या	१९६५	न्याय	हिन्दी
५.	मारकण्डेय एवं अध्ययन	१९७५	पुराण	हिन्दी में में मूल कार्य
६.	मङ्गलवाद	६७५	न्याय-दर्शन	तत्त्व-चिन्तामणि टिप्पणी।
७.	वेदान्तसार	१९७१		हिन्दी में मूलकार्य

८-शोध-अनुच्छेद–

भारत के विभिन्न पत्रिकाओं से प्रकाशित एक सौ से अधिक शोध अनुच्छेद।

१-विशिष्ट कार्य-क्षेत्र-

न्याय-वैशेषिक दर्शन के ट्रेड़िशन छात्रों में जो भारत व भारत के बाहर रहे; उसमें इनका सर्वश्रेष्ठ स्थान था। भारतीय दर्शन के प्रणेता के रूप में भी ये सर्वदा स्मरणीय रहेंगे।

पं० बच्चा झा (आस्पद झा; उपाधि-स्वतंत्र) सं० १९१७-

इनका जन्म नव्य नैयायिक परम्परा में सं० १९१७ की चैत्र शुक्ल नवमी को मिथिला के नवानी ग्रा० में हुआ था। इनके पिता का नाम दुर्गादत्त झा था। माता-पिता के अत्यन्त स्नेह के कारण इन्हें बच्चा नाम लेकर ही पुकारा जाता था। तथा इस नाम की प्रसिद्धि हो जाने से प्रत्येक क्षेत्र में लोग इसी नाम से जानते थे। मिथिला के नैयायिक इन्हें द्वितीय गङ्गेश्वर कहकर पुकारते थे।

इनका जन्म प्राचीन परम्परा के ऋषिवर गौतम, कणाद इत्यादि के परम्परा में तो था ही-परन्तु नव्य-नैयायिक उदयनाचार्य इत्यादि के परम्परा का भी इन पर प्रभाव था। पं० विश्वनाथ जो मिथिला के विद्वानों में अग्रगण्य थे-उनसे अध्ययनार्थ ये (दाढ़ी) ग्राम गये। इनके भीतर उभय प्रतिभाओं का प्रस्फुटन हुआ। तथा शास्त्रों के सूक्ष्म विवेचन का यहीं से सूत्रपात हुआ। अध्ययन समाप्त होने पर ये मिथिला आकर विद्यालय खोलकर विद्या दान का यज्ञ करने लगे। इनकी अध्यापन शैली पूरे भारतवर्ष में विख्यात थी। परिणाम यह हुआ कि न्याय-विद्या ग्रहण करने के लिये विभिन्न प्रान्तों से आपके पास लोग आने लगे। सुदूर गुर्जर प्रदेश से भी छात्र मिथिला आये-परिणामस्वरूप नवानी ग्राम. धन्य हो गया। मिथिला के अधिकांश ग्रामों के अनुमान खण्ड़ जन जन से व्याप्त हो गया। न्याय-प्रणेता गौतम ऋषि के आश्रम (गौतम कुण्ड़) के सन्निधान में स्थित नैयायिकों तथा मीमांसकों से मण्ड़ित चकौती ग्रा.के पं० दुलार झा जो नवद्वीप के न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन करके आये थे तथा टीकमगढ़ के राजगुरु थे-नाथद्वारा के राजगुरु पं० गगाधर झा (नैयायिक) थे। तथा अनुमान सम्पर्क से क्रोड़पत्र प्रस्तुत किये। पं० सहदेव झा ने (इनसे) (पं० बच्चा झा).से अनुमान खण्ड में परास्त कर पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

इनके विपुल ख्याति को सुनकर शारदापीठाधीश्वर (द्वारका) जगद्गुरु

शंकराचार्य जी ने पं० बच्चा झा जी को सादर आमन्त्रित किया तथा इनसे दर्शन शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार ये जगद्गुरु का भी गुरूत्व स्वीकार कर लिये थे। सूरत में चल रहे विद्वत्सभा के अध्यक्ष भी आप ही थे। अध्यापन के साथ साथ लेखन कार्य में भी आप निपुण थे। आपके द्वारा अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे गये। इसके अतिरिक्त क्रोड़पत्रों एवं दार्शनिक टिप्पणीयों को भी आपने लिखा। आपके द्वारा लिखित क्रोड़पत्रों का अर्थ लगाना नितान्त कठिन है। "सुलोचना माधवचम्पु" बावन सर्गों में निबद्ध है। यह बीसवीं शदी का अलौकिक महाकाव्य माना जाता है।

इनकी कृतियाँ—चम्पू के अतिरिक्त इनकी न्याय वेदान्त शास्त्र सम्बन्धी अनेक रचनायें भी प्रख्यात हैं। जिनका मूल्यांकन करना कठिन है। ये रचनायें हैं—

१. व्याप्तिपञ्चक की टीका।
२. सिद्धान्त लक्षण विवेचन।
३. अवच्छेदकत्त्व निरूक्ति विवेचन।
४. व्याप्त्यनुगम-विवेचन।
५. व्युत्पत्तिवाद गूढार्थ तत्त्वालोक।
६. शक्तिवाद-टिप्पणी।
७. सव्यभिचार-टिप्पणी।
८. सत्प्रतिपक्ष सट्टिप्पणी।
९. खडण्न ख़ण्ड खाद्य टिप्पणी।
१०. कुसुमाञ्जली-वर्धमान टिप्पणी।
११. न्यायभ्रोष्य- टीका।
१२. अद्वैत सिद्धि चन्द्रिका टिप्पणी।
१३. सामान्य निरूक्ति।
१४. श्रीमद्भगवद् गीता की टीका।

इनके शिष्य परम्परा में-१-पण्डित लक्ष्मीनाथ झा (दर्शन विभागाध्यक्ष) (काशी हिन्दु विश्व-विद्यालय)

२- पं० शशिनाथ झा (मिथिला विद्यापीठ दरभंगा)

३- स्वामी पूर्णानन्द।

४- स्वामी परमानन्द।
५- पं० हरिनाथ शास्त्री।
६- पं० गोप्तृनाथ मिश्र।
७- पं. षष्टिनाथ मिश्र इत्यादि।

व्यक्तित्व–पं० बच्चा झा अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न थे। इनकी तार्किक प्रखरता व बुद्धि तिक्ष्णता प्रख्यात थी। ये एकान्त सेवी, चिन्तन व मनन करने में निपुण थे। इनकी सम्पूर्ण विद्वत्ता न्यायके क्षेत्र में भी इन्हें (मननतरीतीर्ण विद्यार्णवः) की उपाधि से विभुषित किया गया था।

इनके द्वारा न्याय-शास्त्र के विभिन्न चूड़ान्त ग्रन्थों पर टीका व भाष्य लिखे गये थे। परन्तु असमय में ही इनका निधन हो गया।

सर्वतन्त्र स्वतंत्र-श्रीधर्मदत्तबुधाग्रणीः।
यत् कोणपत्रिकान्याये भान्ति सर्वबुधादृताः।।

पण्डित पद्म प्रसाद भट्टराई (१९५३ से सं० १८९६)–

इनका जन्म नेपाल के काठमाण्डू से पूर्व दिशा में "रामेछाप" नामक प्रसिद्ध जनपद के "शालुसामलि" नामक ग्राम में हुआ था। इनके पूज्य पिताजी का नाम पं० दीनानाथ भट्टराई था। भट्टराई जी ने वेदान्त की शिक्षा महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ से लिया था। तथा नित्यानन्द पर्वतीय से धर्मशास्त्र एवं वृद्ध वामाचरण जी से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। इनके सहपाठियों में पं० राजराजेश्वर शास्त्री द्रविड़, नवीन वामाचरण भट्टाचार्य, एवं पं० शिवदत्त मिश्र का नाम प्रमुख है। संस्कृत विश्व-विद्यालय द्वारा इन्होंने न्यायाचार्य की पदवी प्राप्त की। विशेष अध्ययन के लिये इन्होंने पोष्टाचार्य की छात्रवृत्ति प्राप्त की।

इनके निर्देशक महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी थे। इन्हीं के कृपा से इन्होंने विशिष्ट धार्मिक निबन्ध प्रस्तुत किया था। १९६८ में मारवाड़ी संस्कृत-विद्यालय में न्याय-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया था। अध्यापन के अतिरिक्त ये शास्त्रार्थ प्रवीण भी थे। काशी के विद्वानों द्वारा इन्हें न्याय रत्न की उपाधि प्राप्त थी। ये गोयनका एवं सन्यासी पाठशाला में अध्यापन कार्य करते थे। इस प्रकार विशिष्ट अध्यापन, प्रौढ़ शास्त्रार्थ एवं प्रगाढ़ धर्माचरण के कारण उस युग के विद्वानों में ये अग्रगण्य माने जाते थे। काशी में इनके प्रसिद्धि से आकृष्ट

होकर नेपाल के महाराजा ने इन्हें त्रिभुवन विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत स्थापित वाल्मीकि विद्यापीठ से सम्बन्धित संस्कृत संस्थान में बुला लिया। वहाँ पर ये मुख्य अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। नेपाल में इनका स्मरण नव्य-न्याय के प्रवर्तक के रूप में किया जाता है। अध्यापन के अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इन्होंने न्याय पर लिखे गये वात्स्यायन भाष्य का सम्पादन भी किया एवं अपनी टिप्पणी भी जोड़ी। इस ग्रन्थ का सम्पादन चौखम्बा से वि.सं. (१९९९) ई. में एवं (सन् १९४२) ई. में हुआ था। इस ग्रन्थ में दो टीकायें तथा बच्चा झा के द्वारा रचित गूढतत्त्वालोक नामक टिप्पणी भी सम्मिलित है। तथा आपका तृतीय सम्पादित ग्रन्थ वीर मित्रोदय है। आपके शिष्य गृहस्थ एवं विरक्त दोनों प्रकार के थें। इनके विरक्त शिष्यों में'काशी सुमेरूपीठाधीश शङ्करानन्द सरस्वती; हरिद्वार के भीमगोडा स्थान में निर्मित चेतन-ज्योति;-संस्कृत महाविद्यालय के संस्थापक चेतनानन्द स्वामी; शिव चैतन्य भारती तथा योगीन्द्रानन्द स्वामी का नाम अग्रगण्य है। इनके गृहस्थ शिष्यों की संख्या अत्यधिक है। यथा-न्याय-व्याकरण वेदान्त के प्रौढ़ पण्डित केदारनाथ ओझा; संस्कृत विद्यालय के न्यायविभागाध्यक्ष पं० सुरेन्द्र नाथ द्विवेदी; पं० काशीनाथ झा हिन्दुविश्व-विद्यालय के पं० रूद्रधर झा इत्यादि अतः इनकी शिष्यपरम्परा नेपाल तथा समग्र उत्तरभारत में पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है।

भट्टराईजी की दो समस्यापूर्तियाँ यहाँ दी जा रही है—

सुवर्णालङ्कारप्रवणपदविन्याससुरभि-
र्नियत्यास्पृष्टापि प्रथितिगुणरीति प्रणयिनी।
दिशन्ति संवित्तिं भवजलनिधेः पारगतरी-
मियं शर्वाणीव स्फुरतु सुरवाणी मनसि मे।।२।।
विप्रावेदविवर्जिता नृपतयो म्लेच्छाश्रिताः प्रायशो,
वैश्याः कूटकुपण्यविक्रयपराः शूद्राद्विजकामिनः।
स्वच्छन्दाः सुकुलस्त्रियस्तदितरे प्राणिव्रजेका कथा।
पूतं कृष्ण! कलौ त्वदर्पणविधौ नान्यं धरित्रीतले।।

नेपाल के महाराजा द्वारा इनका बहुत सम्मान किया गया था।

इन्हीं के आचार्यत्व में रूद्र प्रयाग का संपादन हुआ था। काठमाण्डू में ही विक्रमसम्वत् २०३० (१९७३) ई. में माघकृष्ण प्रतिपद् के दिन रामनाम का उच्चारण करते हुए पशुपतिमहादेव के समीप ही आर्य घाट पर अपने प्राणों को छोड़कर पं० पद्मप्रसाद भट्टराई जी ने शिव सायुज्यता को प्राप्त कर लिया इनकी अध्यापन शैली बहुत ही प्रख्यात थी। नितान्त मूर्ख छात्र भी इनके शिक्षा का आश्रय लेकर विद्वान बन जाते थे। इनके सदृश उस समय कोई प्रखर नैयायिक नहीं था। इनके स्तुति में रचित यह पद्य सर्वथा यथार्थ है—

सूक्ष्मार्थ प्रविभेदने प्रतिपदव्याख्यानकौतुहले;
शास्त्रार्थेस्वनुवासरं विशदता यस्योदितासन्ततम्।
काशीवासपरायणो नवनवन्यायार्थचर्चापटुः,
शान्तस्वान्ततयासतामभिमतः पद्मप्रसादसुधीः।।

विश्वस्मिन् सर्वश्रेष्ठप्राचीनेषु साहित्येषु संस्कृतस्य विशिष्टं स्थानमस्ति एतस्य साहित्यस्य निरन्तरपरिवर्धनाय विचारधाराप्रवाहः सदा गतिमान आसीत्। अतिप्राचीनत्वेऽप्येतस्याध्यने स्थापयित्वा अत्र निहितानां विविधशास्त्राणामध्य-यनमध्यापनं च व्यापकं कर्तुमद्यापि प्राचीनविचार-धारावन्तः पण्डिताः प्रयत्नशीलास्तिष्ठन्ति।

भारतीयशास्त्रकलापे प्रौढ़पाण्डित्यवस्तु प्राचीनविचारधारा संस्कृत पण्डितेषु पूज्यगुरुचरणानां द्रविड़महोदयानां प्रमुखस्थानं विद्यते। असाधारण-बुद्धि-संस्कृतसाहित्यिकसर्वक्षेत्रविषयकप्रौढ़पाण्डित्य सनातनधर्मविषयक-परमविश्वासवत्सु जनेष्वत्र भवन्तोऽग्रगण्याः सन्ति। अर्थप्रधाने युगेऽस्मिन् हिन्दुधर्मशास्त्रकलापे आदर्शब्राह्मणानां कृते विहितासु त्यागतपस्याविद्यास्वप्येते सर्वश्रेष्ठा विद्यन्ते।

जन्म एवं वाल्यावस्था–

जन्मबाल्यावस्थाया विषये जन्म षट्पञ्चाशदधिकैकोनविंशतितमे वैक्रमसंवत्सरे (१९५६) संवत) श्रावणमासस्य पूर्णिमातिथौ अखिलभारतीय वर्णाश्रमस्वराजसंघस्य संस्थापकानां महावेदान्तिनां धर्मप्राणानां महामहो-पाध्यायपण्ड़ितश्रीलक्ष्मणशास्त्रिद्रविड़महोदयानां पुत्ररूपेण वाराणस्यां वृहस्तेरवतारस्संजातः। शिशो राजेश्वरस्य मातामहाः प्रसिद्धमीमांसकाः महामान्त्रिका म.म.पं. श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्रिमहोदया आसन्। एतेषां पितामहाः

श्री रामचन्द्रजटापाठिमहोदया: एवं मातामहाश्चते क्रमश: त्रिविशनूरमद्रास-प्रान्तात् महिषशुर: (मैसूर) देशाच्च समागत्य वाराणस्याम् उपवेष्टितवन्त एतेवां उभयेषां वंशवृक्षौ तत: कालादत्र एधमानौ विद्येते। श्रूयते यत् चरित्रनायका: श्रीशास्त्रीमहोदया: बाल्यावस्थायां महामान्तिकैस्तन्मातामहै: श्रीसुब्रहमण्यशास्त्रिमहोदयै: स्वीयोपास्यदेवताया: प्रसादपात्रिकृता अभवन्। एतेषां वाण्यां विद्याधिष्ठात्री श्री शारदा नाना शास्त्ररूपेण विलसति। एतेषां प्रारम्भिकी शिक्षा स्वीयमातामहसमीपे सम्पन्नाऽभवत्।

विद्याध्ययनं पाण्डित्यं च–

एतै: सर्वप्रथमं स्वर्गीयश्रीबालम्भट्टगौड़बोलेमहोदयसकाशात् कृष्णयजुर्वेदान्तर्गताया: तैत्तरीयशाखाया: सस्वरमध्ययनं विहितम्। तदुत्तरं वाराणस्यां नव्यन्यायस्य अद्वितीयपण्ड़ित म.म.स्व. श्री वामाचरणभट्टाचार्य-सकाशात् तर्कशास्त्रमधीतम्। न्यायाचार्यस्व.श्री- गोपालभट्टमहोदयानां शब्देषु चरित्रनायका अध्ययनबेलायां स्वीयस्वाभाविकप्रतिभाया: प्रतापेन न्यायशास्त्रीयगुढ़रहस्योद्घाटनं विधाय स्वगुरून् श्री भट्टाचार्यान् आनन्दसागर-निमग्नान् कुर्वन्तोऽभूवन्। श्री भट्टाचार्यसकाशात् नव्य-न्यायस्य केवलानां प्रमुखकतिपयविषयाणामेव एतै: साङ्गमध्ययनं विहितम्; परन्तु स्वीयाया अचलाया गुरुभक्त्या गम्भीरस्या-ध्ययनस्य प्रतिभायाश्च प्रकर्षेण संस्कृत-साहित्यस्य सर्वक्षेत्रेष्वपि इमे स्वस्मिन् समानमधिकारमादधति। एतेषां विद्वत्तया शास्त्रार्थविधानस्य विलक्षणया प्रतिभया च प्रभाविता। भूत्वैव अद्यत; पञ्चाशद्वर्षपूर्वं वाराणस्यां सम्पन्ने अखिलभारतीयब्राह्मणसम्मेलने एकत्रितेन विद्वत्समुहेन विभिन्न-विभिन्नसम्प्रदायानां धर्माचार्याणामुपस्थितौ एते पण्ड़ितराजपदव्या अलंक्रियन्ते स्म। सम्मेलनावसरेषु विहिताभिरनेक-दिवसीयचर्चाभिरेतै: स्वीयमद्वितीयं पाण्डित्यं लोकोत्तरप्रतिभा च दर्शिते अभवताम्।

कार्यक्षेत्राणि–

तत्र भवतां पितृचरणा म.म. श्रीलक्ष्मणशास्त्रिद्राविणमहोदया: श्रुति-स्मृतिपुराणेष्वाधारिताया भारतीयाया: संस्कृत्या: सभ्यतायाश्च संरक्षणार्थं वर्णाश्रमधर्मानुसारेण देशे स्वराज्यस्थापनार्थं च अखिलभारतीय वर्णाश्रम-स्वराज्यसंघं स्थापितवन्त:। स्वराज्यस्थापनार्थं भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारेण सर्वप्रथमं विशिष्टविद्वद्भि: सह संमन्त्रयविद्या प्रसारव्यवस्थाविधान-

मत्यावश्यकम् यतः समाजसंरक्षणं-विशेषतः सुशिक्षां प्रत्येव अवलम्वते। तत्रायं प्रथमोपायः सद्विद्यावृद्धेः सार्धं विद्याचिन्ता विद्याप्रतिवद्धत्त्वाल्लोक स्थितेः अतः उक्तसंघस्थापनेन सहैव तैः वेदशास्त्रेष्वा-धारितया स्वदेशीयशिक्षया नवयुवकान् शिक्षितान् भावयितुं वाराणस्यां रामघट्टे नागरकुलभूषणश्रीमेहतापरिवारसहयोगेन साङ्गवेदविद्यालयं स्थापित-वन्तः। एतस्मिन् विद्यालये वेदीयविभिन्नशाखानां शास्त्राणां च शिक्षा प्राचीनपद्धत्या दीयते।

विदुषां विदितमस्ति यत् श्रीलक्ष्मणशास्त्रिमहोदयैः स्वतंत्रमध्याङ्ग पथितृणां पण्डितानां वृत्यर्थं शास्त्ररक्षासमितिः सर्वोच्चपरीक्षोत्तीर्णवैदिकानां कृते वर्षाशनव्यवस्था च स्थापिते। तैः स्वसमये उक्तकार्याणि सफलानि विधातुं भगीरथप्रयत्ने विहितः। एतेषु कार्येषु चरितनायक द्रविड़महोदयास्तेभ्यः पूर्णसहयोगं दत्तवन्तः। तद्देहाव-सानोत्तरं तेषां कार्याणां सञ्चालनकार्यं स्वहस्ते गृहीतवन्तः।

देशस्य विभिन्नस्थानेषु सम्पन्नासु अखिलभारतीयविद्वतपरिषत्सु अनेकेषां विख्यातानां न्यायधीशराजनीतिज्ञानामुपस्थितौ एतैः साधितं यत् न्याय-मीमांसावेदान्तशास्त्रेषु आधारितया भारतीयविचारपद्धत्यैव श्रुतिस्मृतिपुराणा-नामर्थनिर्धारणं कर्तव्यमिति।

एवमेव पूर्वोक्तसाङ्गवेदविद्यालये प्राचीन शिक्षापद्धत्या वेदशास्त्रशिक्षां प्रदानाय अत्र भवन्तः अहर्निशं प्रयत्नशीलास्तिष्ठन्ति। छात्रान् संस्कृत शिक्षां प्रति आकृष्टान् कर्तुं विद्यालयसञ्चालकस्य माननीय काशी-नरेश श्रीविभुतिनारायणसिंहमहोदयस्य च सहयोगेनैते विद्यालयद्वारा संचालितायां सर्वोच्चपरिक्षायां साफल्यमवाप्तृणां कृते आजीवनं वर्षाशनप्रदानस्य विक्रमपारितोषिकप्रदानस्य च समुचितां व्यवस्थां वर्धितवन्तः। आनुपूर्व्यनुसारं सस्वरवेदाध्ययनस्य परम्परामक्षुण्णं भावयितुमेतेषां सहयोगेनैतस्मिन् विद्यालये प्रतिवर्षं विभिन्नवैदिकशाखानां सर्वोच्च परीक्षाया आयोजनं भवति।

भारतस्य स्वातन्त्यप्राप्त्युत्तरमस्य संविधानं पाश्चात्यविचारधारानुसारं निर्मितमभवत्। अत्र प्राचीनभारतीयराजनीतिशास्त्रस्य मौलिकसिद्धान्तानां समावेशानार्थं तैः विगतानेकवर्षेभ्यस्तस्याध्ययने प्रयत्नो विहितः। तदर्थं प्राचीनभारतीयराजनीतिशास्त्रस्य विशिष्टाग्रन्थानामध्ययनअध्यापनं च ते स्वविद्यालये सततं चालयन्तो विद्यन्ते।

विचारसरणिः अध्ययनपद्धतिश्च–

वेदाः दर्शनशास्त्रं साहित्यं ललितकला वा किं न स्यात्; संस्कृत-भाषायां लिपिबद्धानां सर्वेषां शास्त्राणां लक्ष्यमेकमेवास्ति। धर्मार्थकाममोक्षाणां क्रमशः प्रापणमेतेषां सर्वेषां लक्ष्यमस्ति। एवं च नानाशास्त्रेषु आपाततो दृश्यमानो मिथो विरोधो वस्तुतो विचाराणां विकासस्य एकैकसोपानानि विद्यन्ते। व्यासवाल्मीकिकौटल्यकालिदासाचार्य-शंकराभिनवगुप्तसायणाचार्यकुमारिलभट्टाप्पयदीक्षितादिविभूतिभिरपि भारतीयशास्त्राणामालोड़न-लेखनप्रवचनानि अनयैव दृष्ट्या विहितानि विद्यन्ते। चरित्रनायकशास्त्रि महोदयानां विचार सरणिः एवमेव व्यापिका समन्वयात्मिका चास्ति।

यदा ते राजनीतिशास्त्रस्य प्रवचनं कुर्वन्ति तदा तेषां विचारधारायां नानाशास्त्राणां प्रभायाः तेषामुपयोगिताव्यावहारिकतयोश्च श्रवणविचार-चिन्तनविषयत्वं सिद्धं भवति। तेषां कथनानुसारं वेदादिशास्त्राणां यत् उक्तराजनीतिशास्त्रानुसारं देशस्य नवयुवकनागरिकेषु देशप्रेमराष्ट्रीयता समदर्शितानामभिभावं भरणाय स्वदेशीयशिक्षायां प्राथमिकत्त्वं देयमिति।

स्वस्य विश्लेषणात्मकविचारेण अध्ययनसरण्या च तैः दुरूहनव्य-न्यायभाषाणां द्वाविंशतिपदार्थेषु विभागं विधाय तासां बोधनस्य नव्यग्रन्थीय-निष्कृष्टपद्धतिः पृथङ्निस्सारिता विद्यते। एवं तस्य नव्यन्यायस्य तर्ककर्कश-भाषा सुगमा भाविता। ते द्वाविंशतिः पदार्थाश्चैवं सन्ति—

प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽवच्छेदकताऽवच्छेद्यता निरूप्यता निरूपकता प्रतिवद्धयता प्रतिबन्धकता प्रयोजकता प्रयोज्यता विषयता विषयिता संसर्गता कार्यता कारणता द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः इति। एतेषां सर्वेषां पदार्थानां परिचयं मिथस्तेषां सम्बन्धं च सोदाहरणं सम्बोध्येमे जिज्ञासून् नव्यन्यायभाषायां परिचितान् भावयन्ति। श्रुतिस्मृति पुराणेषु आधारितयोः भारतीयपरम्पराविचारधारयोरक्षुण्णतायै ते शास्त्रीयविचार-चिन्तनयोराधारं नव्यन्यायीयपञ्चावयवयुक्ता मीमांसाविचार पद्धतिः मन्यन्ते। तया विचारपद्धत्या तेषां शास्त्राणाम् अवलोकने "आपाततस्तेषु दृश्यमानमिथो-विरोधस्तदाभासमात्रम् इति सिद्ध्यति।

हिन्दुकोऽनिर्माणावसरे पूनाप्रान्ते (पुण्यपत्तने) एका भारतीय-विद्वत्-परिषन्निर्मिता आसीत्। तत्र एभिः नियामकस्थानमलंकृतमभूत् यत्र बम्बई प्रान्तस्य उच्चन्यायधीशन्यायमूर्ति श्रीदिवेटिया एवं न्याय मूर्ति श्रीलोकर-

महोदयश्च निर्णायकौ (मध्यस्तौ) आस्ताम्। तस्यां सभायां श्रीशास्त्रीमहोदय-वर्णिता प्राचीनपक्षसमर्थनपद्धतिः तयोर्मध्यस्थयोः महाराष्ट्रीयसाहित्यसम्राट् न. चि. केलकरमहोदया इतरसर्वविचारः कवर्गस्य चातयन्तप्रभावकारिका सम्पन्ना आसीत्। एवमेव एतस्यैव विषयस्य विचारार्थं भद्रपुर्यामप्येका विद्वत्परिषद् आसीत् यत्रतत्रोपस्थिता अनेके व्यवहारपण्डिताः प्राड्विवाका मीमांसकपण्ड्तगणश्च श्रीशास्त्रिमहोदय-विचारेण प्रभाविता अभूवन् वेदापौरूषेयत्वसम्बन्धे तत्पूर्वतन्यामेकस्यां मद्रासविद्वतपरिषदि तैः निर्भयैः शास्त्रीयदृष्टिकोणः पुरस्कृतोऽभवत्। यस्य विस्तारोऽएतेषां व्याख्यानानां निष्कर्षोऽधुना हिन्दीभाषायां सन्नद्धोऽभवत्।

पञ्चमहाभूतपरिषत् त्रिदोषपरिषच्च हिन्दुविश्वविद्यालये आहूते अभूताम्। तत्र तैः दर्शनायुर्वेद पक्षयोरत्यन्त-कुशलतया समर्थनं विहितम् अभवत्।

पाटलीपुत्रे काशीहिन्दूविश्वविद्यालये च सम्पन्नासु प्राच्यविद्यापरिषत्सु एतैः विद्वत्परिषदां नेतृत्वं विहितमभवत्।

पूनानगर्यां भूतपूर्वराष्ट्रपतिराधाकृष्णन्महोदयस्याध्यक्षत्यां एतेषां षष्ट्यब्दपूर्तिमुपलक्ष्य अभिनन्दनसमारोहे जनताद्वारामहतोत्साहेन सम्पन्नोऽभवत्। काश्यां सम्पन्ने एतेषां षष्ट्यशब्द पूज्युत्सवे स्व.म.म. श्री गिरिधरशर्मचतुर्वेदि-नामध्यक्षतायां सर्वे विद्वांसः श्री मदादित्यनाथझाप्रभृतिमहोदयाश्च एतेषामभिनन्दने भागं गृहीतवन्तोऽधिभवन्।

काशीनरेशश्रीविभुतिनारायणसिंहमहोदयेन स्वस्य सर्वविद्याधर्मादि-समस्तकार्येषु चैते निर्देशका निर्मिता विद्यन्ते। देशे पञ्चाङ्गविवादोयोऽद्य प्रचलितो विद्यते तत्र प्राचीनपक्षसमर्थनं तैः येन प्रकारेण विहितम् यत्र ज्योतिषसिद्धान्तस्य सर्वेषां (मैसूर) बेङ्कटसुब्बाशास्त्रिप्रभृति प्राचीन ज्योतिशास्त्रविदुषां पूर्णसमर्थनं-प्राप्तमस्ति। स प्रकारः सर्वेषां मौहूर्तिकानांमद्-भूतसागरे निमज्जयिता अभवत् एतेषां विद्वत्तया प्रसन्नाः श्री १००८ कांचीशंकाराचार्यमहोदया एतान् शास्त्ररत्नाकरपदव्या अलंचक्रुः।

एतेषां कृतयः–

न्यायशास्त्रधर्मशास्त्रमीमांसाशास्त्रराजनीतिसाहित्यविषयान् सरलान् सुबोधान् उपयोगिनश्च भावयितुं तत्र भवद्भिरेतान् विषयान् प्रति टीकाग्रन्थेषु च लेखस्य पुस्तिकाया व्याख्यानानां च संकलनं प्रकाशितं विद्यते। तेषु केषाञ्चन नामानीमानि—

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यामपूर्णरामरूद्रीटीकाया: पूर्णता।
२. टिप्पण्या सार्धं सांख्यतत्त्वकौमुद्या: सम्पादनम्।
३. जयमंगलोपाध्यायनिरपेक्षाटीकाभ्यां सार्धका-मन्दकीयनीतिसारस्य सम्पादनम्।
४. कालिदासनिरङ्कुशता निराकृति:।
५. सनातनधर्म प्रदीपे विस्तृता टिप्पणी।
६. अवच्छेदकत्वादिविमर्श:।
७. शान्ति का अग्रदूत ग्रन्थ:।
८. वेदापौरुषेयत्वविचार:।
९. हिन्दुधर्मस्वयायेगप्रश्नोत्तरम्।
१०. शतशो निबन्धा: साङ्गवेदविद्यालयीय वार्षिकविवरणेषु मुद्रिता:

एतदतिरिक्ता अभिननदनग्रन्थेषु प्रकाशिता लेखसुची वृहत्यस्ति। एवमेव प्रकारेण गीर्वाणवाग्वर्धिन्या: सभायास्तत्त्वावधाने एतै: धर्म-शास्त्रादिविविध प्रश्नानां शास्त्रीयव्यस्थानुसारं निर्णयो दत्त:। संख्यायामिमे एकसहस्रतोऽधिका: स्यु:। सर्वे लिपिबद्धा: सन्ति। अधुना तेषां प्रकाशनं अवशिष्टम् अस्ति।

तत्र भवतां तेषामुपयुक्तविशिष्टवैदुस्यद्वारा प्रभावितेन भारतीयशासनेन ते पद्मविभूषणोपाधिना गौरवान्विता भाविता: इति।

तृतीय अध्याय

प्रमाण की उत्पत्ति, प्रयोजन, परिभाषा, भेद एवं संख्या–

१. वैदिक दृष्टिकोण
२. जैन दृष्टिकोण
३. बौद्ध दृष्टिकोण
४. सांख्य दृष्टिकोण
५. वेदान्त दृष्टिकोण
६. पूर्व मीमांसा दृष्टिकोण

प्रमाण की उत्पत्ति–

मानवीय तत्त्व के दो पक्ष होते हैं। इन दोनों तत्त्वों के सामञ्जस्य में ही मानव-जीवन का सामञ्जस्य है।

प्रथम पक्ष भावापेक्षी अथवा हृदयापेक्षी होता है; तथा दूसरा तत्त्व बुद्धि प्रधानापेक्षी होता है।

हृदय कहता है कि-सोचो मत विश्वास करो बुद्धि कहती है कि-बिना समझे विश्वास मत करो वरन विचार करो।

अब हमारे समझ यह गम्भीर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि हृदय बड़ा है कि बुद्धि? परन्तु वास्तविकता यह है कि-कहीं हृदय को बुद्धि का अनुचर बनना पड़ता है; तथा कहीं हृदय को बुद्धि की सहायता करने में बुद्धि को हृदय की अनुचरी बनना पड़ता है।

इस प्रकार दोनों को एक दूसरे के साथ सामञ्जस्य करना पड़ता है। परन्तु सामञ्जस्य का तात्पर्य समानता नहीं वरन पारस्परिक सहयोग है।

यही कारण है कि इस संसार में मानव भी दो तरह के होते हैं—

१-बुद्धि-प्रधान २-हृदय प्रधान।

बुद्धि प्रधान मानव ही यह कहता है कि-"तुम अपनी बातों को सिद्ध करने के लिये साक्ष्य या प्रमाण दो। अन्यथा हम नहीं मानेंगे।

यहाँ तक कि जो इस संसार से पार होना चाहता है; वह भी प्रमाण को ही आधार स्वीकार करता है।

श्री गङ्गेशोपाध्याय जी का कथन है कि-"परम कारूणिक मुनि ने इस दुखपङ्क में निमग्न संसार को उद्धार की इच्छा से ही-१८ विद्याओं में श्रेष्ठतम (न्यायशास्त्र) की रचना की।

अतः संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं; वे प्रमाणों पर ही व्यवस्थित हैं।

यह लोक परिक्षित विषय है कि-किसी वस्तु के परिचय में सर्वप्रथम उसका लक्षण या चिह्न विशेष ही बताया जाता है। बाद में उसकी विशेषतायें अथवा गुणधर्म का विवेचन किया जाता है। जिससे उस वस्तु का पूरा परिचय मिल जाता है।

प्रमाण लक्षण विप्रतिपत्ति–

अब प्रश्न यह उठता है कि-प्रमाण का क्या लक्षण है। तथा लक्षण किसे कहते है; वह कितने प्रकार का होता है।

सर्वप्रथम हमें यह जानना चाहिये कि लक्षण किसे कहते हैं-तथा उसका क्या स्वरूप है—

लक्षण का व्युत्पत्तिपरक लक्षण है-(लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्) अर्थात् जिससे कोई वस्तु लक्षित हो- अथवा ज्ञात हो-वह लक्षण है।

लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं १-व्युत्पत्तिमूलक २- स्वरूप निर्वचन मूलक। लक्षण का (व्युत्पत्तिमूलक) लक्षण- लक्ष्य के कार्य या व्यापार की ओर तो संकेत करता है परन्तु उसके आधार पर वस्तु की समग्रता का बोध नहीं होता।

परन्तु (स्वरूपमूलक लक्षण) के आधार पर वस्तु की समग्रता का भी बोध हो जाता है।

अतः स्वरूप निर्वचन मूलक लक्षण को ही हम समुचित लक्षण स्वीकार करते हैं। अर्थात् (असाधारण धर्मो लक्षणम्) इसका तात्पर्य है कि—किसी वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं।

जैसे-पृथ्वी का लक्षण (गन्धवत्त्व है) वास्तव में किसी वस्तु का यही लक्षण दोषशून्य होता है।

प्रमाण के लक्षण का निर्वचन भी दोनों दर्शनों में यथा (आस्तिक और नास्तिक) में दोनों प्रकार से किया गया है।

प्रमाण का यह लक्षण मुख्यतः दो रूपों में उपलब्ध है—

(प्रमाकरण) और (उपलब्धिसाधन) इसमें प्रथम प्रायः सभी प्रमाण-ग्रन्थों में उपलब्ध है; जब कि-द्वितीय न्याय-सूत्र भाष्य व उनके टीकाओं में।

महर्षि गौतम ने प्रमाण सामान्य का लक्षण नहीं किया है। इसकी पूर्ति भाष्यकार वात्स्यायन ने (प्रमाण) शब्द का निर्वचन-पूर्वक प्रमाणों का सामान्य लक्षण बना कर की।

अर्थात् (उपलब्धि साधन) प्रमाण हैं। यह समाख्या नाम के निर्वचन सामर्थ्य से जाना जा सकता है। क्योंकि प्रमाण शब्द करण अर्थ को बतलाता है। उपलब्धि का अर्थ ज्ञान है; यह स्वयं सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। इसका परिस्कृत रूप भासर्वज्ञ ने दिया—सम्यगनुभव-साधन प्रमाण है।

ऐसा लगता है कि महर्षि कणाद ने प्रमाकरण रूप प्रमाण का लक्षण-हेतु, लिङ्ग, प्रमाण और करण इन शब्दों को पर्यायवाचीक रूप में प्रतिपादित किया है। बाद में अनेक दर्शनों में यह लक्षण स्वीकार हुआ। जो (प्रमायाः करणं प्रमाणं) "प्रंमाकरणं प्रमाणम्" अनेक स्थलों पर प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति भी लक्षण के रूप में या लक्षण समर्थन के रूप में प्राप्त होती है। "प्रमाता येनार्थं" प्रमिणोति तत् प्रमाणम्; अर्थात्-ज्ञाता जिससे अर्थ का ज्ञान करता है वह प्रमाण है। अर्थात् प्रभाचन्द्र ने भी व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है। जो निम्नलिखित है।

"प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयतेऽव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत् प्रमाणम्" अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ प्रकर्षण रूप में अर्थात् संशयादि का खण्डन होने से विना व्यवधान के जाना जाता है; वह प्रमाण है।

कणाद ने स्वीकार किया कि—"इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रमाण है।" क्योंकि-यह ज्ञानोत्पत्ति का साधन है।

वात्स्यायन भाष्य में भाष्यकार ने प्रत्यक्ष विवेचन के प्रसंग में सन्निकर्ष अथवा ज्ञान को वृत्ति (प्रमाण) कहा है।

उद्योतकर ने एक स्थल पर कहा कि-"इन्द्रियं खलु अर्थप्रकाशकत्वात् प्रमाणम्" अर्थात् इन्द्रिय अर्थप्रकाशक होने से (प्रमाण) हैं।

इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के अनुसार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और ज्ञान तथा इन सवों का समुदाय ही प्रमाण है।

सांख्य-योग के अनुसार वृत्ति ही प्रमाण है।

व्यास-भाष्य के अनुसार प्रमाण का स्वरूप–

इसके अनुसार विशेषावधारण प्रधानवृत्ति ही प्रमाण है। जिसे उसने प्रत्यक्ष-प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

अनुमान-प्रमाण-सामान्यावधारण प्रधानवृत्ति को कहते हैं।

तथा शब्द से जायमान शब्दार्थविषयकवृत्ति को अनुमान-प्रमाण स्वीकार किया है।

विज्ञानभिक्षु-ने वृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए अपने भाष्य में लिखा है कि-यदि प्रमारूप फल पुरुषनिष्ठ मात्र माना जाता है; तो बुद्धि वृत्ति ही प्रमाण है। और यदि बुद्धि-निष्ठ मात्र प्रमा है; तो इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार भी प्रमाण का यही स्वरूप है—

वेदान्त परिभाषा के अनुसार प्रमाण का स्वरूप–

"अन्त:करणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण-चैतन्य कहा गया है।

बौद्धों के अनुसार प्रमाण का स्वरूप–

प्रमाण-समुच्चय की टीका में (अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाण सामान्य-लक्षणम्। प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति ने (अविसंवादी ज्ञान) को प्रमाण बताया है। तथा अविसंवादन का अर्थ अर्थ-क्रियास्थिति को अविसंवाद कहते हैं। तथा अविसंवादक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) कहा है। और संवादक ज्ञान उसे निरूपित किया जो स्वयं द्वारा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त करा देता है। (अत: अनधिगत विषयक ज्ञान ही प्रमाण है; अधिगत विषयक ज्ञान प्रमाण नहीं है।

प्रभाचन्द ने समन्वय करते हुए "अज्ञातार्थ प्रकाशन संवाद को" बौद्ध-सम्मत लक्षण कहा है। भाट्टमीमांसक सम्मत प्रमाण का लक्षण है—

(अनाधिगतार्थ गन्तृ प्रमाणम्)-इसे देखने से ऐसा लगता है कि-भाट्ट भी बौद्धों की तरह ज्ञान को प्रमाण मानते हैं।

नारायण भट्ट ने-कहा है कि-तर्कपक्षवत्-अर्थात् नैयायिकों के अनुसार यहाँ पर भी "प्रमाकरण ही प्रमाण है।

प्रभाकर-मतानुयायियों के अनुसार (अनुभूति) ही प्रमाण है।

स्मृति से भिन्न ज्ञान को ही अनुभूति कहते हैं। इसके अनुसार समस्त ज्ञान यथार्थ होते हैं। स्मृति भी यथार्थ है।

जैन-चिन्तन में प्रमाण का स्वरूप–

जैन-दर्शन में प्रमाणों का परम्परागत ढङ्ग से विवेचन हुआ है। जिसको व्यवस्थित स्वरूप देने का श्रेय उमास्वाति के तत्त्वार्थ स्वरूप को है।

इस पर निबद्ध अपने श्लोक वार्तिक में विद्यानन्द ने (स्व) और (अर्थ) (विषय) के निश्चय करने वाले ज्ञान को (प्रमाण) माना है। इसी को शब्दान्तर से सिद्धसेन ने (स्व) और (पर) के आभासक वाध रहित ज्ञान को प्रमाण माना है। जो स्वयं का भी प्रकाशक हो।

वादिदेवसूरि और यशोविजय के प्रमाण-लक्षण, तत्त्वार्थ श्लोक के लक्षण के सदृश है। अर्थात् इन्होंने स्वप्रकाश ज्ञान को प्रमाण माना है।

आचार्य हेमचन्द ने (गृहीत) अधिगत विषय ग्रहण करने वाला ज्ञान ही (प्रमाण) स्वीकार किया है।

इस प्रकार व्युत्पत्तिमूलक और स्वरूपात्मक लक्षण—(प्रमाण) के ये दोनों लक्षण प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है।

परन्तु ध्यान से देखने पर यह दृष्टिगत होता है कि-न्याय वैशेषिकों की रूचि मुख्यतः व्युत्पत्तिमूलक लक्षण (प्रमाकरण) पर केन्द्रित है। जब कि-जैन बौद्धों का स्वरूपात्मक लक्षण पर। मीमांसक पहले (बौद्ध-प्रभाव) में थे बाद में (न्यायपक्ष) पर। ये दोनों लक्षण स्पष्टतः सांख्य-योग और अद्वैत-वेदान्त में मिलते हैं। इस अभिरूचि में तत्त्व-मीमांसा का प्रभाव अभिलक्षित होता है।

न्याय-वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन है; और उसके आरम्भ में कार्य-कारण सिद्धान्त का मुख्य योग है। अतः करण की महत्ता ये ज्यादातर स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार यदि हम प्रमाण लक्षणों पर दृष्टिपात करे; तो प्रमाण-स्वरूप की अवधारणा से सम्बन्धित कई विशेषताओं का उसमें दर्शन होता है।

यहाँ पर हम दो एक विशेषताओं पर दृष्टिपात करेंगे—

अब प्रश्न यह उठता है कि-प्रमाण बनने की शक्ति किसमें होती है?

जिसके सम्बन्ध में पण्डित सुखलाल जी ने दार्शनिकों के मतभेद के पाँच पक्ष प्रस्तुत किये।

१-इन्द्रियाधिपत्य २-अनिन्द्रियाधिपत्य ३-उभयाधिपत्य ४-आगमाधिपत्य और ५-प्रमाणोपप्लव।

इसका सार यह है—

१-चार्वाक इन्द्रियाधिपत्यवादी है। क्योंकि-यह उसी बात पर विश्वास करता है; जो आँख से देखी गयी हो। सुनी हई न हो।

२-अनिन्द्रियाधिपत्य—इसका तात्पर्य है जो इन्द्रियों से भिन्न और अन्त:करण-मन, चित्त और आत्मा ये तीन इन्द्रिय भिन्न कहे जा सकते हैं। इनमें से चित्त को प्रमाण मानने वाला विज्ञानवादी, शून्यवादी और अद्वैत-वेदान्ती अनिन्द्रिय प्रमाणवादी हैं। इसके अनुसार इन्द्रियाँ यथार्थ ज्ञान के उत्पत्ति में सर्वथा समर्थ नहीं हैं।

अर्थात् वही ज्ञान यथार्थ है; जो विशेषत: शुद्धचित्तद्वारा होता है।

वाधित ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता भले ही उसकी लौकिक प्रामाणिकता सिद्ध हो।

३-न्याय वैशेषिक सांख्य-योग और मीमांसा आदि उभयापत्य है। इसके अनुसार इन्द्रिय तथा मन ये दोनों ही यथार्थ ज्ञान के उत्पत्ति में समर्थ हैं। प्रमाण हैं, कहीं एक को दूसरे की सहायता अपेक्षित है; और कहीं कहीं दोनों पृथक् पृथक् कार्यों का सम्पादन करते हैं।

४-आगमाधिपत्य-जो किसी क्षेत्र में वेद के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रमाणता को अस्वीकृत करता है। न तो इन्द्रियों को और न तो अन्त:करण को। यह सिद्धान्त पूर्वपक्ष मीमांसा का है।

५-प्रमाणोप्लवादी-यह प्रमाणों का उपलब्ध अर्थात् बाध; अव्यवस्था स्वीकृत करता है। अर्थात्-जहाँ पर इन्द्रिय, अनिन्द्रिय या आगम में प्रमाण बनने की शक्ति नहीं होती है।

इसको मानने वाले परम कोटि के चार्वाकी है। इसका प्रतिपादन जयराशिभट्ट के तत्त्वोपप्लव सिंह में हुआ है।

प्रमाण-स्वरूप विषयक-वाद–

दार्शनिकों का दृष्टिकोण जिस प्रकार प्रमाण शक्ति के विषय में

मतवैभिन्यता रखता है; उसी प्रकार प्रमाण के स्वरूप के विषय में भी विभेद रखता है। जिसका संकेत हमें प्रमाण के स्वरूप मूलक लक्षणों में मिल चुका है।

कोई इन्द्रिय को प्रमाण मानते हैं; कोई इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को, कोई बुद्धि वृत्ति को तो कोई ज्ञान को। इस प्रकार (१) सन्निकर्षवाद (२) सामग्रीवाद (३) वृत्तिवाद (४) ज्ञातृव्यापारवाद (५) ज्ञानप्रमाण-वाद के प्रमुख पक्षों का खंडन मंडन प्रमाण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

यहाँ पर प्रत्येक पक्ष का विवेचन हम प्रस्तुत करेंगे।

१-सन्निकर्षवाद–

अर्थात् सन्निकर्षवाद उसे कहते हैं जिसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रमाण माना जाता है। अर्थात् करण होने के नाते सन्निकर्ष प्रमाण है। अब प्रश्न यह उठता है कि करण किसे कहते हैं-तो (साधकतमं करणं) साधकतम उसे कहते है; जिनके होने पर क्रिया अवश्य हो तथा न होने पर न हो।

"तद् भावे तद्भावः तदभावे तदभावः"

साथ ही करण (प्रमाण) में असाधारण कारणता भी रहती है। ये सन्निकर्ष न्याय-वैशेषिकों के अनुसार छः होते हैं। १-संयोग २-संयुक्त-समवाय ३-संयुक्त समवेत समवाय ४-समवाय ५-समवेत-समवाय और विशेषण-विशेष्य भाव।

भाट्ट मीमांसक और प्रभाकर तीन तीन सन्निकर्ष मानते हैं।

कुमारिल भट्ट सन्निकर्षवाद के समर्थक हैं और नहीं भी हैं। इन्होंने सम्प्रयोग का अर्थ इन्द्रिय व्यापार, विषय की ऋजुदेश-स्थिति और इन्द्रिय की योग्यता करके सन्निकर्षवाद का खंडन किया। परन्तु अन्तः यह कह दिया कि सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में कोई दोष नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती है।

ज्ञानवादियों ने इसके सम्बन्ध में तर्क दिया है कि-आकाश के साथ चक्षु का संयोग है; किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु किसी वस्तु के विशेषण द्वारा उस वस्तु के विशेष्य का ज्ञान हो जाता है। जिसमें सन्निकर्ष का बिलकुल सहयोग नहीं रहता है।

इसके अनुसार जड़ सन्निकर्ष अर्थ का प्रकाशक नहीं होता। क्योंकि जड़ सन्निकर्ष में अर्थ-प्रकाशकत्व की शक्ति नहीं होती ।

२-सामग्री-वाद–

समग्र के भाव को सामग्री कहते हैं—इसका तर्क यह है कि साधकतम अर्थात् अतिशयवान् साधन को करण (प्रमाण) कहते हैं।

सभी कारणों के रहने पर क्रिया होती है और एक के भी न रहने पर क्रिया नहीं होती। अतः समग्र में अतिशय है; वही साधकतम प्रमाण है। इसका खण्डन भी इस आधार पर होता है कि ज्ञान के तुरन्त बाद ही किसी वस्तु का अवगम होता है; सामग्री के बाद नहीं। साथ ही उसी सामग्री को करण मानना और पृथक् रूप में कर्ता कर्म आदि मानना युक्तिसंगत नहीं है।

इसे कोई नहीं कहता कि मैं सामग्री से देखता हूँ।

३-वृत्तिवाद–

इन्द्रियों के या बुद्धि के विषयाकार परिणाम को (वृत्ति) कहते हैं।

इसके अनुसार चक्षु-सन्निकर्ष होने पर बुद्धि इन्द्रियप्रणाली द्वारा बाहर निकलकर विषयाकार में परिणित होकर पुरुष में प्रतिविम्बित होती है।

जयन्त भट्ट ने इसका खण्डन करते हुए बताया कि-कार्यकर्ता और फलभोक्ता भिन्न नहीं हो सकता। जबकि- उपर्युक्त वाद के अनुसार बुद्धि वृत्ति रूप प्रमाण का फल पुरुषनिष्ठ बोध होता है।

इसका खण्डन करते हुए प्रभाचन्द ने कहा कि-वृत्ति का तात्पर्य विषयदेश में गमन नहीं हो सकता। क्योंकि-यह प्रत्यक्ष विरूद्ध है कि-विषय का आकार इन्द्रियाँ धारण करती हैं। वृत्ति को विषयोन्मुखता के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं। इन्द्रियाँ गौण प्रमाण तो हैं ही।

४-ज्ञातृव्यापारवाद–

पार्थ सारथी मिश्र के अनुसार—ज्ञान क्रिया के द्वारा कर्मभूत आत्मा और कर्मभूत अर्थ का जो पारस्परिक व्याप्य व्यापकलक्षण सम्बन्ध है वह मानस-प्रत्यक्ष से अवगत है। वही विज्ञान को उत्पन्न करता है।

ज्ञान-प्रमाणवाद–

ज्ञान को ही प्रमाण मानने वाले बौद्ध और जैन हैं। ज्ञान को प्रमाण मानने में पूर्वोक्त 'साधकतम रूपी तर्क है। अर्थात् ज्ञान के होने पर ही अर्थ का प्रकाश होता है, और ज्ञान अव्यवहित होता है। ज्ञान में ही हिताहित-प्राप्तिपरिहार का सामर्थ्य है। यही सर्वपुरूषार्थसिद्धि में हेतु है।

परन्तु इसका भी खण्डन इस कारण करते हैं कि-एक ही ज्ञान प्रमाण और प्रमा (साधन और फल) दोनों नही हो सकता। इसी खण्डन के आधार पर हम बौद्धों के निर्विकल्पवाद का भी खण्डन कर सकते हैं।

श्री केशवमिश्रविरचित तर्कभाषा की हिन्दी टीका में पं० वदरीनाथ शुक्ल जी ने न्याय-शास्त्र की तीन प्रवृत्तियों-यथा-प्रमाण, प्रमेय और संशय में-सर्वप्रथम प्रमाण को स्वीकार किया। जिसकी महत्ता न्याय-वैशेषिक इत्यादि में भी स्वीकार किया गया है और यहाँ तक स्वीकार किया गया कि-प्रमाण के ही आधार पर प्रमेय व्यवस्थापन किया जाता है।

विभिन्न विद्वानों ने (आस्तिक और नास्तिक नैयायिकों ने) अपने अपने दृष्टिकोंणो से प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत किया।

सर्वप्रथम न्याय-शास्त्र के उद्‌भावक महर्षि गौतम हैं; जिनका आधार लेकर श्री केशवमिश्र ने प्रमाण का लक्षण स्वीकार करते हुए लिखा है कि-प्रमाकरणं प्रमाणम्। इस लक्षण वाक्य मे प्रमाकरण शब्द लक्षण का बोधक है। और प्रमाण शब्द लक्ष्य का बोधक है। इसके अनुसार प्रमाण रूप लक्ष्य का लक्षण हुआ प्रमाकरणत्व। अर्थात्-प्रमाया: करणं प्रमाणं जब हम कहते है तो प्रश्न-यह सहज ही उदित होता है कि-प्रमा क्या है; जिसके कारण को हम प्रमाण स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विश्व का कोई ऐसा दार्शनिक नहीं है; जो किसी न किसी रूप में चेतन-तत्त्व की या ज्ञान की सत्ता स्वीकृत न करता हो।

भारतीय दार्शनिकों ने इस विषय पर दो पक्ष दिये हैं। जिन्हें हम ख्याति-वाद और अख्याति-वाद के रूप में स्वीकार करते हैं।

प्रभाकर मीमांसकों का कहना है कि-ज्ञान कभी अयथार्थ होता ही नहीं; अपितु समस्त ज्ञान यथार्थ होता है। भ्रम का कारण ज्ञानगत दोष नहीं; अपितु दोष विषयगत और विषयीगत (ज्ञाता) होते हैं। यही कारण है कि इन्हें अख्यातिवादी कहा जाता है।

दूसरा पक्ष—ज्ञान को भ्रमात्मक स्वरूप में स्वीकार करता है। इस पक्ष में यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान में आगन्तुक या स्वाभाविक कोई दोष अवश्य होता है। जिसके कारण वह अपने विषय को यथेष्ट प्रकाशित नहीं कर पाता है।

परन्तु इसी बिन्दु पर दार्शनिकों में मतभेद है। इसी मतभेद के कारण-सत्ख्यातिवाद असत्ख्याति-वाद, अन्यथाख्यातिवाद और अर्निव-चनीयख्यातिवाद की सृष्टि हुई।

चाहें जो कुछ भी हो; ज्ञान अपने व्यापारगत भेद के कारण स्वतः भिन्न हो जाता है। जिसके परिणाम-स्वरूप उनके दो स्वरूप प्राप्त होते हैं- ज्ञान और अज्ञान; विद्या और अविद्या; प्रमा और अप्रमा।

इसी के आधार पर प्रमा के करण को प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

व्युत्पत्ति–

'प्र' उपर्सग पूर्वक 'माङ्' माने धातु से 'अङ्' प्रत्यय और 'टाप्' प्रत्यय होने पर (प्रभा) शब्द की निष्पत्ति होती है।

प्र उपसर्ग का अर्थ प्रकर्ष (अतिशयिता) और 'मा' का अर्थ मान है; अर्थात् ज्ञान है तात्पर्य यह है कि-अपने प्रकर्ष रूप में ज्ञान प्रमा कहलता है; और सामान्य रूप में ज्ञान।

अर्थात्-ज्ञान अपने (स्वगत स्वरूप अथवा प्रकर्ष) में प्रमा कहलता है। अन्यथा वह अप्रमा रह जाता है।

प्रमा शब्द की व्युत्पत्ति दूसरे रूप में इस प्रकार है—प्रमीयते-प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छियते इति प्रमा। अर्थात्-संशयादि का व्यवच्छेद-अभाव प्रकर्ष है। संशय-अप्रमा के भेद को कहते हैं। तथा अप्रमा उसे कहते है; जो प्रमा न हो-अर्थात्-(न प्रमा अप्रमा)। प्रमा का लक्षण देते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा करते है-

स्मृति भिन्न अर्थाव्यभिचारी (अविनाभावी) उपलब्धि को प्रमा कहते है।

उदयनाचार्य—(सम्यग् परिच्छित्तिः) अर्थात् विषय के (सम्यक्) यथोचित प्रकाश-विषयान्तर से पृथक्करण को प्रमा कहते है। ज्ञान-विषय का परिच्छेदक कहा जाता है; अतः इस शब्द का अभिप्रेतार्थ जान

लेना चाहिये। किसी वस्तु का ज्ञान या प्रकाश होने का तात्पर्य; उसका पृथक् रूप से भाषित होना। उदाहरणार्थ-किसी कमरे में कई चीजें पड़ी हो परन्तु अन्धकार होने के कारण किसी वस्तु को हम न देख पाते हो; क्योंकि अन्धकार के कारण सभी की एकरूपता हो गई है। परन्तु जब हम अभीष्ट वस्तु पर रोशनी जला कर देखते हैं; तो अभीष्ट वस्तु की स्थिति (अस्तित्व) पृथक् रूप में भाषित होती है।

समप्रकाश होने पर किसी वस्तु का सही ज्ञान तब तक नहीं हो सकता; जब तक हम अपने दृष्टि को उस पर केन्द्रित न कर लें। अर्थात् अपनी वृत्ति तदाकार या (तदापन्न) न कर लें। अतः यह स्पष्ट है कि "परिच्छेद" और "परिच्छित" जैसे शब्दों का ज्ञान-व्यापार के लिये प्रयोग होना सङ्गतिपूर्ण है।

अस्तु आचार्य उदयन के अनुसार यथार्थानुभवः प्रमा को भी प्रमा का लक्षण कह सकते हैं। बाद के न्याय-वैशेषिक-परम्परा में भी प्रमा का प्रायशः यही लक्षण गृहीत है।

तर्कसंग्रहकार ने "अनुभव" के दो भेद स्वीकार करते हुए-यथार्थानुभवः को प्रमा और अयथार्थानुभवः को अप्रमा स्वीकार किया हैं। यही कथन तर्कभाषा का भी है।

कारिकावली में "जहाँ जिसका अभाव है; वहाँ उसके ज्ञान को "अप्रमा" और भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रमा कहते है। वहीं प्रमा का दूसरा लक्षण भी उल्लिखित है "तदवदविशेष्यक-तत्प्रकारक ज्ञानं" इसी से मिलता जुलता लक्षण चिन्तामणि-कार ने भी प्रस्तुत किया है। भाट्टमीमांसक भाट्टचिन्तामणि कार को इसी परम्परा का अनुवर्तन करते हुए पाते हैं।

अर्थात्—किं नाम प्रमात्वम्? "यथार्थानुभवत्वम्" प्रमा क्या है? मान मेयोदयकार नारायण भट्ट ने न्याय पक्ष से इस अंश से अपना मतभेद बताते हुए "अज्ञाततत्त्वार्थ ज्ञान" को प्रमा कहा है। प्राभाकरों के अनुसार- "अनुभूतिः प्रमाणम्" यह प्रमाण-लक्षण प्रमा का है।

अर्थात् प्रमाण शब्द की भाववाची व्युत्पत्ति करने से प्रमाण का अर्थ प्रमा और प्रमाण लक्षण प्रमा बन जाता है। वेदान्त-परिभाषा-में प्रमा का लक्षण दो स्वरूपों में प्राप्त होता है-एक स्मृति में प्रमा मान कर; और दूसरा स्मृति का व्यावर्तन कर।

जब हम स्मृति का व्यावर्तन करते है; तब वह ज्ञान प्रमा है; अर्थात् वह प्रमा जिसका विषय अनधिगत और अबाधित होता है।

परन्तु जब स्मृति को प्रमा मानते हैं तो अबाधित विषयक ज्ञान प्रमा कहलाता है। यह कहना पर्याप्त है।

प्रमा के सम्बन्ध में सांख्य-योग ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए- बुद्धि वृत्ति या पुरुषनिष्ठ चित्तवृत्तिबोध को प्रमा स्वीकार किया है। व्यास-भाष्य में "अविष्ट पुरुषनिष्ठचित्तवृत्तिबोध प्रमा है"-इनका कथन है कि- यद्यपि पुरुष में किसी प्रकार के बोध की उत्पत्ति नहीं होती; किन्तु चैतन्य ही बुद्धिवृत्त्याकार रूप में तदाकारता को प्राप्त हो जाता है। इसमें अवशिष्ट पद इसी ओर सङ्केत करता है। प्रमाण पद्धति मे जयतीर्थ ने यथार्थज्ञान को प्रमा कहा और स्मृति को भी प्रमा स्वीकार किया।

बौद्ध और जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार करते है। अतः इनके सिद्धान्त से प्रमाण के निर्वचन की अनिवार्यता है; परन्तु प्रमाण से भिन्न प्रमा के भिन्न निर्वचन की आवश्यकता नहीं है; बल्कि प्रमाण में ही प्रमा की स्थिति गतार्थ हो जाती है।

इनके अनुसार सम्यग्ज्ञान या यथार्थ-ज्ञान के दो रूप होते हैं; १-प्रमाणांश २-फलांश प्रमा अर्थात्-(अर्थावगति या अर्थप्रतीति ही प्रमा है।)

अब हमें यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि-प्रमाण और प्रमा का यह एकत्व तब तक हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर नही होगा जब तक कि प्रमाण-फल व्यवस्था को हम नहीं जानेंगें।

क्योंकि इसके बिना सही स्पष्टीकरण हम नहीं कर पायेंगे।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रमाण प्रमा का कारण है साध है; अतः यह स्वतः सिद्ध है कि-साधन का कोई साध्य; करण का कोई फल अवश्य होना चाहिये। यही कारण है कि-दार्शनिकों ने प्रमाण चर्चा के प्रसंग में प्रमाण फल की भी चर्चा की है। दार्शनिकों ने प्रमाण-फल के प्रसङ्ग में तीन भेद या पक्ष दिये।

१-भेदवादी २-अभेदवादी ३-भेदाभेदवादी।

१-भेदवादी-

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक आदि भेदवादी है; क्यों कि ये-प्रमाण और फल को सर्वथा भिन्न भिन्न मानते हैं।

२-अभेदवादी–

बौद्ध प्रमाण-फल व्यवस्था अभेदवादी है; क्योंकि यह-ज्ञान में रूपभेद से प्रमाण-फल की व्यवस्था करता है।

३-अंशतः अभेदवादी–

जैन दार्शनिक हैं; क्योंकि-ये स्याद्वाद के अनुरूप एक ही ज्ञान में प्रमाण फ़ल की व्यवस्था करते हैं। इसके बावजूद वे कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद स्वीकार करते हैं। भट्ट मीमांसकों को भी अंशतः अभेदवादी माना जा सकता है।

फल को भिन्न मानते हुए जयन्त भट्ट ने कहा है कि-कहीं भी क्रिया ही करण नहीं होती, क्रिया रूप साध्य में कोई कारक करण कहता है।

जैसे-मैं आँख से घड़े को देखता हूँ। यहाँ पर दर्शन सी साधन अथवा करण नहीं है; बल्कि दर्शन-क्रिया से उनका पृथग्भाव युक्त है।

न्याय-भाष्यकार ने सन्निकर्ष के प्रमाण होने पर ज्ञान को प्रमिति (फल) और जब ज्ञान प्रमाण हो; तब ज्ञान उपादान और उपेक्षा की जनक बुद्धि को ल कहा है। उद्योतकर भी कहते हैं-यदि प्रमाण शब्द भाववाची (ज्ञान प्रमाण) है, तब फल क्या है। क्योंकि विषय का अधिगम हो चुका है। हानादि बुद्धि फल है यह कहा जा चुका है।

तर्कभाषा के प्रत्यक्ष निरूपण में यह और भी अधिक स्पष्ट है।

तदनुसार निर्विकल्पक रूप ज्ञान (प्रमा) फल है; तब इन्द्रिय प्रमाण है। जब सविकल्पक ज्ञान फल है तब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रमाण है। और जब निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण है; तब हानादि बुद्धि फल है। यहाँ क्रमशः सन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार है। न्यायकन्दली भी इसी कथन का समर्थन करती है।

सांख्य के अनुसार बुद्धिवृत्ति अमुख्य प्रमा और पौरुषेय बोध-मुख्य-प्रमा है।

क्रमशः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और बुद्धि वृत्ति प्रमाण है।

बौद्ध दाशर्निक एक ही ज्ञान के दो रूप मानते हैं प्रमाण और फल। इसी को पुष्ट करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा कि—अर्थावगति के प्रति अर्थ सारूप्य प्रमाण है।

तात्पर्य यह है कि-अर्थ के रूप में जब एकरूपता आती है; तभी किसी ज्ञान में प्रमाणता आती है।

अतः ज्ञानगत अर्थ-सारूप्य ही प्रमाण है। क्योंकि बौद्ध नैयायिक बाह्यार्थ की सत्ता हो या न हो; ज्ञान के प्रकाश के सन्दर्भ में प्रमाण-फल व्यवस्था; को स्वीकार कर लेते हैं।

जैन-दार्शनिकों ने दो प्रकार के प्रमाण फल को स्वीकार किया है- १-व्यवहित २-अव्यवहित।

व्यवहित फल उसे कहते हैं; जिनके मध्य में अवान्तर व्यापार हो।

न्याय-वैशेषिक का फल व्यवहित फल ही कहलता है। यथा कहा गया है-इन्द्रियरूप प्रमाण का फल निर्विकल्पक ज्ञान है। और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी एक ज्ञान का व्यवहित फल दूसरे ज्ञान को माना है। जिससे अर्थ-प्रकाश मध्यवर्ती व्यापार प्रतीत होता है। तदनुसार प्रत्यक्ष के चार भेद-अवग्रह, इहा, अवाय धारणा और अन्य चार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान इन आठ ज्ञानों में पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तरफल माने गये हैं।

न्यायावतार—कार्तिक वृत्ति में भी भेदाभेद सिद्ध किया गया है। आत्मा से प्रमाण परमार्थतः भिन्न नहीं है। किन्तु आत्मा ही ज्ञानावरण के क्षयोपशम से युक्त होकर प्रमाण होता है। और वही अर्थप्रतीतिरूप होने का फल भी होता है।

इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों में प्रमा का विवेचन हुआ है। जो ज्ञान से भिन्न रूप में भी प्रमाण को स्वीकृत करते हैं वे प्रमा की विधिवत लक्षण-स्वरूप निर्वचन करते हैं और जो ज्ञान को प्रमाण मानते हैं वे प्रमा को तद्रूप मान कर प्रमाण-फल की व्यवस्था का युक्ति पूर्वक उपपादन करते हैं।

इस प्रकार प्रमाण से सम्बन्धित विभिन्न दर्शनों का व्यवस्थावादिता को दृष्टिगत करते हुए हमें यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक हो जाता है कि प्रमाण का स्वरूप सर्वप्रथम किस दर्शन में सर्वमान्य रूप से रहा। फलस्वरूप सहज ही यह धारणा पैदा होती है कि—सर्वप्रथम-प्रमाण-वाद की व्यवस्था गौतम के न्यायसूत्र के द्वारा प्राप्त होती हैं। परन्तु यह कथन पूर्णरूपेण समीचीन नहीं है; क्योंकि—

यदि इसके व्यापकता पर ध्यान दिया जाय तो यह सृष्टि के आदि से ही व्यहृत होती आई है।

प्रमाण चर्चा केवल तर्कयुग की ही देन नहीं है; वरन आगमों में भी प्रमाण-चर्चा पाई जाती है।

आगमों में ज्ञान और प्रमाण विषयक चर्चा होती थी। दोनों पर स्वतंत्र रूप से चिंतन भी होता था। जिसका स्पष्ट प्रमाण हमें (भगवती सूत्र) में प्राप्त होता है।

भगवती सूत्र में गौतम और महावीर के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं-भगवन् जैसे केवली अन्तिम शरीरी (जो इस भव से मुक्त होने वाला हो) को जानते हैं। वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं।

महावीर उत्तर देते हैं-गौतम वे अपने आप नहीं जानते। या तो सुनकर जान सकते हैं या प्रमाण से।

फिर गौतम ने पूछा-किससे सुनकर? केवली से......। किस प्रमाण से? महावीर ने कहा- प्रमाण की चर्चा अनुयोग द्वार सूत्र में-चार रूपों से विद्यमान है-प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमाण सामान्य का विचार करने के उपरांत प्रमाण-संख्या के विषय में हम विचार करेंगे विभिन्न दार्शनिकों के अनुसार प्रमाण संख्या के विषय में विभिन्न मत हैं।

चार्वाक्-ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया है। इन्होंने अनुमान शब्द आदि प्रमाणों को निराधार बताया है। इनके अनुसार विषय तथा इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत ही सत् है।

वैशेषिक और बौद्ध दर्शन-प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं।

सांख्य-दर्शन-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानता है।

न्याय-दर्शन-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानता है।

प्राभाकर मीमांसक-प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द, उपमान अर्थापत्ति ये चार प्रमाण स्वीकार करते हैं। भाट्ट मीमांसक-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि ये छः प्रमाण मानते हैं। इन्ही प्रमाणों

में संभव को मिलाकर सात प्रमाण मानते हैं। तथा कुछ लोग ऐतिह्य को मिलाकर आठ प्रमाण। कुछ लोग लोक-प्रमाण को मिलाकर प्रमाणों की संख्या नौ कर देते हैं। कुछ लोग इन्हीं प्रमाणों में आर्ष को मिलाकर इनकी संख्या दश स्वीकार करते हैं। सर्वप्रथम हम न्याय-दर्शन के प्रमाण-वाद पर यहाँ दृष्टिपात करेंगे।

वैदिक दृष्टिकोंण से प्रमाण का स्वरूप–

न्याय-दर्शन में प्रमाण उसे कहते हैं-जहाँ पर (प्रमा) का करण पाया जाता है। अर्थात् जो प्रमा का करण हो।

परन्तु प्रमा के कारण तो बहुत हैं;-जैसे- प्रमाता, प्रमेय आदि। तो क्या वे भी प्रमा के करण-प्रमाण है? अथवा नहीं।

प्रमाता और प्रमेय के उपस्थित रहने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु जब इन्द्रिय-संयोग का सन्निधान होता है; तो बिना किसी विलम्ब के प्रमा की उत्पत्ति होती है।

अतः इन्द्रिय-संयोग आदि ही प्रमा का कारण है। प्रमाता प्रमेय आदि नहीं।

यद्यपि प्रमा का साधकत्व-कारणत्व; प्रमाता प्रमेय इन्द्रिय-संयोग आदि में समान है; किन्तु इसी उत्कर्ष से प्रमाता, प्रमेय आदि के रहते भी प्रमा का जन्म नहीं होता; पर इन्द्रिय-संयोग आदि के सन्निहित होते ही प्रमा का जन्म होता है।

प्रमाता आदि की अपेक्षा इन्द्रिय-संयोग अतिशयित प्रकृष्ट हो जाता है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि- अतिशयित उत्कृष्ट साधक को साधकतम कहा जाता है। और साधकतम ही करण है। उसके अनुसार इन्द्रिय-संयोग आदि ही प्रमा का करण है। और वही साधकतम होने से प्रमाण है। और प्रमाता आदि उक्त रीति से साधकतम न होने से प्रमाण नहीं होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि-प्रमा का उदय तब तक नहीं होता; जब तक प्रमेय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता; किन्तु उक्त सन्निकर्ष के उदय होते ही प्रत्यक्ष प्रमा का उदय हो जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि कोई कारण तब तक कारण नहीं

माना जाता जब तक कि-उसे कार्य के उत्पादन में कारणान्तर की प्रतिक्षा नहीं करनी पड़ती। किन्तु इसलिये साधकतम माना जाता है कि-लोक ने अनादि काल से उसे साधकतम के रूप में व्यवहृत कर रखा है। अत: किसी कार्य के करण में उसके अन्य कारणों की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है कि-लोक में वह उस कार्य के करण रूप में अनादि-काल से व्यवहृत है। और अन्य कारण उस रूप में व्यवहृत नहीं है। इसलिये करण की जो परिभाषा की जाय चाहे वह साधकमं करणम् हो या (व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्) हो वह केवल (बुद्धि वैशद्य फलक है।) अथवा करण के सम्बन्ध में लोक व्यवहार के आधार की गवेषणा का एक प्रयास है।

इस प्रकार करण की परिभाषा-तो यही सबसे उत्तम हो सकती है- कि जो जिस कार्य के करण के रूप में अनादि काल से लोक में व्यवहृत हो; वह उस कार्य का करण है।

प्रमाण के चार भेद होते हैं-

१-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-उपमान ४-शब्द। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में हम विचार करेंगे।

अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण का क्या स्वरूप है? वस्तु को साक्षात् करने वाली प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है। तथा साक्षात् करने वाली प्रमा उसे ही कहा जाता है; जो इन्द्रिय-जन्य हो।

आशय-यह है कि-प्रमा का जन्म आत्मा में होता है; अत: आत्मगत-प्रमा से वस्तु का ग्रहण तब तक सम्भव नहीं होगा; जब तक कि-प्रमा और वस्तु का सामीप्य न हो।

परन्तु यह संयोग सीधा नहीं होता-बल्कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, और इन्द्रिय का वस्तु से।

इस प्रकार वस्तु का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से संयोग होने पर वस्तु आत्मा के निकटस्थ हो जायेगी। इस स्थिति में आत्मा में उत्पन्न होने वाली प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य होने से उस वस्तु को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

यहाँ पर प्रमाण शब्द और प्रत्यक्ष शब्द के प्रयोग क्षेत्र पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

प्रमाण-शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाकरण दोनों में उपलब्ध होता है।

जैसे-"अनधिगतार्थ गन्तृप्रमाणम्" इस प्रमाण-लक्षण में प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमा के लिये किया जाता है। और "प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि" इस न्याय-सूत्र में प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमाकरण के लिये किया गया है।

प्रमा में प्रयुक्त के होने वाले प्रमाण शब्द-प्र पूर्वक मा धातु से भाव अर्थ में होने वाले (ल्युट्) प्रत्यय से निष्पन्न होता है।

अतः उस (प्रमाण) शब्द का वही अर्थ है जो (प्र) उपसर्ग पूर्व (मा) धातु से -भाव प्रत्यय से प्रकृत्यर्थ में होता है।

अतः प्रमा में प्रयुक्त होने वाले भाव ल्युट् प्रत्ययान्त (प्रमाण) शब्द का (प्रमा) ही अर्थ है।

परन्तु न्याय वैशेषिक तथा अन्य दार्शनिकों ने प्रमा के जो लक्षण बताये हैं; उन सभी की समीक्षा करने पर "अनधिगतार्थ गन्तृप्रमाणम्" प्रमा का यह लक्षण (यथार्थानुभवः प्रमा) इस न्याय-सम्मत लक्षण के समक्ष नगण्य प्रतीत होता है। क्योंकि-अनधिगत अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को ही प्रमा मानने पर धारावाहिक ज्ञान स्थल में दूसरे तीसरे ज्ञानों के प्रमात्व-रक्षणार्थ उन्हें पूर्व ज्ञान से अनधिगत दूसरे तीसरे क्षणों का ग्राहक मानना पड़ता है। पर वैसा मानने पर भी यह बात तो ज्यों की त्यों रह जाती है कि धारावाहिक दूसरे तीसरे ज्ञान घट आदि पदार्थों के विषय में तो प्रमा फिर भी न हो सकेंगे; क्योंकि वे पदार्थ पूर्ववर्ती ज्ञान से अधिगत हैं। यदि यह कहा जाय कि-दूसरे, तीसरे ज्ञान अधिगत अंश में प्रमात्मक नहीं ही है प्रमात्मक केवल उतने ही अंश है; जितना नवीन प्रथमतः अनधिगत है; तो यह ठीक नहीं है; क्योकि लोक धारावाहिक ज्ञानों को पूरे अंश में प्रमा मानता है।

अतः उक्त लक्षण "प्रतिक्षणं पदार्थों भिद्यते" केवल इस क्षणिकवाद में ही सम्भव हो सकता है। स्थिरवाद में तो इसकी प्रधानता अत्यन्त ही असम्भव है।

प्रमा के कारण तो बहुत हैं; जैसे-प्रमाता, प्रमेय आदि। अब प्रश्न यह उठता है कि-क्या वे भी प्रमा के करण प्रमाण हैं अथवा नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहा गया है कि-प्रमाता और प्रमेय के उपस्थित रहने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती; किन्तु इन्द्रिय-संयोग आदि का सन्निधान होते ही बिना किसी विलम्ब के प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। अतः इन्दिय संयोग आदि ही प्रमा का करण है। प्रमाता प्रमेय इत्यादि नहीं।

सर्वप्रथम प्रमाण के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए हमें यह ज्ञात होता है कि-साक्षात्कारिणी प्रमा का दूसरा स्वरूप इन्द्रियजन्य प्रमा ही है। क्योंकि इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाली प्रमा ही वस्तु को साक्षात् करती है-वस्तु को साक्षात् करने का अर्थ है-वस्तु को साक्ष्य होने पर उसे ग्रहण करना; (साक्ष) का अर्थ है (अक्षेण इन्द्रियेण सहितः); (सन्निकृष्टः साक्षः इन्द्रियसन्निकृष्टः)

स्पष्ट है कि जिस (प्रमा) का जन्म इन्द्रिय से होगा; वही वस्तु को ग्रहण करने में वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अपेक्षा करने से इन्द्रिय-सन्निकृष्ट वस्तु की ग्राहिका होगी।

और जिसका जन्म इन्द्रिय से न होगा; उसे प्रमेय वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अपेक्षा न होने से उसमें वस्तु का साक्षात्कारित्व-इन्द्रिय सन्निकृष्ट वस्तु का ग्राहकत्व न होगा।

तात्पर्य यह है कि-प्रमा का जन्म आत्मा में होता है। अतः आत्मगत-प्रमा से वस्तु का ग्रहण तभी सम्भव होगा; जब प्रमा और वस्तु का सामीप्य हो-यह सामीप्य आत्मा का मन के साथ; मन का इन्द्रिय के साथ, और इन्द्रिय का वस्तु के साथ-इस प्रकार वस्तु आत्मा के निकटस्थ हो जायेगी। तथा आत्मा में उत्पन्न होने वाली प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य होने से उसे वस्तु को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि विषय के सम्पादन की सामीप्यता केवल इन्द्रिय-जन्य प्रणाली पर ही लागू होती है; अन्य में नहीं क्योंकि जो प्रमा इन्द्रिय-जन्य नहीं होती उसके उत्पन्न होने में इस प्रणाली को आधार नहीं बनाया जाता।

इसका उत्तर यह है कि जो प्रमा इन्द्रिय-जन्य नहीं होगा; वहाँ पर इन्द्रियाजन्य प्रमा और प्रमेय वस्तु के परस्पर सामीप्य की कोई समस्या

ही नहीं है; क्योंकि उसका करण आत्मा में सीधे सन्निहित होता है; और उस करण में प्रमेय वस्तु सीधे सन्निहित होती है।

जैसे-अनुमिति प्रमा का करण (व्याप्तिज्ञान) अथवा परामर्श अनुमिति के आश्रयभूत आत्मा में समवेत रहता है, और व्याप्तिज्ञान अथवा परामर्श में विषय रूप से अनुमेय वस्तु सन्निहित रहती है। इसी प्रकार उपमिति-प्रमा और शाब्द-प्रमा का भी प्रमेय वस्तु के साथ सामीप्य उनके आत्मगत ज्ञानात्मक कारणों के द्वारा होने में कोई कठिनाई नहीं है। इस प्रकार प्रमा का करण ही प्रमाण होता है-(यथा-प्रमाया: करणं प्रमाणम्) प्रमाण का यह लक्षण न्याय-वैशेषिकों ने स्वीकार किया है।

अब प्रश्न यह होता है कि करण किसे कहते है? इसका उत्तर है कि जो प्रमा का करण होता है; उसे ही प्रमाण स्वीकार किया जाता है। अर्थात् (प्रमाया: करणं प्रमाणम्) पुन: यह जिज्ञासा होती है कि प्रमा किसे कहते हैं। न्याय वैशेषिकों के अनुसार यथार्थ अनुभव को ही हम प्रमा स्वीकार कर सकते हैं।

स्मृति भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। फिर प्रश्न उठता है कि ज्ञान किसे कहते है? तथा स्मृति भिन्नता क्या है?

इसके उत्तर में यह कहा गया है कि-ज्ञान आत्मा का वह विशेष गुण है; जिससे संसार के सारे व्यवहार चलते हैं। जिसे ज्ञान नहीं होता वह संसार में व्यवहार नहीं कर सकता। क्योंकि-ज्ञान के द्वारा चेतन को जड़ से पृथक् किया जा सकता है। इसके दो भेद होते हैं १-अनुभव २-स्मृति।

१-अनुभव-स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। २-एवं जिस ज्ञान का विषय पहले कभी ज्ञात रहता है; उसे स्मृति कहते हैं। यह कभी भी नये विषय को प्रकाश में नहीं लाती; बल्कि जो विषय कभी ज्ञान होकर हमारे संस्कार में छिपे रहते हैं; वही हमारे संस्कार का उद्‌बोधन होने पर हमारे ज्ञान में प्रकाशित होने लगते हैं।

संस्कार से स्मृति की इस उत्पत्ति के आधार पर उसका एक दूसरा लक्षण भी प्रसिद्ध है। और वह है "संस्कार मात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः"। इस लक्षण में-"संस्कारमात्र" इस अंश का सन्निवेश न करने पर (जन्यं ज्ञानं

स्मृतिः) इतना ही लक्षण बचता है जिसकी अतिव्याप्ति प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि सभी जन्य ज्ञानों में प्रसक्त होती हैं। अतः इसके निवारणार्थ उस अंश का सन्निवेश आवश्यक है। मात्र पद को लक्षण से पृथक् कर देने पर (संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः) इतना ही लक्षण शेष रहता है जिसकी अतिव्याप्ति, 'प्रत्यभिज्ञा' परिचयात्मक प्रत्यक्ष में होती है। क्योंकि वह भी संस्कार जन्य ज्ञान है। जैसे-पूर्व में देखा हुआ घड़ा जब पुनः कभी आँख के सामने आता है; तब "अयं घटः" इस प्रकार का ज्ञान हमें पूर्व संस्कार के आधार पर ही ज्ञात होता है।

अतः प्रत्यभिज्ञा में मात्र पद का प्रवेश अविव्याप्ति के परिहारार्थ माना गया है। इस पद से कवेल इन्द्रिय की व्यावृत्ति अभिमत है। न कि समस्त अन्य पदार्थों की। इसलिये लक्षण का स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि इन्द्रियाजन्य संस्कार जन्य ज्ञान स्मृति है।

प्रत्यभिज्ञा संस्कार जन्य होते हुए इन्द्रिय जन्य भी होती है। अतः उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यदि मात्र पद से संस्कार से अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति विवक्षित होगी तो लक्षण का स्वरूप "संस्कारेतर से अजन्य; संस्कार जन्य ज्ञान" अतः उस दशा में असम्भव दोष से ग्रस्त हो जायेगा। क्योंकि स्मृति भी संस्कार से इतर आत्मा, मन, आत्ममनः संयोग आदि से जन्य होती है। इसलिये किसी भी स्मृति में संस्कारेतराजन्यत्व से घटित लक्षण का समन्वय न हो सकेगा।

यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि-जैसे प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति के परिहारार्थ इस लक्षण में मात्र पद का प्रवेश किया गया है। उसी प्रकार "ज्ञाता विषयक ज्ञान" इस लक्षण में भी ज्ञात शब्द के आगे "मात्र" पद जोड़कर "ज्ञातमात्रविषयकं ज्ञानं स्मृति" यह लक्षण स्वीकार किया गया। इस लक्षण के आधार पर प्रत्यय भिज्ञा में अतिव्याप्ति की कोई सम्भावना नही है। क्योंकि- "स एव अयं घटः; इस प्रत्यभिज्ञा का (अयं) अंश पूर्व ज्ञात नहीं होता। इसलिये प्रत्यभिज्ञा ज्ञातमात्रविषयक नहीं होता। इसलिये प्रत्यभिज्ञा ज्ञातमात्रविषयक नहीं होती।

क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का उदय संस्कार और इन्द्रिय दोनों से होता है। तथा जब यह पूर्व ज्ञात और पूर्व अज्ञात दोनों प्रकार के विषय को ग्रहण करता है; तब उसे शुद्ध अनुभव भी नहीं माना जा सकता।

इसका उत्तर यह है कि-यतः प्रत्यभिज्ञा मनुष्य के अनुभव के रूप में ही गृहीत होती है। स्मरण के रूप में नहीं गृहीत होती। अतः उसे शुद्ध अनुभव मानना ही उचित है। क्योंकि उसमें यदि स्मरण रूपता भी होती तो कभी स्मरण के रूप में भी उसका अनुभव होना चाहिये था परन्तु वैसा कभी नहीं होता।

एक दूसरा विकल्प है कि-प्रत्यभिज्ञा न तो स्मृति है; न तो अनुभव है; अपितु वह ज्ञान का एक तीसरा प्रकार है।

इस प्रकार "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" "संस्काराजन्यं ज्ञानं अनुभवः" तथा "संस्कारेन्द्रियोभयजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा"।

अर्थात्-संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति। जो ज्ञान संस्कार से उत्पन्न न हो उसे अनुभव और जो संस्कार एवं इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न हो उसे प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है।

स्मृति के भी दो भेद हैं-

स्मृति के पूर्वानुभव के पूर्ण और आँशिक अनुवर्तन के आधार पर दो भेद होते हैं। १-अप्रमुष्ट-विषय २-प्रमुष्ट-विषय। स्मृति के वर्णन के पश्चात्-अनुभव के विषय में ध्यान देना अवश्यक हो जाता है- अनुभव—"स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः"।

अनुभव के भी चार भेद होते हैं— प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द।

यहाँ पर यह स्पष्ट हुआ कि-प्रमा के करण को जो कि अति प्रकृष्ट हो; वह (प्रमाण) कहलाता है; तथा यह भी सिद्ध हुआ कि असाधारण कारण ही करण कहलाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि (कारण) किसे कहते है?

इसका उत्तर यह है कि-कार्य के कई कारण होते हैं—जिसमें कुछ साधारण कारण होते हैं; कुछ असाधारण कारण होते हैं।

करण के लक्षण में तो यह बताया गया है कि-असाधारण कारण को अथवा व्यापार वाले असाधारण कारण करण कहलाते है-जो कार्य के अत्यन्त ही सन्निकृष्ट हो।

व्यापार का ही दूसरा नाम (द्वार) है जिसे आज कल की भाषा में माध्यम भी कहते हैं। व्यापार का लक्षण है-"तज्जन्यजनकत्वे सति

तज्जन्यजनको व्यापार:"। अथवा "तज्जनकताप्रयोजकजनकताकत्व"।

पहले का अर्थ है-जो जिस कारण से उत्पन्न होकर; उसके जिस कार्य का जनक होता है वह उस कारण का उस कार्य के प्रति व्यापार होता है। जैस- कपाल द्वय का संयोग दण्ड आदि से उत्पन्न हो दण्ड आदि के घटात्मक कार्य का जनक होता है। अत: कपाल द्वय-संयोग दण्ड आदि कार्यों का घटात्मक कार्य के प्रति व्यापार है।

दूसरे का अर्थ है-जो अपनी जनकता से जिसमें जिस कार्य के जनकत्व का सम्पादन करता है-वह उसका उस कार्य के प्रति व्यापार होता है। जैसे-कपालद्वय संयोग अपनी जनकता से दण्ड आदि में घट के जनकत्व का सम्पादन करता है; अत: वह कपालद्वय संयोग घटात्मक कार्य के प्रति दण्ड आदि कारणों का व्यापार होता है। अथवा यों कहिये-कि जो जिस कार्य साक्षात् सम्बन्ध से कारण न होकर; व्यापार घटित सम्बन्ध से ही कारण होता है; वह उसका व्यापारवान् कारण होता है।

अब कारण का लक्षण एवं भेद स्पष्ट किया जा रहा है।

कारण का लक्षण–

"यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियताऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्" अर्थात्— कार्य के पूर्व जिसकी उपस्थिति नियत हो और जो अनन्यथासिद्ध न हो वह कारण है। जैसे-कार्य-पट के पूर्व तन्तु; वेमा आदि की उपस्थिति नियत होती है। और वे अनन्यथा सिद्ध नहीं होते। अत: वे तन्तु वेमा आदि पट के कारण होते हैं।

यहाँ पर (पूर्वभाव) का अर्थ है पूर्व में-पूर्व का अंर्थ यदि अव्यवहित पूर्व न करके सीधा साधा पूर्वमात्र ही अर्थ किया जायेगा; तो जो पदार्थ जिस कार्य के पूर्व कभी रह चुका है; किन्तु उसके ठीक पूर्व में उपस्थिति नहीं है; वह भी उसका कारण होने लगेगा। जैसे-कोई तन्तु या कोई वेमा-जो किसी पट के पूर्व विद्यमान रहा पर-उस पट के ठीक पूर्व में उपस्थित नही था-तो वह तन्तु और वह वेमा भी उस पट का कारण कहा जाने लगेगा-क्योंकि वह तन्तु और वेमा उस पट के पूर्व कभी नियत रूप में रह चुका है। और अन्यथासिद्ध की बताई जाने वाली परिभाषा के अनुसार-उस पट के प्रति अन्यथा सिद्ध नही है।

इसी प्रकार "पूर्वभाव" में वर्णित अर्थ में से यदि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्याश्रय को इसी अंश को निकाल दिया जायेगा; तो कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में (कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहना) इतना ही शेष बचेगा। इस स्थिति में जो तन्तु वेमा आदि कार्यतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से जिस पट के आश्रयभूत तन्तु में न रहकर कालिक सम्बन्ध से उसके आश्रयभूत तन्तु में तथा कार्यतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से अन्य पट के आश्रयभूत तन्तु में रहते हैं; वे भी उस उस पट के कारण कहे जाने लगेंगे। "पूर्वभाव" के यथोपवर्णित अर्थ में (कारणतावच्छेदक सम्बन्ध) को निकाल कर "कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहना" इस स्थान पर यदि रहनामात्र ही रखा जायेगा तो जो तन्तु वेमा आदि जिस पट के आश्रयभूत तन्तु में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से नहीं किन्तु कालिक सम्बन्ध से रहता है; वह भी उस पट का कारण कहा जाने लगेगा। अतः पूर्वभाव शब्द का जो अर्थ बताया गया है-कारण के रूप में उसे अविकल के रूप में रखना आवश्यक है।

नियत 'शब्द' का अर्थ है नियतयुक्त होना। नियम का अर्थ है व्याप्ति। व्याप्ति की निष्पत्ति व्याप्य और व्यापक दोनों पर निर्भर होती है। इसलिये व्याप्ति का आश्रय होने से व्याप्य भी नियत कहा जाता है। और व्याप्ति का निरूपक होने से; व्यापक भी नियत कहा जाता है। अर्थात्-परिस्थिति वशात् कहीं व्याप्य को और कहीं व्यापक को ग्रहण किया जाता है। कारण के मूलोक्त लक्षण में नियत शब्द से व्यापक अर्थ अभिगत है। और 'कार्यात्' पूर्वभाव एवं 'नियत' तीनों शब्दों का अर्थ ग्राह्य है। अतः "कार्यात्पूर्वभावो नियतः" का अर्थ है; कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के आश्रय में कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहने वाले अभाव का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी न होना। कारण के इस लक्षण में यह निष्कर्ष प्रस्तुत होता है कि अनन्यथासिद्ध होते हुए भी कार्य के किसी आश्रय में किसी सम्बन्ध से कभी रह लेने मात्र से कोई पदार्थ कारण नहीं हो सकता। अपितु कारण होने के लिये उसे कार्य नियत कार्य का व्यापक होना आवश्यक है। कारण के लक्षण में 'नियत' शब्द का सन्निवेश कर उक्त रूप में इसका निर्वचन करने का फल यह होता है कि रासभ-मिट्टी ढोने वाले कुम्हार के गधे में घटकारणत्व की

अतिप्रसक्ति नहीं होती। क्यों कि वह कदाचित् किसी घट का पूर्ववर्ती तो हो जाता है; परन्तु सभी घट का नियतपूर्ववर्ती न होने से घट का व्यापक नहीं होता।

यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि-रासभ-घटमात्र का नियत पूर्ववर्ती न होने से घट-सामान्य का कारण नहीं हो सकता परन्तु वह जिस किसी एक घट का नियत पूर्ववर्ती होता है; उनका वह कारण क्यों नहीं होता?

इसका उत्तर यह है कि-रासभ जिस विशेष घट का नियतपूर्ववर्ती है-उसके प्रति अन्यथा-सिद्ध होने के कारण वह उसका भी कारण नहीं हो सकता।

"अन्यथा सिद्ध" उसे कहते हैं-जिसमें प्रकृति कार्य के उत्पादन के लिये नही; किन्तु दैव वश किसी अन्य प्रयोजनवश अथवा अपरिहार्यतावश कार्य जन्म के पूर्व दैवात् उपस्थित होने वाला। जैसे-रासभ यदि किसी घट के जन्म के पूर्व दैवात् उपस्थित हो जाता है; या किसी अन्य कार्य से आ जाता है; अथवा पहले से बंधा रहता है जैसे—

येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्।।
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः।।

(१) येन सः पूर्वभावः-

जिस धर्म से विशिष्ट में जिस कार्य को नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है; वह धर्म उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे-"दण्ड घट का नियत पूर्ववर्ती है" इस प्रकार दण्डत्वविशिष्ट में घट की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है; दण्डत्व घट के प्रति अन्यथा सिद्ध है। अन्यथासिद्ध के इस परिभाषा के अनुसार जिस कार्य के जो जो धर्म कारणतावच्छेदक होते हैं; वे सब उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं।

(२) कारणमादाय वा यस्य-

जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता किसी अन्य कार्य के नियतपूर्व वर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही होती है; वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है।

जैसे—दण्डगत रूप में घट के नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान घट के कारण दण्ड के ही द्वारा होता है। इसलिये दण्ड में रहने वाला रूप आदि घट के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है।

(३) अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्–

जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्व-वर्तिता किसी अन्य कार्य की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञानके पश्चात् ही होती है-वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे-शब्द जनक आकाश में घट को नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान आकाश में शब्द की नियत पूर्ववर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है।

क्योंकि-जब तक आकाश शब्दकारण के रूप में सिद्ध नहीं हो सकेगा; तब तक उसमें घट की नियतपूर्ववर्तिता कैसे ज्ञात हो सकेगी- अतः आकाश शब्द कारण के रूप में घट के प्रति अन्यथा सिद्ध है।

(४) जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते–

जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता है उस कार्य के कारण की नियतापूर्ववर्तिता ज्ञान के विना ज्ञात नहीं हो सकती; वह पदार्थ उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है।

जैसे-कुलालपिता में घट की नियतपूर्ववर्तिता घट के कारण कुलाल की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं हो सकती। अतः कुलाल पिता कुलाल के रूप में घट का कारण होते हुए भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

(५)अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यक-पूर्वभाविनः–

जिस कार्य के प्रति जितने अवश्यक्लृप्त-लघु और नियतपूर्ववर्ती होते हैं; उन सबसे जो भिन्न होता है; वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे-घट के प्रति दण्ड, चक्र आदि लघु नियतपूर्ववर्ती होते हैं। रासभ उन सबसे भिन्न है अत; वह घट के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है।

इन पाँचों परिभाषाओं में पाँचवी परिभाषा पूर्व की चारों परिभाषाओं में सभी के क्षेत्र को आत्मसात् करने में समर्थ होने के कारण आवश्यक समझी जाती है।

इस प्रकार कार्य के पूर्व जिसका भाव सन्निधान नियत और अनन्यथा होता है; वह कारण कहा जाता है। एवं जो अनन्यथा सिद्ध

नियत के समवधान के पश्चात् उत्पन्न होता है; वह कार्य कहा जाता है। अर्थात्-कारण का लक्षण है-"अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व" तथा-कार्य का लक्षण है- "अनन्यथासिद्ध नियत पश्चाद्भावित्व"।

कार्य-कारण के स्वरूप की मीमांसा करने वाले मनीषियों का कोई वर्ग यह स्वीकार करता है कि कार्य द्वारा-जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुकरण किया जाय; वह कारण है।

अन्वय का अर्थ है-भाव होना-"तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्"। व्यतिरेक का अर्थ है-"तदभावे तदभाव:।

अर्थात् जहाँ पर कारण के होने पर कार्य होता है वह (अन्वय) एवं जहाँ पर कारण नहीं रहता वहाँ पर कार्य भी नहीं होता; उसे व्यतिरेक कहा जाता है।

परन्तु न्याय वैशेषिक शास्त्र के विद्वान् कारण के इस लक्षण को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि-कार्य के द्वारा जिसके अन्वय व्यतिरेक का अनुकरण किया जाय, केवल उसी को कारण माना जाय तो आकाश, काल, दिक्, आत्मा और ईश्वर वे किसी कार्य के कारण नहीं हो सकेंगे। क्योंकि नित्य सभी समय में विद्यमान होने से किसी समय में-तथा विभु (सभी दिग्देश में विद्यमान होने से) किसी दिग्देश में उसका व्यतिरेक अभाव नहीं होता।

फलत: किसी कार्य के प्रति उनका कारण होना सम्भव न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि आकाश आदि का व्यतिरेक न होने से उसमें कारणत्व सम्भव नहीं हो सकता-तो उन्हें अकारण मानने में हानि ही क्या है?

तो भी ठीक नहीं है-क्यों कि-आकाश शब्द का तथा अपने साथ होने वाले मूर्त द्रव्यों के संयोग आदि गुणों का कारण माना जाता है। एवं दिक् तथा काल अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि गुणों का असाधारण कारण तथा कार्यमात्र का साधारण कारण माना जाता है।

ईश्वर भी अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि सामान्य गुणों का असाधारण कारण तथा कार्यमात्र का कर्तारूप साधारण कारण माना जाता है। अत: इन सभी मान्यताओं को भङ्ग होने के भय से आकाश

आदि को अकारण नहीं माना जा सकता। इसलिये आकाश आदि कारण-द्रव्यों में अव्याप्त होने से "कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकि कारणम्" कारण का यह लक्षण मान्य नहीं हो सकता।

कुछ विद्वानों ने "कार्यव्यतिरेक प्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्व" को कारण का लक्षण माना है। उनका आशय यह है कि-कारण के अभाव से ही कार्य का अभाव होता है। अत: इसके आधार पर कारण का यह लक्षण मानना उचित प्रतीत होता है कि-"जिसका अभाव कार्य के अभाव का प्रयोजक हो वह कारण है। किन्तु उपर्युक्त रीति से आकाश आदि नित्य विभु द्रव्यों में अव्याप्त होने से यह लक्षण भी विद्वन्मान्य नहीं हो सकता।

सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने भी अपनी न्यायकुसूमाञ्जली में कारणता के व्यतिरेक तन्त्र न होने का निर्देश किया है; उन्होंने स्पष्ट कहा है—

पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि।।

आशय यह है कि-कारणता व्यतिरेक तन्त्र नहीं होती, किन्तु पूर्वभाव-अनन्यथासिद्ध कार्यनियतपूर्ववर्तित्त्व-स्वरूप है अत: नित्य और व्यापक पदार्थ में भी यह सुघट एवं सुबोध है; यदि कारणता व्यतिरेक तन्त्र होगी तो नित्य बिभु पदार्थ का व्यतिरेक सम्भव न होने से; वह कारण न हो सकेगा और उस स्थिति में उसका आस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि नित्य विभ्रु पदार्थों को सिद्ध करने वाले प्रमाण; उन्हें कारणरूप में ही सिद्ध करते हैं।

जैसे-आकाश शब्द का समवायि कारण, आत्मा ज्ञान आदि गुणों के समवायि कारण, काल ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व बुद्धि के नियामक कालिक परत्व और अपरत्व के निमित्त कारण और ईश्वर कार्यमात्र के निमित्तकारण कर्त्ता के रूप में ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है; किन्तु कारणत्व जब व्यतिरेक तन्त्र होगा तब तो वह उन पदार्थों में सम्भव ही न होगा। तो फिर कारणात्मना उनकी सिद्धि कैसे हो सकेगी। फलत: उसका अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा।

इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से विमर्शनीय है कि-कारण के

व्यतिरेक घटित उक्त लक्षण की आकाश आदि नित्य विभु पदार्थों में जो अव्याप्ति बताई गयी है वह वास्तविक है या आपातिक। परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि; उक्त अव्याप्ति स्थूल विचारों पर ही अवलम्बित है।

वास्तव में यह नितान्त निर्मूल है; क्योंकि व्यतिरेक घटित उक्त लक्षण का विचार करते हुए जो यह बात कही गयी है कि आकाश आदि नित्य है। अत: किसी काल में व्यतिरेक सम्भव नहीं है; इसलिये इसमें उक्त लक्षण अव्याप्त है। यह ठीक नही हैं; क्योंकि उक्त लक्षण में कालगत और देशगत व्यतिरेक का सन्निवेश ही नही है। लक्षण का तो स्पष्ट आशय यह है कि-जिस सम्बन्ध से जिसका सन्निधान होने पर जिस कार्य का जन्म होता है; और असन्निधान होने पर जन्म नहीं होता-वह उस सम्बन्ध से उस कार्य का कारण होता है। समवाय सम्बन्ध से शब्द के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से आकाश कारण है।

इसकी उपपत्ति केवल उसी अन्वय व्यतिरेक पर निर्भर है कि-जिसमें आकाश तादात्म्य सम्बन्ध से है। उस आकाश में समवाय सम्बन्ध से शब्द पैदा होता है; और जिसमें आकाश तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं है; उस पृथ्वी आदि में शब्द समवाय सम्बन्ध से नहीं पैदा होता। किसी काल में नित्य पदार्थ का अभाव न होने से तथा किसी देश में विभु पदार्थ का अभाव न होने से-केवल इतना ही कहा जा सकता है कि-कारणत्ता को व्यतिरेक तन्त्र मानने पर नित्य पदार्थ कालिक सम्बन्ध से एवं विभु पदार्थ दैशिक सम्बन्ध से उन्हें कारण माना ही नहीं जाता। अत: व्यतिरेक घटित कारण लक्षण में जो अव्याप्ति बतायी गयी है; वह निराधार है। यद्यपि कारण के तीन लक्षण बताये गये है; १-समवायिकारण २-असमवायिकारण ३-निमित्तकारण। परन्तु इसमें वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि-उक्त विभाग को कारण का विभाग मानने पर समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व को ही कारण का विभाजक धर्म मानना होगा। जो कथमपि सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि-विभाजक धर्म वही होता है जो विभाज्यतावच्छेदक धर्म का साक्षात् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध होता है।

जैसे—जब द्रव्य का विभाग किया जाता है; तब द्रव्य विभाज्य होता है; उसमें विभाज्यता रहती है; द्रव्यत्व विभाज्यतावच्छेदक होता है। और पृथ्वीत्व, जलत्व आदि धर्म द्रव्यत्व का साक्षात् व्याप्य तथा परस्पर विरूद्ध होने से द्रव्य के विभाजक होते हैं।

प्रस्तुत में यदि कारण को विभाज्य माना जायेगा तो उसमें विभाज्यता रहेगी। कारणत्व विभाज्यता का अवच्छेदक होगा। समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व उनके साक्षात् व्याप्य है; अत: वे विभाजक होंगे। पर यह तब हो सकता है जब वे धर्म परस्पर विरूद्ध हों।

किन्तु वे परस्पर विरुद्ध नहीं है; क्योंकि-जो कारण एक कार्य का समवायिकारण होता है-वही दूसरे का निमित्तकारण होता है। इसी प्रकार जो एक कार्य असमवायिकारण होता है। वही दूसरे का निमित्त कारण होता है।

जैसे-तन्तु पट का समवायिकारण होता है किन्तु उसी तन्तु से जब कोई वस्तु बाँधी जाती है तब वह उसी बन्धन का निमित्त कारण होता है। उसी प्रकार तन्तुओं का संयोग पट का असमवायिकारण होता है; किन्तु अपने ध्वंस का प्रतियोगिविधया और अपने प्रत्यक्ष का विषयविधया निमित्तकारण होता है।

अत: समवायिकारणत्व और असमवायिकारणत्व का निमित्तकारणत्व के साथ विरोध न होने से वे तीनों धर्म कारण के विभाजक नहीं बन सकते।

यदि यह कहा जाय कि उक्त विभाग कारण-सामन्य का विभाग नहीं है; किन्तु एक कार्य के कारण का विभाग है।

इसका तात्पर्य यह है कि-एक कार्य का कारण समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार से मानने में कोई दोष नहीं हो सकता। क्योंकि जिस कार्य का जो समवायिकारण होता है; अथवा असमवायिकारण होता है; वह उस कार्य का निमित्त कारण नहीं होता। अत: एक कार्य के समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व में परस्पर विरोध होने से उनके विभाजक होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। लेकिन यह कथन भी ठीक

नहीं है। क्योंकि-एक कार्य के समवायिकारणत्व और निमित्त-कारणत्व में भी विरोध नहीं है। जैसे-काल अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि गुणों का समवायिकारण भी होता है; और निमित्त कारण भी हो सकता है। क्योंकि काल जब कार्य मात्र का निमित्त कारण है; तो उसे स्वगत संयोग आदि का निमित्त कारण होना अनिवार्य है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि-पट का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध से जैसे-तन्तु के साथ है; वैसे ही तुरी आदि के साथ भी है; तो फिर क्यों पट समवाय-सम्बन्ध से तन्तुओं में ही उत्पन्न होता है; आदि में नहीं उत्पन्न होता?

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि-सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—

१-संयोग २-समवाय।

१-संयोग—युतसिद्ध दो पदार्थों का संयोग सम्बन्ध होता है। जैसे-तुरी और पट में संयोग सम्बन्ध होता है।

२-समवाय सम्बन्ध—दो अयुतसिद्ध पदार्थों का समवाय सम्बन्ध होता है।

जैसे-तन्तु और पट अयुतसिद्ध सम्बन्ध है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अयुतसिद्ध पदार्थ कौन हैं; जिनमें समवाय सम्बन्ध रहता है।

इसका उत्तर यह है कि-जिनमें से कोई एक अपनी अविनश्यत अवस्था में अर्थात्-अपने विनाश की सामग्री की अनुपस्थिति दशा में दूसरे में आश्रित होकर ही अवस्थित रहता है वह, अयुतसिद्ध कहा जाता है।

फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-अयुतसिद्ध शब्द का क्या अर्थ है। अयुतसिद्ध शब्द-(अ); (युत) और सिद्ध शब्द से मिलकर बना है। इन तीनों शब्दों में (युत) का महत्व अत्यधिक है;- अर्थात् यह (अयुतसिद्ध) शब्दार्थ का मेरूदण्ड है; वह "यु मिश्रणामिश्रणयो:" इस धातुपाठ के अनुसार-अमिश्रण-अभिलन-असम्बन्ध होकर जो सिद्ध हो; वे युतसिद्धय कहे जाते है।

जैसे-दण्ड-पुरुष, वृक्ष-पक्षी, स्त्री-पुरूष आदि। अर्थात्-ये युगलपरस्पर

आपस में सम्बद्ध नहीं होते किन्तु प्रथमतः आपस में असम्बद्ध रहते हैं; परन्तु बाद में सम्बद्ध हो जाते हैं।

युत शब्द के पूर्व में (अ) है; वह युतसिद्ध के भिन्नता का प्रतिपादन करता है। अर्थात्-अयुतसिद्ध सम्बन्ध उसे कहते हैं; जिसमें ऐसा कोई क्षण नहीं होता; जब दोनों विद्यमान हों और आपस में कोई सम्बन्ध न हो। अर्थात् अयुतसिद्ध कहे जाने वाले पदार्थों में दोनों एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं।

आशय यह है कि-तन्तु-पट का समवायिकारण है; और तन्तु संयोग असमवायिकारण है। पट का नाश कभी-तन्तु से, कभी तन्तु-संयोग से और कभी दोनों के नाश से होता है।

अयुतसिद्ध के परिभाषा का स्वरूप इस प्रकार है—"ययोः मध्ये एकम् अविनश्यद् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ।"

अयुतसिद्ध की उक्त परिभाषा-विषयक प्रस्तुत विचार के समापन के पूर्व "अविनश्यत्" शब्द के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लेना अति आवश्यक है।

अविनश्यत्-शब्द की सबसे निर्दोष परिभाषा—

"अपने विनाश की सामग्री के असन्निधान काल में स्थित अर्थ है"-क्योंकि जिस काल में जिस पदार्थ के विनाश की सामग्री का असन्निधान होगा उस काल उस काल में स्थित होने से वह पदार्थ उस काल में "अविनश्यत्" शब्द से ग्राहय हो सकेगा। किन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने पर जाति आदि नित्य पदार्थ अविनश्यत् पद से गृहात न होंगे-क्योंकि-उनका विनाश न होने के कारण वे अपने विनाश की सामग्री के असन्निधान काल में स्थित नहीं कहे जा सकते; फलतः-नित्यगुँण जाति और विशेष पदार्थ अपने अपने आश्रयों के साथ अयुत सिद्ध न होंगे।

अतः उक्त परिभाषा को "अविनश्यत्" शब्दार्थ की दुर्वचता से बचने के लिये उक्त परिभाषा को परिवर्तित कर इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है—

"स्वाश्रयोभयाश्रययावत्कालवृत्ति-स्वाश्रयापराश्रित-
स्वाश्रयैकद्वित्वाश्रयत्वम् अयुतसिद्धत्वम्"

इसका अर्थ यह है कि जिस द्वित्व के दोनों आश्रय जितने समय रहते हों; उतने समय उन आश्रयों में से कोई एक यदि दूसरे आश्रय में नियमेन आश्रित रहे तो उस द्वित्व के दोनों आश्रय अयुतसिद्ध होंगे।

जैसे-तन्तु-पटगत द्वित्व के आश्रय तन्तु और पट दोनों जितने समय-पट के जन्म क्षण से पट विनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण तक रहते हैं; उन सारे समयों में उस द्वित्व का एक आश्रय पट; उसके दूसरे आश्रय तन्तु में नियमेन आश्रित हो रहता है-अतः उस द्वित्व के आश्रय तन्तु और पट अयुत सिद्ध होते हैं। इस प्रकार कारण के तीन भेद बताये गये। १-समवायिकारण २-असमवायिकारण ३-निमित्त कारण।

प्रश्न यह उठता है कि-इन तीनों के लक्षण क्या है?

सर्वप्रथम हम समवायिकारण का लक्षण प्रस्तुत करेंगे।

१-समवायिकारण का लक्षण-

जिस पदार्थ में कार्य समवेत-समवाय सम्बन्ध से आश्रित होकर उत्पन्न होता है; अर्थात् उत्पत्ति के समय ही कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो जाता है अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि-समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति तादात्म्य-सम्बन्ध से जो कारण होता है; वह कार्य का समवायिकारण होता है। अर्थात्-समवाय-सम्बन्ध से कार्य का आधारभूत कारण होता है।

पट यतः तन्तु में ही समवेत होकर उत्पन्न होता है; तुरी आदि में नहीं। अत; तन्तु ही पट का समवायिकारण होता है। तुरी आदि तो उसका एक निमित्त कारण है। उसी प्रकार पट का समवायिकारण मिट्टी है।

२-असमवाययिकारण का लक्षण-

न्यायमुक्तावली में असमवायिकारण का लक्षण बताते हुए समवाय को कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति और स्वसमवायिसमवाय को कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति शब्द से सम्बोधित किया है।

तर्कभाषा में असमवायिकारण का सीधा कार्य बातया गया है-वह इस प्रकार का है-अर्थात् किसी कार्य का वह कारण; जो उसका समवायी समवाय सम्बन्ध से आश्रय न हो; परन्तु यह शाब्दिक अर्थ हो सकता है; उसका लक्षण नहीं हो सकता।

क्योंकि-इसे लक्षण मानने में निमित्त-कारण में अतिव्याप्ति होगी। जैसे-तन्तु का संयोग एक गुण है; वह पट के समवायिकारण तन्तुरूप गुंणी में समवेत होने से पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न है। तथा पट के प्रति अन्यथासिद्ध न होने से एवं पट के प्रति नियतपूर्ववर्ती होने से उसमें पट के प्रति सामर्थ्य कारणत्व निश्चित है।

असमवायिकारण के इस लक्षण से यदि समवायि शब्द को हटाकर यदि (यत्कारण प्रत्यासन्नमव घृत सामर्थ्य तत्समवायिकारणम्) अर्थात्-जो किसी कार्य के कारण में प्रत्यासन्न तथा उस कार्य के कारण के रूप में विद्यमान रहता है; वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है।

यदि असमवायिकारण का यह लक्षण स्वीकार किया जाय-तो चक्षु घट संयोग; जो घट-चाक्षुष का निमित्त कारण है; और चक्षु-घट संयोग उसमे प्रत्यासन्न है तथा प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के निमित्त कारण होने से (घट) घटचाक्षुष का निमित्त-कारण है; घट चाक्षुष के असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी। क्योंकि-प्रत्यक्ष के प्रति विषय के निमित्त कारण होने से घट (घटचाक्षुष) का निमित्त कारण है। और चक्षु-घट संयोग उसमें प्रत्यासन्न है; तथा प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के निमित्त-कारण होने से वह घट चाक्षुष के कारण रूप में निश्चित है।

जब असमवायिकारण के लक्षण में "समवायिकारणे प्रत्यासन्नम् का सन्निवेश होगा; तो उक्त अतिप्रसक्ति न होगी; क्योंकि-घट घटचाक्षुष का समवायिकारण नहीं है।

अतः उसमें प्रत्यासन्न चक्षु-घट संयोग घटचाक्षुष के समवायिकारण में प्रत्यासन्न न होने से उनके प्रति असवमवायिकारण होने की अर्हता प्राप्त न कर सकेगा।

असमवायिकारण के इस लक्षण में से विशेष्य भाग अर्थात् (अवघृतसामर्थ्य) अंश को निकाल कर यदि ("यत्समवायिकारणे प्रत्यासन्नं तदसमवायिकारणम्") अर्थात्-जो किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न होता है; वह उस कार्यका असमवायिकारण होता है।

परन्तु यह लक्षण देने पर असमवायिकारण में आत्माश्रय दोष उत्पन्न हो जायेगा। अर्थात् यदि असमवायिकारण के लक्षण में कारणत्व

का प्रवेश होगा तो लक्षण के ज्ञान में कारणत्व के ज्ञान की अपेक्षा होगी। और असमवायिकारण में कारणत्व का ज्ञान असमवायिकारणत्व के रूप में ही होगा। क्योंकि असमवायिकारण में जो कारणता होगी वह असमवायिकारणता रूप ही होगी।

फलतः असमवायिकारण के कारणता घटित लक्षण के ज्ञान में असमवायिकारणता के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से लक्षण अपने ज्ञान में आत्माश्रय ग्रस्त हो जायेगा।

और लक्षण में से पूरे विशेषण-भाग को निकालकर यदि अवघृत-सामर्थ्यमात्र को असमवायिकारण का लक्षण माना जायेगा तो, समवायिकारण और निमित्तकारण में भी असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी; अतः विशेषण भाग को लक्षण में रखना अनिवार्य है।

असमवायिकारण के दो उदाहरण इसीलिये दिये गये हैं- क्योंकि कार्य दो प्रकार के होते हैं १-भावात्मक २-अभावात्मक।

इनमें अभावात्मक कार्य को (ध्वंस) कहा जाता है। इसमें समवायिकारण और असमवायिकारण की आवश्यकता नहीं होती है; बल्कि यह केवल निमित्त कारण से उत्पन्न होता है।

अर्थात्-भावात्मक कार्य तीन होते हैं-द्रव्य, गुण और कर्म। इन तीनों के उत्पत्ति में समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण की आवश्यकता होती है।

समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण में दो का लक्षण तो स्पष्ट हो गया अब केवल निमित्तकारण के विषय में विचार करना आवश्यक है।

३-निमित्त-कारण–

अर्थात्-जो जिस कार्य का न समवायिकारण है; न असमवायिकारण है; किन्तु उस कार्य का कारण है; उसे ही निमित्त-कारण कहा जाता है। उदाहरणार्थ-पट का निमित्त कारण वेमा ही हो सकता है-क्यों वेमा आदि में समवेत होकर पट नहीं उत्पन्न हो सकता-अतः वेमा पट का समवायिकारण नहीं हो सकता। वह असमवायिकारण भी नहीं हो सकता-क्योंकि वह पट के समवायिकारण तन्तु में समवाय अथवा स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से प्रत्यासन्न नहीं होता। किन्तु पट का

कारण है; क्योंकि-वह पट के प्रति अन्यथासिद्ध न होते हुए पट के प्रति नियतपूर्ववर्ती है-अतः वेमा आदि पट का निमित्त-कारण होता है।

इन तीनों कारणों में जो अत्यन्त उत्कृष्ट कारण होता है; अथवा जो सातिशय अन्य कारणों की अपेक्षा होता है; वही करण कहलाता है।

करण के भी दो लक्षण माने गये हैं—एक "वास्तव"; और दूसरा "व्यवहारोपयोगी"। सातिशयं कारणं करणम्-करण का वास्तव लक्षण है। तथा-"व्यापारवाद् असाधारणं कारणं करणम्" इसे करण का व्यवहारोपयोगी लक्षण माना जा सकता है।

इस प्रकार प्रमाण के लक्षण, उसकी परिभाषा उसके भेद, कारण के स्वरूप उसके भेद करण की परिभाषा को स्पष्टकर अब प्रमाण को प्रस्तुत किया जा रहा है। न्याय-वैशेषिकों ने प्रमाण को चार रूपों में स्वीकार किया है-१-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-उपमान ४-शब्द।

हम यहाँ सर्वप्रथम प्रमा का निरूपण करेंगे। क्योंकि चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष का निरूपण सर्वप्रथम किया गया है। प्रत्यक्ष-प्रमाण-इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। और वह अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक होता है।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से जो पैदा होता है; (सन्निकर्ष का अर्थ सम्बन्ध) होता है। व्यपदेश्य का अर्थ है; शाब्दबोधात्मक और अव्यपदेश्य का अर्थ है जो व्यपदेश्य नहीं है। अर्थात् जो शाब्दबोधात्मक नहीं है।

भ्रमात्मक-ज्ञान को व्यभिचारी कहते हैं। जो भ्रमात्मक नहीं है; वह अव्यभिचारी है। व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक (संशय, निश्चयात्मक नहीं होता; उसका यहाँ ग्रहण नहीं होगा।)

इस प्रकार प्रत्यक्ष-लक्षण का यह अर्थ हुआ कि- "इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होकर जो ज्ञान पैदा होता है वह प्रत्यक्ष है। परन्तु वह शाब्धबोधात्मक नहीं है; इसलिये वह अव्यपदेश्य है; भ्रमात्मक नहीं होता; अतः अव्यभिचारी होता है। तथा निश्चयात्मक-व्यवसायात्मक होने से वह संशयात्मक नहीं होता। प्रत्यक्ष-छह प्रकार के होते हैं—जैसे-चाक्षुष, घ्राणज, रासन, त्वाच, श्रौत्र और मानस।

चाक्षुष-प्रत्यक्ष-जो चक्षु इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

इसके विषय हैं-उद्‌भूत रूप, उद्‌भूत रूप वाले द्रव्य, पृथक्त्व संख्या, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व परिमाण और चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य द्रव्य में रहने वाली क्रिया, जाति तथा समवाय चाक्षुष-प्रत्यक्ष में सर्वत्र उद्‌भूत-रूप और आलोक-संयोग कारण होता है।

अर्थात् इन दोनों के विना कभी भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष, नहीं होता। जहाँ आलोक प्रकाश नहीं है; किन्तु अन्धकार है; वहाँ पर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता।

घ्राणज-प्रत्यक्ष–

इसका विषय है-गन्ध, गन्धत्व और गन्धाभाव। यह घ्राण इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

क्योंकि-न्याय शास्त्र का यह नियम है कि-"जो वस्तु जिस इन्द्रिय से गृहीत होती है; उस पर रहने वाली जाति और उसका अभाव उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है।"

अन्यत्रापि इस नियम को सर्वत्र लागु समझा जाय।

रासन-प्रत्यक्ष–

इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान रासन कहलाता है। इनके विषय है रस; रसत्व और रसाभाव। त्वग् इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान त्वाच-प्रत्यक्ष है।

इनके विषय है-स्पर्श, स्पर्शत्व जाति, स्पर्षाभाव एवं स्पर्श वाले द्रव्य=पृथ्वी, जल तेज और वायु। इसके अतिरिक्त रूप, रूपत्व और रूपाभाव को छोड़कर जो भी पदार्थ चक्षु से गृहीत होते हैं-वे सभी त्वग् इन्द्रिय के ही विषय हैं।

श्रौत्र इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रौत्र प्रत्यक्ष होता है। उसके विषय हैं-शब्द शब्दत्व एवं शब्दाभाव।

मानस-प्रत्यक्ष–

मन इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उतपन्न होता है; वह मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है। इनके विषय हैं-सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, बृद्धि और यत्न। तथा इनका अभाव एवं इन पर रहने वाली जाति। इसके अतिरिक्त सुख दुखादि का आश्रय आत्मा भी मनोग्राह्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि-सभी ज्ञान मन से ही पैदा होते हैं; परन्तु सभी ज्ञान मानस नहीं कहे जाते। अर्थात् केवल सुख, दुखादि ज्ञान को ही मानस कहा जाता है। इसका उत्तर यह है कि-जिन ज्ञानों में मन इन्द्रिय रूप में हेतु है; वे ज्ञान ही मानस कहलाते हैं।

जैसे-सुख-दुखादि ज्ञान, अन्य ज्ञानों मे मन मनस्त्वेन कारण होता है इन्द्रियत्वेन नही। इसलिये अन्य ज्ञान मानस नहीं कहलाते। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि-प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग इन्द्रिय जन्य प्रमा; उस प्रमा के करण; और उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ इन तीन विभिन्न वस्तुओं में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग भी आधार शून्य नहीं है वह प्रत्यक्ष शब्द के तीन व्युत्पत्तियों पर आघृत है। जैसे—

"प्रतिविषयं प्रतिगतम् अक्षम् इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्"-

इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रिय जन्य ज्ञान का बोधक होता है। क्योंकि-विषय सन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्य रूप से प्रत्यक्ष-प्रमाण माना जाता है। प्रतिगतम् विषयं प्रतिगतम्-अर्थात्-विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्; उस व्युत्पत्ति के अनुसार-प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष-प्रमा के करण का बोधक होता है।

"प्रति यं विषयं प्रतिगतम् अक्षं सः प्रत्यक्षः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार-प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है। क्योंकि-जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है-अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है; वही प्रत्यक्ष-प्रमा का विषय होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार (प्रत्यक्ष) शब्द प्रत्यक्ष-प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है।

क्योंकि-जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है-अर्थात् जो अर्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है; वही प्रत्यक्ष-प्रमा का विषय होता है।

तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार—

"प्रतिगतम्-विषयं प्रतिगतम् अर्थात् विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्"।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द; प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोधक होता है। क्योंकि-विषय सन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

प्रत्यक्ष शब्द के विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर प्रत्यक्ष-प्रमा;

प्रत्यक्ष-प्रमाकरण और प्रत्यक्ष-प्रमा के विषय में (प्रत्यक्ष) शब्द का प्रयोग होने से प्रत्यक्ष शब्दार्थ के विषय में जितने भी भ्रम थे सभी विनष्ट हो गये। अतः यहाँ पर कोई भ्रम नहीं रह जाता।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष' शब्द में दो शब्द मिले हैं, प्रति और अक्ष। अक्ष शब्द के सामान्य रूप से दो अर्थ होते हैं, नेत्र और इन्द्रिय। दार्शनिक क्षेत्र में अर्थ शब्द का अर्थ इन्द्रिय ही माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि-जब इन्द्रिय क्रियाशील होकर अपने अपने विषय को ग्रहणं करती है और उसके अनन्तर जो ज्ञान होता है; तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

अर्थात्-जब हम घड़े को देखते हैं; और देखकर यह व्यवहार करते हैं कि घड़े को जानता हूँ। यह घट का ज्ञान तब तक नहीं होगा जब तक कि-घट रूप विषय के साथ नेत्रेन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध होने के बाद ही यह ज्ञान होता है कि यह घट है। क्योंकि प्रमाणके तीन लक्षण हैं-**१-अनुभव २-असंदिग्धत्व ३-यथार्थत्व।**

इसके अलावा प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये केवल इन्द्रिय और विषय का ज्ञान होना ही आवश्यक नहीं है; अपितु मन आत्मा आदि का सम्बन्ध भी अपेक्षित है। क्योंकि-विषय का इन्द्रिय से; इन्द्रिय का आत्मा से; आत्मा का मन से सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अर्थात्-यदि हमारा मन अन्यत्र रहेगा तब इन्द्रिय और विषय की सन्निकृष्टता होने पर भी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके अतिरिक्त हमारी आत्मा यदि अन्यत्र रहेंगी तो भी विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् जब मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध होगा तभी किसी विषय का प्रत्यक्ष होगा। क्योंकि न्याय-दर्शन आत्मा को ही ज्ञान का अधिकरण या आश्रय मानता हैं। ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ही रहता है। और आत्मा ज्ञान का आश्रय है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है।

परन्तु प्राचीन न्याय के उक्त लक्षण को नव्य-नैयायिक गङ्गेशोपाध्याय प्रभृति विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। नव्य नैयायिकों के अनुसार प्राचीन-न्याय ने जो प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है वह-अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित बताया है।

अव्याप्ति इसलिये है-क्योंकि-मन, केवल प्रत्यक्ष लक्षण में ही विषय और इन्द्रिय के साथ नहीं रहता बल्कि अनुमान इत्यादि में भी मन विषय और इन्द्रिय के साथ रहता है अत: अलक्ष्य में भी लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति हो जाती है। अव्याप्ति दोष इसलिये है-क्योंकि न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान विना किसी इन्द्रिय के होता है-अत: ईश्वरीय ज्ञान में ईश्वर के इन्द्रिय न होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध कैसे बनेगा; फिर विना सम्बन्ध के प्रत्यक्ष कैसे होगा।

अत: या तो इस लक्षण के अनुसार ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये; और यदि ईश्वर को प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है तो; यह लक्षण ठीक नहीं है-इसलिये यहाँ पर अव्याप्ति दोष हो गया। अत: यह परिभाषा ठीक नही है।

अन्योन्याश्रय दोष इसलिये है-क्योंकि यहाँ पर इन्द्रिय एवं वस्तु के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष माना गया है।

इस विषय में जब यह पूछा जाता है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं? तो न्यायदर्शन कहता है-जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष किसे कहते हैं? जिनके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अत: प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रिय ज्ञान आवश्यक है; इन्द्रिय-ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक हैं अत: यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष है।

अत: प्राचीन-न्याय की प्रत्यक्ष विषयक परिभाषा समीचीन नहीं है। इसीलिये गंगेशोपाध्याय ने प्राचीन लक्षण में दोष दिखाते हुए प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रस्तुत की हैं-जो निम्न है—

इनका कथन है कि-वस्तु सम्पर्क; प्रत्यक्ष सामान्य का लक्षण नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष का लक्षण विषय की साक्षात् प्रतीति है।[१] इन्होंने "पदार्थ की साक्षात् प्रतीति"को ही-प्रत्यक्ष प्रामण का लक्षण माना है। इस परिभाषा के अनुसार ईश्वरीय-प्रत्यक्षों की भी व्यवस्था हो जाती है। क्योंकि-ईश्वर को भी विना किसी व्यवधान के ज्ञान हो जाता है।

अत: इस परिभाषा के अनुसार लौकिक एवं अलौकिक, मानवीय एवं ईश्वरीय सभी प्रत्यक्षों की व्यवस्था बन जाती है अलग से व्यवस्था हेतु अन्य लक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक और परिभाषा इन्होंने दिया है—

इसके अनुसार प्रत्यक्ष-प्रमाण के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं; उनमें कुछ न कुछ व्यवधान के साथ प्रतीति होती है।

जैसे-अनुमान प्रमाण के पूर्व व्याप्ति का ज्ञान उपमान-प्रमाण के पूर्व सादृश्य का ज्ञान; शब्द प्रमाण के पूर्व पद का ज्ञान।

परन्तु प्रत्यक्ष ही एक मात्र ऐसा प्रमाण है; जिसके पूर्व किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही होती है। वह विना किसी व्यवधान के सीधे होता हैं।

अत: प्रत्यक्ष की एक अन्य परिभाषा भी दी जा सकती है कि-जो ज्ञान विना किसी माध्यम के होता है; वह प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के लक्षण का ज्ञान हो जाने के पश्चात् इसके भेद पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। अर्थात्-प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-१-निर्विकल्पक २-सविकल्पक।

१-निर्विकल्पक-ज्ञान–

प्रकारताशून्य ज्ञान निर्विकल्पवक होता है। इसमें चतुर्थी विषयता होती है। निर्विकल्पक ज्ञान को हम विशेष्यता शून्य और संसर्गता शून्य ज्ञान भी कह सकते हैं। भाव यह है कि-किसी भी वस्तु को देखने से पहले निर्विशेष ज्ञान होता है अर्थात् "इदं किञ्चित्" इसमें विशेषण विशेष्य भाव कुछ भी नहीं है। अतएव यह ज्ञान प्रकारता, विशेष्यता एवं संसर्गता ज्ञान से-अर्थात् इन तीनों विशेषताओं से शून्य है। इसमें एक चौथी विषयता मानी गयी है; जो अनिर्वचनीय हैं। अर्थात् इन्हें अनिर्वचनीय विषयता कह सकते हैं।

इसी प्रकार "सविकल्पक" का लक्षण दिया गया है-

२-सविकल्पक–सप्रकारक ज्ञान सविकल्पक होता है-विषयता ज्ञा से निरूपित होती है। ज्ञान विषयता का निरूपक होता है। इसलिये प्रकारता निरूपकज्ञानत्वम्-यह सविकल्पक का लक्षण है।

इसी प्रकार "विशेष्यता-निरूपक ज्ञानत्वम्" और संसर्गतानिरूपक ज्ञानत्वम्" भी सविकल्पक ज्ञान के लक्षण है।

तात्पर्य यह है कि-सविकल्पक ज्ञान में प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता तीनों ही रहते हैं।

जैसे-जब हम-"डित्थोऽयम्" कहते हैं-इदम् शब्द से विशेष्य को

हम बोधित करते हैं। और "विशेष्य-निष्ठ विशेष्यता इदन्त्वावच्छिन्ना" होती है।

इसमें डित्थत्व प्रकार होता है; और तन्निष्ठ प्रकारता शालिज्ञान "डित्थोऽयम्" सविकल्पक ज्ञान कहलता है। एवं "ब्राह्मणोऽयम्" "श्यामोऽयम्"। इस प्रकार जो ज्ञान स्वरूपमात्र को विषय करता है जिसका विषय-बोधक शब्द से अभिलाप व्यवहार नहीं होता उसे निर्विकल्पक कहा जाता है।

इसका परिचय "बालमुकादिज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्" कह कर दिया गया है।

अर्थात्-जैसे अबोध बालक अथवा गूँगे व्यक्तियों को जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-दर्शन होता है; तब उस वस्तु के नाम आदि का ज्ञान न होने से वे अपने उस ज्ञान को किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रकट नहीं कर पाते। ठीक उसी प्रकार वयस्क और वाक्पटु व्यक्तियों को भी जब किसी वस्तु का निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष होता है; तब वे अपने उस प्रत्यक्ष को शब्द द्वारा नहीं प्रगट कर पाते।

क्योंकि-निर्विकल्पक ज्ञान अविशिष्ट होता हैं। और शब्द अविशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता। विशिष्ट वस्तु के आधार पर ही शब्द का प्रतिपादन किसी वस्तु के नाम सङ्केत के लिये करते हैं।

फलतः निर्विकल्पक ज्ञान के विषयभूत वस्तु का बोधक शब्द न होने से वयस्क और वाक्पटु व्यक्ति भी उसे प्रकट करने में असमर्थ होते हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि निर्विकल्पक ज्ञान में बालक और गुंगे के ज्ञान की जो तुलना की गई है; वह केवल इसी अंश में किया है। वे दोनों ही ज्ञान ज्ञाता द्वारा अनभिलाप्य होते हैं।

इस तुलना में यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि जैस-निर्विकल्पक ज्ञान विशिष्ट-वस्तु का ग्राहक न होकर; वस्तु के शुद्ध स्वरूप मात्र का ग्राहक होता है।

इसी प्रकार बालक और गुंगे का ज्ञान भी विशिष्ट वस्तु का ग्राहक न होकर; वस्तु के शुद्ध स्वरूप मात्र का ग्राहक होता है। क्योंकि-ऐसा मानने पर जैसे-निर्विकल्पक ज्ञान से ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं होती; उसी

प्रकार बालक और गूँगे के ज्ञान से भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु यह बात नहीं है क्योंकि बालक और गूँगे वयस्क और वाक्पटु व्यक्तियों के समान ही-अपने ज्ञान से अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

इन्द्रिय जन्य प्रमा के दो भेद हैं।

१-निर्विकल्पक २-सविकल्पक।

प्रत्यक्ष-प्रमा के करण तीन प्रकार के हैं—इन्द्रिय; इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और निर्विकल्पक-ज्ञान।

प्रत्यक्ष-प्रमा के उत्पादक सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं—संयोग; संयुक्त-समवाय; संयुक्त समवेत समवाय से नीलत्व आदि जातियों का; समवाय के शब्द का; समवेत समवाय से शब्दत्व आदि जातियों का विशेषण-विशेष्य भाव से अभाव एवं समवाय का प्रत्यक्ष होता है।

सन्निकर्ष के भी लौकिक और अलौकिक दो भेद होते हैं—
१-लौकिक-सन्निकर्ष के उपर निर्दिष्ट ६ भेद बताये गये हैं। लौकिक-सन्निकर्ष इन्द्रिय के सन्मुख अपेक्षाकृत संमीपवर्ती स्थान में उपस्थित द्रव्य और तद्गत गुण आदि के ही साथ होते हैं।

परन्तु इन्द्रिय के कुछ सन्निकर्ष ऐसे अर्थों के साथ भी आवश्यकता-वश मानने पड़ते हैं; जो इन्द्रिय के सन्मुख अथवा समीप न होकर विरूद्ध दिशा में तथा बहुत दूर होते हैं। ऐसे अर्थों के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष मानना पड़ता है। जो सन्निकर्ष सापेक्ष इन्द्रिय के समय अपना अस्तित्व ही नहीं रखते; इसके अतिरिक्त ऐसे अर्थ और इन्द्रिय के बीच भी सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है; जिनमें लोक-गम्य गाह्य ग्राहक भाव स्वभावतः सम्भाव्य ही नहीं होता। इस प्रकार के जितने भी सन्निकर्ष होते हैं-वे अलौकिक सन्निकर्ष के ही अन्तर्गत आते हैं।

अलौकिक सन्निकर्ष का स्वरूप–

अर्थात्-जहाँ पर लोक गम्य ग्राह्य-ग्राहक भाव स्वभावतः सम्भाव्य नहीं होता है; वहाँ ही अलौकिक सन्निकर्ष होता है।

अलौकिक सन्निकर्ष के भेद–

अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद होते हैं-१-सामान्य-लक्षण। २-ज्ञानलक्षणा ३-योगज।

१-सामान्य लक्षण सन्निकर्ष-

सामान्य का अर्थ है-समान सदृश-अनेक आश्रयों में ज्ञात होने वाले धर्म।

अतः कोई भी धर्म; चाहे उसका वास्तव आश्रय एक ही हो या अनेक, यदि अनेक आश्रयों में अवगत होता है; तो वह (सामान्य) शब्द से व्यवहृत होता है।

अर्थात्-किसी एक ही द्रव्य में जो वस्तुतः आश्रित होता है; वह भी भ्रमोत्पादक दोषवश यदि अन्य द्रव्यों में भी ज्ञात हो जाता है; तो वह एक व्यक्ति मात्र में रहने वाला रूप आदि व्यक्ति भी इस सन्दर्भ में सामान्य कहा जाता है। सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष के चार स्वरूप मान्य है। सामान्य, इन्द्रिय जन्य, सामान्य प्रकारक ज्ञान तथा सामान्य विषयक-ज्ञान।

सामान्य को सन्निकर्ष मानने में यह त्रुटि होती है कि जब किसी अनित्य सामान्य की अविद्यमानता में उसका भ्रम होने पर उसके वास्तव आश्रय का अलौकिक-प्रत्यक्ष उत्पादनीय होगा। तो उसकी उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि उसका कारण अनित्य सामान्य रूप सामान्य लक्षण सन्निकर्ष उस समय विद्यमान न हो सकेगा।

इन्द्रिय-जन्य सामान्य ज्ञान को सन्निकर्ष मानने में त्रुटि यह है कि इन्द्रिय के भेद से उस सन्निकर्ष का भेद होने से गौरव होगा।

एवं सामान्य प्रकारक ज्ञान को सन्निकर्ष मानने में यह त्रुटि है कि सामान्य-विशेष्यक ज्ञान के अनन्तर अनुभव में आने वाले सामान्याश्रय के अलौकिक-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति न हो सकेगी। नवीन नैयायिकों ने इन्हीं सब त्रुटियों को दृष्टिगत करते हुए सामान्य विषयक ज्ञानको सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष मानकर इस प्रकार का कार्य-कारण भाव स्वीकार किया है कि-"स्वप्रकारी भूततत्तत्सामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति स्वविषयीभूततत्तत्सामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से ज्ञान कारण होता है; इसके अनुसार धूमत्व के ज्ञान से समस्त धूम को विषय करने वाले घूमत्व-प्रकारक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है।

क्योंकि-धूमत्व-ज्ञान रूप कारण स्वविषयीभूत सामान्याश्रयनिष्ठ विषयिता सम्बन्ध से समस्त धूम में रहता है।

जैसे-(स्व) है धूमत्व-ज्ञान; उसका विषयभूत सामान्य है धूमत्व; उसका आश्रय है समस्त धूम; तन्निष्ठ विषयता है; ईश्वर ज्ञानीय धूमनिष्ठ विषयता; वह समस्त धूम में रहती है; अतः उस सम्बन्ध से धूमत्वज्ञान के समस्त धूम में विद्यमान होने से उनमें स्वप्रकारीभूत सामान्याश्रयनिष्ठ विषयता सम्बन्ध से धूमत्व प्रकारक प्रत्यक्ष का जन्म सर्वथा सुसंगत है; क्योंकि-समस्त धूम में धूमत्व प्रकारक प्रत्यक्ष का उक्त सम्बन्ध अक्षुण्य है।

जैसे-स्व है धूमत्व-प्रकारक प्रत्यक्ष उसमें प्रकारभूत सामान्य है धूमत्व; उसका आश्रय है समस्त धूम; तन्निष्ठ विषयता है; उत्पन्न होने वाले धूमत्व प्रकारक प्रत्यक्ष की विषयता; यह विषयता है; समस्त धूम में अतः उक्त विषयता सम्बन्ध से समस्त धूम में धूमत्व प्रकारक प्रत्यक्ष का जन्म न्याय्य है।

प्रस्तुत कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध में इस प्रकार का एक प्रश्न उठ सकता है कि-जैसे-कारणभूत धूमत्व ज्ञान के समस्त धूम विषयक होने पर भी स्वविषयीभूत सामान्याश्रयनिष्ठविषयता शब्द से ईश्वर के साथ ज्ञानीय विषयता को लेकर उक्त सम्बन्ध से धूमत्व ज्ञान का अस्तित्व समस्त धूमविषयक न होने पर भी स्वविषयीभूत सामान्याश्रयनिष्ठ विषयता शब्द से ईश्वर-ज्ञानीय विषयता को लेकर उक्त सम्बन्ध से धूमत्व ज्ञान का अस्तित्व समस्त धूम में हो जाता है। उसी प्रकार कार्यभूत धूमत्व प्रकारक प्रत्यक्ष भी ईश्वर ज्ञानीय विषयता को लेकर स्वप्रकारीभूत सामान्याश्रयनिष्ठ विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकता है। इस कार्य-कारणभाव के आधार पर सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष द्वारा समस्त धूम को विषय करने वाले धूमत्व-प्रकारक प्रत्यक्ष का उदय कैसे हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-ईश्वरीय ज्ञान यहाँ कार्य मात्र का कारण होता है। अतः उसकी विषयता कारणताच्छेदक सम्बन्ध तो बन सकती है पर ईश्वर ज्ञान के अकार्य होने के कारण उसकी विषयता कार्यतावाच्छेदक सम्बन्ध नहीं बन सकती। इसलिये कार्यभूत धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष को समस्त धूम का ग्राहक मानना आवश्यक है।

सामान्य ज्ञान के सन्निकर्षत्व के विषय में यह एक बात ध्यान देने योग्य है-"कि बाह्य-इन्द्रियों से सामान्य-ज्ञान द्वारा सामान्य के समस्त

आश्रयों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष का जन्म उसी स्थिति में होगा जब सामान्य के किसी एक आश्रय के बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले लौकिक-प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित रहेगी। और जब इस प्रकार की कोई सामग्री न रहेगी; ऐसी दशा में सामान्य के समस्त आश्रय का बाह्य-प्रत्यक्ष न होकर केवल मानस-प्रत्यक्ष ही उत्पन्न होगा।

सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष को मानने का प्रमुख कारण यह होता है कि इसके न मानने पर कई अनुपपत्तियाँ उपस्थित होती हैं-जैसे-पर्वत में धूम को देखने पर दूर से पर्वतस्थ अग्नि का जो अनुमान होता है वह उक्त सन्निकर्ष के अभाव में न हो सकेगा क्योंकि उक्त अनुमान के लिये पर्वत में अग्नि-व्याप्ति से विशिष्ट धूम के ज्ञान रूप परामर्श का होना आवश्यक है, और उसके लिये पर्वतस्थ धूम में पर्वतस्थ अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित है। जो पर्वतस्थ अग्नि और धूम के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से सम्भव नहीं है और जब सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष माना जायेगा तब पाकशाला, यज्ञशाला आदि स्थानों में अग्नि और धूम का साहचर्य अवस्थान का प्रत्यक्ष होने पर अग्नित्व तथा धूमत्वरूप सामान्य-अग्नि और धूम के इन्द्रिय सन्निकृष्ट हो जाने से समस्त धूमों में समस्त अग्नि के साहचर्य का अलौकिक प्रत्यक्ष सम्भव हाने से समस्त धूम में समस्त अग्नि की व्याप्ति का अलौकिक प्रत्यक्षात्मक अनुभव हो जायेगा और उसके आधार पर कालान्तर में पर्वतस्थ धूम के दृष्टिगोचर होने पर उक्त रीति से उसमें पर्वतस्थ अग्नि की पूर्वानुभूत उस ज्ञान से पर्वत में अग्नि व्याप्ति से विशिष्ट धूम के ज्ञान रूप परामर्श का उदय हो से पर्वत में अग्नि का अनुमान होने में कोई बाधा न होगी।

दूसरी अनुपपत्ति यह होगी कि उक्त सन्निकर्ष के अभाव में पर्वत में अग्नि का अनुमान न हो सकेगा क्योंकि-विशिष्ट बुद्धि में विशेषण ज्ञान होने के कारण उस अनुमान के लिये पूर्व में पर्वतस्थ अग्निरूप विशेषण का ज्ञान अपेक्षणीय होगा; जो सामान्य लक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार न करने पर पर्वतस्थ अग्नि के इन्द्रिय सन्निकृष्ट न होन के कारण सम्भव नही है।

इसी प्रकार एक दो स्थानों में धूम में अग्नि का साहचर्य देखने पर

इस प्रकार का सन्देह होता है कि-"धूमः अग्निव्याप्यो न वा" अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान धूम के समान ही क्या संसार के सारे धूम अग्नि से व्याप्त है; अथवा कोई धूम अग्नि का व्यभिचारी भी है?

सामान्य लक्षण के सन्निकर्ष के अभाव में इस सन्देह का उदय न हो सकेगा। क्योंकि जो धूम सन्निहित है; उसके ज्ञान का कोई उपाय न होने से वह अज्ञात हैं।

अत: उसमें भी उक्त सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि सन्देह में तो धर्मिज्ञान कारण होता है।

किन्तु जब सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष माना जायेगा; तब यह संकट नहीं माना जायेगा। क्योकि-किसी धूम का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर धूमत्व या धूमत्वज्ञानरूप सामान्य लक्षण सन्निकर्ष से समस्त धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि-कोई धूम अज्ञात नहीं रह जायेगा।

इस प्रकार जो धूम असन्निहित है; किन्तु सामान्य लक्षण द्वारा उसकी सन्निकर्षता ज्ञात है; उसमें अग्नि की व्याप्ति का व्यभिचार का निर्णय न रहने से उसमें अग्नि व्यभिचार का सन्देह न होने में कोई बाधा न होगी।

इसी प्रकार सामान्य लक्षण का सन्निकर्ष न स्वीकार करने पर तम का प्रत्यक्ष न हो सकेगा-अत: तम का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उनके प्रतियोगीभूत समस्त तेजों का ज्ञान हो; क्योंकि-अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। पर यदि सामान्य लक्षण सन्निकर्ष माना जायेगा तो किसी एक घट का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर घटत्व या घटत्व ज्ञानरूप सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष से अनुत्पन्न घट का भी ज्ञान हो जायेगा। और फिर उस ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष से प्रागभाव के प्रत्यक्ष में ज्ञान होने में कोई बाधा न होगी।

सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के अभाव में सुख की इच्छा न हो सकेगी। क्योंकि इच्छा उसी वस्तु की होती है; जो ज्ञात और अप्राप्त रहता है। किन्तु सुख ज्ञात और अप्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वही सुख अप्राप्त होगा जो अनुत्पन्न हो; और जो अनुत्पन्न होगा वह सामान्य-लक्षण के अभाव में किसी भी अन्य प्रकार से ज्ञात न हो

सकेगा; किन्तु जब सामान्य लक्षण सन्निकर्ष माना जायेगा तब किसी एक सुख का लौकिक-प्रत्यक्ष होने पर सुखत्व रूप सामान्य लक्षण सन्निकर्ष से अनुपपन्न अप्राप्त सुख का भी लौकिक-प्रत्यक्ष होने पर सुखत्वरूप सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष से अनुपपन्न अप्राप्त सुख का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायेगा।

अतः उस ज्ञात अप्राप्त सुख की इच्छा होने से कोई बाधा नहीं होगी।

परन्तु सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के विषय में दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने उक्त सभी प्रयोजनों का प्रकारान्तर से उपपादन कर सामान्य लक्षण सन्निकर्ष को अस्वीकृत कर दिया है।

रघुनाथ शिरोमणि एवं पक्षधर मिश्र के बीच सामान्य-लक्षण को लेकर ही शास्त्रार्थ हुआ था। सामान्य-लक्षण के विरुद्ध रघुनाथ द्वारा उपस्थित किये गये तर्कों से त्रस्त हुए मिश्र की यह क्रोधोक्ति न्याय-जगत में सर्वविदित है। जो निम्नलिखित है—

"वक्षोजपानकृत् काण! संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते।।"

२-ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष–

जब कोई वस्तु ज्ञात होती है; तब उस वस्तु के ज्ञान को; उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का ज्ञानलक्षण को सन्निकर्ष कहा जाता है।

जिसके आधार पर इन्द्रिय ऐसे ज्ञान का भी विषय बनती है; जिसमें इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से उसके भान की सम्भावना नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष के अभाव में हमें रज्जु में सर्प और सीपी में चाँदी का भ्रम न हो सकेंगे। क्योंकि-प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु का ही भान होता है। परन्तु सीप के साथ मन का तथा रज्जु एवं घट के साथ मन का लौकिक सन्निकर्ष नहीं होता।

परन्तु ज्ञान-लक्षण को सन्निकर्ष मानने पर उक्त भ्रम के होने में कोई बाधा न होगी। क्योंकि-उक्त भ्रम के होने पर रजतत्त्व और सर्पत्व का प्रकारविधया भान होने से उसके पूर्व में उन धर्मों का ज्ञान अवश्य मानना होगा। फिर उस ज्ञानात्मक सन्निकर्ष के द्वारा भ्रम में उन धर्मों का भान होने से कोई बाधा न होगी।

जो व्यक्ति कमल के फूल का गन्ध लिये रहता है; अर्थात् जिसको उसके गन्ध का ज्ञान है वह दूर से ही यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि यह कमल है इसका गन्ध अमुक प्रकार का होगा।

अतः उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार करना आवश्यक है। "जो इस ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष का अनुयोगी होता है; वह विषय होता है। अतः विषयता ही इस सन्निकर्ष के अनुयोगिता का नियामक है।

इस सन्निकर्ष का प्रतियोगी कभी मन होता है; कभी इन्द्रियाँ। मन में इस सन्निकर्ष के प्रतियोगिता का नियामक होता है-स्वाश्रयसंयोग जैसे-स्व है (घट ज्ञान); उसका आश्रय है आत्मा तथा उसका संयोग है मन, बाह्य-इन्द्रियाँ भी इस सन्निकर्ष की प्रतियोगी होती हैं। उनमें इस सन्निकर्ष की प्रतियोगिता का नियामक है-स्वाश्रय संयुक्त संयोग। जैसे-स्व है रज तत्त्वादि का ज्ञान; उसका आश्रय है (आत्मा) उसमें संयुक्त है (मन)। और मन से संयुक्त है बाह्य इन्द्रियाँ।

सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण का परस्पर भेद–

प्रश्न यह होता है कि सामान्य को सामान्य लक्षण सन्निकर्ष मानने पर ज्ञानलक्षण से उसका भेद तो स्पष्ट है किन्तु सामान्य ज्ञान को सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष मानने पर उन दोनों में स्वरूपकृत भेद तो सम्भव नहीं है; तो फिर उन दोनों में क्या भेद है?

इसका उत्तर यह हैं कि-सामान्य लक्षण का अनुयोगी होता है; उसके विषयभूत सामान्य का आश्रयभूत पदार्थ; और ज्ञान लक्षण का अनुयोगी होता है; उसका विषयभूत पदार्थ। विश्वनाथ ने इसी तथ्य का विशद् वर्णन करते हुए अपने भाषा परिच्छेद में लिखा है।

"आसक्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः।।"

ज्ञानलक्षण अपने विषयभूत पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। और सामान्यज्ञानात्मक सामान्य लक्षण सन्निकर्ष अपने विषयभूत सामान्य के आश्रय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है।

जैसे-घटत्व का ज्ञान ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष के रूप में उपस्थित होने पर घटत्व के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। और उस सन्निकर्ष

से घटत्व का ही प्रत्यक्ष होता है। और जब वही घटत्व का ज्ञान सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष का कार्य करने को प्रस्तुत होता है; तब वह घटत्व के आश्रय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। और उस सन्निकर्ष से समस्त घटों का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है।

३-योगज-सन्निकर्ष–

पुराण आदि शास्त्रों में यह उल्लेख बार-बार प्राप्त होता है, कि, योगियों को समीपस्थ, सन्मुखस्त; वर्तमान स्थुल वस्तुओं के समान ही दूरस्थ पूष्टस्थ, भूत, भविष्यद् तथा परम सुक्ष्म वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

प्रश्न उठता है कि-यह प्रत्यक्ष उन्हें कैसे सम्भव हो पाता है?

क्योंकि इन्द्रियों की क्षमता सीमित होती है। वह तो जिन वस्तुओं के साथ उक्त छः सन्निकर्षों में कोई सन्निकर्ष सम्भव होता है; केवल उन्हीं वस्तुओं के प्रत्यक्ष को जन्म दे पाती हैं। तो फिर दूरस्थ, पृष्टस्थ, भूत और भावी पदार्थ जिनमें इन्द्रिय के उक्त सन्निकर्ष कथमपि सम्भव नहीं है योगी को उनका प्रत्यक्ष कैसे सम्भव हो जाता है?

योगज सन्निकर्ष की मान्यता यह है कि लम्बे समय तक लगातार योग का अभ्यास करने से साधक में एक विशेष प्रकार के उदय का सामर्थ्य का उदय हो जाता है-इसे ही न्यायशास्त्र में (योगज) धर्म शब्द से अभिहित किया गया है। यह सामर्थ्य ही यह धर्म ही सर्वदेशस्थ और सर्वकालस्थ समस्त वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता है।

फलतः जिन वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के उक्त छः लौकिक सन्निकर्ष तथा सामान्य-लक्षण और ज्ञान-लक्षण अलौकिक सन्निकर्ष नहीं होते। उनके साथ भी इन्द्रिय का यह योगज योगाभ्यास जन्य धर्मरूप सन्निकर्ष हो जाता है।

अतः किसी स्थान और किसी भी काल की कोई वस्तु भी ऐसी नहीं बचती जो योगी की इन्द्रिय से सन्निकृष्ट न हो। इसलिये सभी वस्तु योगी को प्रत्यक्ष-गम्य हो जाती है।

अर्थात् कोई वस्तु उसके लिये अप्रत्यक्ष नहीं रह जाती।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि-योगज धर्म तो योगी के आत्मा में समवेत होता है; आत्मभिन्न वस्तुओं में तो रहता नहीं; फिर वह समस्त

वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कैसे बन जाता है?

इसका उत्तर यह है कि-योगज धर्म समावाय सम्बन्ध से योगी के आत्मा में ही हरता है यह ठीक है; किन्तु स्वाश्रयसमानकालिकत्व सम्बन्ध से वह सर्वदेशस्थ और सर्वकालस्थ सभी वस्तुओं में रहता है जैसे-स्वाश्रयसमानकालिकत्व में स्व का अर्थ है योगज धर्म; उसका आश्रय है योगी की आत्मा; उसका समान कालिक है-संसार के संपूर्ण पदार्थ। अतः इस सम्बन्ध से योगज धर्म के सर्ववस्तु गामी होने से समस्त पदार्थ इस योगज धर्मात्मक सम्बन्ध के अनुयोगी हो सकते हैं; इसी प्रकार योगी की इन्द्रियाँ इस सम्बन्ध की प्रतियोगी भी बन सकती हैं; क्योंकि योगी की बाह्य इन्द्रियों के साथ योगजधर्म का स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग सम्बन्ध होता है; और योगी के अन्तर इन्द्रिय-मन के साथ स्वाश्रय-संयोग सम्बन्ध होता है। अतः इन सम्बन्धों के द्वारा इन्द्रिय के योगजधर्मात्मक सम्बन्ध के प्रतियोगी होने में कोई बाधा नहीं है।

फलतः उक्त सम्बन्धों के द्वारा वस्तुगत और इन्द्रियगत होने से योगज धर्म के उन दोनों के बीच सन्निकर्ष होने में कोई अड़चन नहीं हो सकता।

विश्वनाथ पञ्चानन ने इस योगज प्रत्यक्ष के दो भेद भाषा-परिच्छेद कारिकावली में किये हैं-, १-युक्तयोगज २-युञ्जानयोगज।

१-युक्तयोगज–

जो साधक युक्त अर्थात् सर्वथा योगसिद्ध हो चुका है; उसका योगज धर्म युक्त योगज कहलायेगा। इस सन्निकर्ष के द्वारा सिद्ध योगी को सब वस्तुओं का सदैव प्रत्यक्ष होता रहता है।

२-युञ्जान-योगज–

तथा जिसकी साधना समाप्त नहीं होती एवं वह योगाभ्यास में लगा रहता है। वही युञ्जान योगज कहलाता है। युञ्जान योगी को वस्तुओं का प्रत्यक्ष तभी होता है; जब वह सावधान हो चिन्तन की अवस्था में लगा रहता है। जिसे निम्न कारिका द्वारा व्यक्त किया गया है—

"युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्ता सह कृतोऽपरः"

विषय इन्द्रियों से किस प्रकार सन्निकृष्ट होते हैं।

द्रष्टा के शरीर में दो प्रकार इन्द्रियाँ होती हैं—

१-एक वह जो शरीर के बाहर जाकर विषय के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकती है। तथा २-दूसरी वह जो शरीर से बाहर नहीं जा सकती। किन्तु उसके निकट वस्तु के पहुँचने पर वह उनसे सम्पर्क स्थापित कर सकती है।

पहले प्रकार में एक ही इन्द्रिय आती है और वह है चक्षु; इसकी रचना तेज के परमाणुओं से होती है। जो आँख के भीतर काली पुतली के उपरी भाग पर अवस्थित रहती है। तेज से उत्पन्न होने के कारण वह द्रुतगामी किरणों से सम्पन्न होता है। अतः जब कभी द्रष्टा की आँख खुलती है, तब तत्काल ही किरणों के द्वारा सामने पड़ी बाहर की वस्तुओं पर पहुँच जाती है। और उन्हें सन्निकर्ष से प्रत्यक्षगम्य बना देती है। न्याय के आधार पर प्रत्यक्ष-प्रमाण का वर्णन करने के पश्चात् अनुमान उपमान एवं शब्द प्रमाण की भी चर्चा उपस्थित करना अनिवार्य है—जिसे उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्यक्ष के पश्चात् अब हम अनुमान के विषय में कुछ विचार करेंगे-व्याकरण के अनुसार अनुमान शब्द की निष्पत्ति अनु+मा+ल्युट् से होती है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमान का अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञान के बाद होने वाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है।

अनुमान के स्वरूप लाभ में प्रत्यक्ष का सहकार-पूर्वकारण के रूप में अपेक्षित होता है।

अतएव तर्कशास्त्री ज्ञान-प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थ से अज्ञात परोक्ष वस्तु की जानकारी अनुमान द्वारा करते हैं।

कभी-कभी अनुमान का आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है।

उदाहरणार्थ-शास्त्रों द्वारा आत्मा की सत्ता का ज्ञान होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि-आत्मा शाश्वत है; क्योंकि-वह सत् है। इसी कारण वात्स्यायन नें अनुमान को प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित माना है। अनुमान को ही अन्वीक्षा भी कहते हैं। जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तु के ज्ञान के प्राप्ति के पश्चात् दूसरी वस्तु का ज्ञान। जैसे-धूम के ज्ञान

के प्राप्ति के पश्चात् अग्नि का ज्ञान। तात्पर्य-यह है कि-एक अविनाभावी वस्तु के ज्ञान के पश्चात्-उसी वस्तु के द्वारा दूसरे वस्तु का ज्ञान।

अनुमान के दो प्रमुख आवश्यक अंश है १-पक्षधर्मता २-व्याप्ति।

पक्ष धर्मता को ही प्रशस्तपाद् ने हेतु के तीन रूपों में परिगणित प्रथम रूप के द्वारा अनुमेय सम्बन्धत्व रूप में प्रगट किया है। वे तीन रूप हैं—१-पक्षधर्मत्व २-सपक्षसत्त्व ३-विपक्षसत्त्व।

इसमें पक्षधर्मत्व पक्षधर्मता के लिये ही आया है। जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तु ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है। यथा धूम का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अग्नि का ज्ञान करना।

अनुमान का विकास निबद्ध रूप से अक्षपाद के न्यायसूत्र से आरम्भ होता है। न्यायसूत्र के व्याख्याकारों-वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, श्रीकण्ठ, गंगेश, वद्धमान उपाध्याय, विश्वनाथ प्रभृति-ये अनुमान के स्वरूप आधार भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्ति-ग्रहण अवयव आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं।

अनुमान का क्रमिक विकास तर्कशास्त्र के दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है। उससे कहीं अधिक भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास के दृष्टि से भी हैं।

भारतीय अनुमान परम्परा का जितना विचार तर्क-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उतना या उससे कुछ कम धर्मशास्त्र, दर्शन-शास्त्र और पुराण ग्रन्थों में भी पाया जाता है। परन्तु यहाँ पर हमारा उद्देश्य स्वतंत्र दृष्टि से भारतीय तर्कग्रन्थों में अनुमान पर जो चिन्तन उपलब्ध होता है-उसी के उपर है अनुमान के क्षेत्र में वात्स्यायन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उद्योतकर का है। उन्होंने लिङ्ग परामर्श को अनुमान माना है। उद्योतकर का कथन है कि-अनुमान-वस्तुतः वह होता है-जिसके अनन्तर उत्तरकाल में शेषार्थ (अनुमेयार्थ) प्रतिपत्ति (अनुमिति) हो; और ऐसा केवल लिङ्ग परामर्श अभीष्टार्थ अनुमेयार्थ का अनुमापक है। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुमान का क्या स्वरूप है? एवं उसके कितने भेद हैं? इसका उत्तर यह है कि भारतीय-दर्शन की परम्परा में अनुमान प्रमाण का प्रमुख स्थान है। चार्वाक् को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान प्रमाण को मानते हैं।

न्यायशास्त्र में लिङ्ग परामर्श को अनुमान कहा जाता है-अर्थात् जिससे अनुमिति की जाती है; वही अनुमान-प्रमाण कहा जाता है। अनुमिति लिङ्ग परामर्श से की जाती है-अतः लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है। तथा धूम आदि का ज्ञान ही लिङ्ग-परामर्श हैं दूसरे अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान (प्रमा) के लिये-जैसे-"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम् अनुमानम् वहाँ अनुमान शब्द का अर्थ है; अनुमिति-अर्थात् अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान (द्र० मितेन लिङ्गेन अर्थस्य पाश्चात् मानमनुमानम्) (अनुमानमनुमितिःन्या.वृ. १.१३) फिर भी मुख्य रूप से अनुमान प्रमाण के लिये-अनुमान शब्द का प्रयोग किया जाता है-तथा अनुमान से उत्पन्न प्रमा के लिये अनुमिति शब्द का प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रमाण के वाचक अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति है-अनुमीयतेऽनेनेति (जिससे अनुमिति की जाती है)। तर्कभाषाकार ने इन शब्दों में दिखलाया है-येन हि अनुमीयते तद् अनुमानम्। अनु उपसर्गपूर्वक मा धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय होकर अनुमान शब्द निष्पन्न होता है।

अनु का अर्थ है पश्चात्-मान का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण। अनुमान-प्रत्यक्ष या आगम के पश्चात् उत्पन्न होता है। इस प्रकार अनुमान का लक्षण बताते हुए यह कहा गया है कि-

जो अनुमिति का करण होता है वह अनुमान होता है। अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान करण एवं परामर्श व्यापार होता है।

व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

क्योंकि परामर्श व्याप्ति ज्ञान से पैदा होता है; और व्याप्ति ज्ञान से पैदा होने वाले अनुमिति को पैदा करता है।

अत; "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्" इस व्यापार के लक्षण में ठीक घट जाने से-वह (परामर्श) व्यापार है। इस प्रकार (अनुमिति करणम् अनुमानम्) इसमें व्याप्ति ज्ञान अनुमान हुआ। क्योंकि यह व्याप्ति ज्ञान परामर्श रूप व्यापार के द्वारा अनुमिति के असाधारण प्रति कारण है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति के प्रति कारण होता है।

यदि हम परामर्शजन्यमिति-कहते हैं तो जो परामर्श से जन्य है और ज्ञान है; वह अनुमिति है "यह अनुमिति का लक्षण है।

यहाँ केवल (ज्ञानत्वम्) कहते हैं तो प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है-क्योंकि-वे भी तो ज्ञान है अत: इस दोष को हटाने के लिये (परामर्शजन्यत्व विशेषण) दिया गया है।

यदि केवल "परामर्श जन्यत्व" ही कहते हैं तो (परामर्श) के ध्वंस से अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि- वह भी परामर्श से जन्य है। अत: इस दोष के वारणार्थ ज्ञानत्व के साथ कह दिया ध्वंस परामर्श जन्य तो है; पर ज्ञान नहीं है; तो दोष नहीं रहेगा। इसे हम इस स्वरूप में भी स्थापित कर सकते हैं—

अनुमिति के लक्षण में घटक है परामर्श, उसका लक्षण है-व्याप्ति-विशिष्टता। "व्याप्ति विशिष्टं च तत् पक्षधर्मता ज्ञानं च" इस कर्मधारय में "विशिष्ट" पद का अर्थ है-प्रकारता निरूपक। पक्षधर्मताया: ज्ञानं "पक्षधर्मताज्ञानम्"।यहाँ षष्ठी से विषयता का बोध होता है। (पक्षधर्मता विषयक ज्ञान) और पक्ष धर्मता में धर्मता का अर्थ है-सम्बन्ध; तो कर्मधारय-समास में-व्याप्ति विशिष्ट और पक्षधर्मता ज्ञान का अभेद संसर्ग-सम्बन्ध होकर सार रूप अर्थ यही होगा। "जो ज्ञान व्याप्ति-प्रकारक है और पक्ष-सम्बन्ध विषयक है; वह परार्मश है।

परन्तु ऐसी दशा में अतिव्याप्ति हो जायेगी-क्योंकि-"वह्निव्याप्यो धूम आलोकवान् पर्वत:" इस समूहालम्बन ज्ञान में अतिव्याप्ति प्रकारक है।

क्योंकि-उक्त समूहालम्बन "वह्नि व्याप्यो धूम:" इस अंश में व्याप्ति प्रकारक है।

तथा "आलोकवान् पर्वत:" इस अर्थ में पक्ष सम्बन्ध विषयक है-अत: यहाँ दोष वारण के लिये परामर्श का लक्षण इस प्रकार मानना होगा। पक्ष में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित जो हेतुनिष्ठा प्रकारता उस से निरूपित जो व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता; तादृश प्रकारता शाली ज्ञान परामर्श होता है। एतादृश परामर्शजन्य ज्ञान को अनुमिति कहा जाता है।

अनुमिति और परामर्श का विशेषत: कार्य कारण भाव इस प्रकार होगा-पर्वतत्वावच्छिन्न उद्देश्यता से निरूपित जो संयोग सम्बन्धावच्छिन्ना और वह्नित्त्वावच्छिन्न (वह्निनिष्ठा) विधेयता तच्छाली अनुमितित्वावच्छिन्न

अनुमिति के प्रति वह्नि-व्याप्ति प्रकारता से निरूपित जो (पर्वत निष्ठा) पर्वतत्वावच्छिन्न विशेष्यता-तादृश विशेष्यता शाली ज्ञान रूप परामर्श कारण है। जिसका आकार है "वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वत:" इति।

यावत्पद की महिमा से -"वह्नि धूमव्यापक है" अर्थात्-धूमाधिकरणों में वह्नि रहती है। यह भाव निकलता है। इसी आधार पर "साहचर्यनियमो व्याप्ति:" कहा जाता है।

इसका अर्थ है-नियत-साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं। साहचर्य का अर्थ है-(समान अधिकरण में रहना); नियता का अर्थ है व्यापक। वह्नि में धूम व्यापकता का तात्पर्य है-धूम के अधिकरणों में रहने वाले प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो धर्म तादृश धर्मवत्वम्। जैसे-धूम के अधिकरण हैं, पर्वत, महानस, चत्वर इत्यादि-उनमें रहने वाला घटाभाव, पटाभव आदि इसे हम घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव कहेंगे। वहाँ रहने वाला अभाव (वह्न्यभाव) नहीं रहेगा, क्योंकि-धूमाधिकरण पर्वतादि में रहने वाला घटाद्यभाव है-उसके प्रतियोगिताका अवच्छेदक घटत्वादि है; और अनवच्छेदक धर्म होगा वह्नित्व। "तद्वत्त्वम्" बह्नि में रहता है। अत: धूम-व्यापकत्व वह्नि में घट गया। यह व्याप्ति सिद्धान्तानुसार है।

व्याप्य (त.स्र.)=व्याप्ति विशिष्ट धूमादि का जो पर्वतादि पक्ष में वृत्तित्व, वही पक्षधर्मता है (व्याप्ति विशिष्ट का पक्ष में रहना)।

"साध्याभाववदवृत्तित्वम्"

साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का न रहना जैसे-साध्य है-अग्नि-साध्य का अभाव वह्न्याभाव-उसके अधिकरण जल ह्रदादि-वहाँ हेतु धूम नहीं रहता। इस पूर्व व्याप्ति का सारभूत परिष्कृत लक्षण यह होता है-जैसे-"पर्वतो वह्निमान् धूमात्)।

यहाँ पर साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध है-संयोग उससे अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला (अभाव) एवं प्रतियोगितावच्छेदक संयोग सम्बन्धावच्छिन्न; प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व धर्मावच्छिन्न जो वह्नि उसके वैयधिकरण्य से अवच्छिन्न जो "वह्निर्नास्ति" इत्याकारक अभाव-तद्वान् होंगे जल-ह्रदादि-उससे निरूपित जो हेतुतावच्छेदक संयोग सम्बन्धावच्छिन्ना और वृत्तितात्वाच्छिन्नावृत्तिता तादृश वृत्तिता-प्रतियोगिक अभाव व्याप्ति है।

वह अभाव होगा-"साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वं नास्ति" इस प्रकार वह्नि की व्याप्ति धूम में घट जाती है।

परन्तु यह पूर्वपक्ष लक्षण की व्याप्ति केवलान्वयी अनुमान में केवल घटने के कारण सिद्धान्त व्याप्ति को ही मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण व्यवस्थित हो जाने पर-यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याप्ति के कितने भेद होते हैं?

भेद के दृष्टिकोण से व्याप्ति के दो भेद हैं—१-अन्वय व्याप्ति २-व्यतिरेक व्याप्ति।

१-अन्वय व्याप्ति-इसमें एक के होने पर दूसरे का होना पाया जाता है। जैसे-जहाँ धुँवा रहता है; वहीं आग भी रहती है। परन्तु व्यतिरेक व्याप्ति का यह नियम है कि—

व्यतिरेक-व्याप्ति–

जहाँ पर एक के न होने पर दूसरे का भी न होना पाया जाय-वहाँ पर व्यतिरेक व्याप्ति होती है।

जैसे-जहाँ धुवाँ नहीं रहता वहाँ पर आग भी नहीं रहती।

अर्थात्-हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव के अप्रतियोगी साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण्य होना अन्वय-व्याप्ति का लक्षण है।

जैसे-"पर्वतो वह्निमान्" यहाँ हेतु धूम है; उसके अधिकरण हैं महानस आदि; वहाँ रहने वाला अभाव होंगे घटाभाव, पटाभाव इत्यादि-कभी भी वह्नि का अभाव नहीं होगा; उन अभावों के प्रतियोगी घट पटादि होंगे (वह्नि) नहीं, तो अप्रतियोगी साध्य है वह्नि उसके साथ हेतु धूम का समानाधिकरण्य अन्वय-व्याप्ति है।

इस -प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति उसे कहा जाता है-साध्याभाव के साथ व्यापकता रखने वाले अभाव का प्रतियोगी हो जाना साध्य की हेतु में व्यतिरेक-व्याप्ति है।

जैसे-(पर्वतो वह्निमान्) इसमें साध्य वह्नि है; साध्य का अभाव है-धूमाभाव जलह्रद में वह्नि नहीं है; धूम भी नहीं है-अर्थात्-वह्न्यभाव के साथ व्यापकीभूत अभाव है; उसका प्रतियोगी है धूम (हेतु) प्रतियोगित्व

हेतु पर आ गया यह व्यतिरेक व्याप्ति है इस तरह व्याप्ति दो प्रकार की है अनुमान तीन प्रकार है-

१-केवलान्वयी २-केवल व्यतिरेकी ३-अन्वय-व्यतिरेकी।

जिस अनुमान में केवल अन्वय-व्याप्ति है-अर्थात्-जिसके विपक्ष में कोई नहीं हैं; वह अनुमान केवलान्वयी होता है। जैसे-घट अभिधेय है'' क्योंकि-वह प्रमेय है; घट के समान। यहाँ पर जहाँ जहाँ प्रमेयत्व है; वहाँ सर्वत्र अभिधेयत्व है। यह अन्वय-व्याप्ति है। व्यतिरेक व्याप्ति नहीं है-क्योंकि-सभी अभिधेय है; और सभी प्रमेय है। अतएव यहाँ पर विपक्ष कोई भी है कि नहीं है।

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक भेद से व्याप्ति दो प्रकार की बताई गयी है। साध्य की हेतु में व्याप्ति तीन प्रकार की हो सकती है-केवल अन्वय; केवल व्यतिरेक और अन्वय-व्यतिरेक तो हेतु भी तीन प्रकार का हो जाता है- (१) केवलान्वयी (२) केवल व्यतिरेकी (३) और अन्वय व्यतिरेकी। इस तीन प्रकार के हेतु के आधार पर अनुमान भी तीन होते हैं।

जहाँ पर हेतु में केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो वह केवल व्यतिरेकी अनुमान का स्वरूप है-अर्थात् इसमें अन्वय व्याप्ति नहीं रहती। अतएव इसमें सपक्ष नहीं होता। जैसे "पृथ्वी इतर भेदवती है; क्योंकि गन्धवती है'' जहाँ जो इतर-भेदवान् नही है-वह गन्धवान् नहीं है; यथा जल। यह व्यतिरेक-व्याप्ति ही है। जो गन्धवान् है; वह इतर भेदवान् है। इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति यहाँ नहीं है। क्योंकि-यहाँ सपक्ष कोई नहीं है; इसलिये दृष्टान्त कोई नहीं मिल सकता; क्योंकि-समस्त पृथ्वी गन्धवाली है वह पक्ष है।

तथा जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियाँ हों तो इसमें सपक्ष और विपक्ष दोनों होते हैं।

उदाहरण-"पर्वतो वह्निमान् धूमात्'' जैसे-"जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है'' अन्वय-व्याप्ति। दृष्टान्त-सपक्ष, महानस इत्यादि। जहाँ वह्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं व्यातिरेक व्याप्ति। दृष्टान्त-तालाब इत्यादि। अर्थात्-अन्वयेन व्याप्ति मत् का अर्थ है-व्यापक=साध्य के साथ समानाधिकरण्य-रूप व्याप्ति वाला।

व्यतिरेकेण व्याप्ति मत का अर्थ है-साध्याभाव और हेत्वाभाव का जो समानाधिकरण्य तद्रूप रूप व्याप्ति वाला हेतु।

तत्सत्वे तत्सत्वम् अन्वय सहचारः। तदभावे तदभावो व्यतिरेक सहचारः।

व्यतिरेक शब्द का अर्थ अभाव है-तो साध्याभाव और हेत्वाभाव की जो व्याप्ति है वही व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। उसका स्वरूप है-जहाँ जहाँ अग्नि का अभाव है; वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव है''।

भाव यह है कि-अन्वय-व्याप्ति में धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है।

किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति में अग्नि का अभाव व्याप्य है; और धूमाभाव व्यापक है-वह इस प्रकार है-

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते।।
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
साध्याभावेऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साद्यनात्ययः।।

अर्थात्-भाव पदार्थों का व्याप्य-व्यापक भाव जैसा होता है; उनके अभावों का व्याप्य व्यापक भाव उससे विपरीत होता है। अन्वय-व्याप्ति में साधन=हेतु व्याप्य होता है; और साध्य व्यापक होता है।

किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति में उसके विपरीत साध्याभाव व्याप्य होता है; और साधनाभाव=हेत्वाभाव व्यापक होता है।

तात्पर्य यह है कि-व्याप्य-व्यापक भाव दोनों स्थलों में एक सा नहीं रहता है। अतएव क्रम भी भिन्न हो जाता है।

अन्वय में हेतु (धूम) व्याप्य है; साध्य (वह्नि) व्यापक है-और व्यतिरेक में यह व्याप्य-व्यापक भाव उल्टा हो गया-साध्याभाव=(वह्न्यभाव) व्याप्य हो गया और साधनाभाव=(धूमाभाव) व्यापक हो गया अतएव बोलने का क्रम भी उल्टा होना स्वाभाविक है। यह नियम है कि-व्याप्ति वाक्य में व्याप्य को पहले बोला जाता है। व्यापक को बाद में श्लोक-वार्तिक भी इसे स्पष्ट करता है।

व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः।।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि-निर्दोष हेतु ही अनुमिति को उत्पन्न कर सकता है।

अर्थात् जो हेतु पक्ष एवं सपक्ष में रहने वाला होता है और विपक्ष में नहीं रहता वह सद्हेतु कहलाता है; और वही अनुमिति का जनक होता है। इसलिये एक शास्त्रकार ने अनुमिति का लक्षण करते हुए बतलाया है कि "पक्षसत्व-सपक्षसत्व विपक्षाऽसत्त्व विशिष्टात् लिङ्गात् लिङ्गिनो ज्ञानमनुमितिः"। अर्थात्-सद्हेतु अनुमापक होता है। असद्हेतु नहीं। असद्हेतु को ही हेत्त्वाभास कहते हैं-अर्थात् हेतुवत् प्रतीत होता है; परन्तु यह वास्तव में हेतु नहीं रहता। क्योंकि-यह अनुमिति को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है।

ये दोष पाँच प्रकार के होतें हैं—

१-सव्यभिचार २-विरूद्ध ३-सत्प्रतिपक्ष ४-असिद्ध ५-एवं बाधित।

सव्यभिचार-

अनैकान्तिक हेतु सव्यभिचार है। एकान्तिक अर्थ है-सहचारी। जो सहचारी नहीं है अर्थात् व्यभिचारी है वह अनैकान्तिक हेतु सव्यभिचार होता है।

यह तीन प्रकार का होता है—१-साधारण २-असाधारण ३-अनुपसंहारी।

साधारण हेत्त्वाभास–

जो हेतु का सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहते हैं-वह साधारण हेत्त्वाभास कहलाता है।-जैसे- पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्-यह प्रमेयत्त्व सपक्ष महानस और विपक्ष जलह्रद दोनों में पाया जाता है। (दोनों प्रमेय=प्रमा के विषय हैं)

असाधारण हेत्त्वाभास–

"जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है; वह असाधारण है।"

जैसे-शब्दो नित्यः शब्दत्त्वात् यहाँ पर 'शब्दत्त्व' हेतु केवल शब्द में रहता है जो कि पक्ष है। किन्तु जो सपक्ष नित्य पदार्थ परमाणु आदि है; उनमें वह नहीं रहता। और न विपक्ष घट-पटादि में रहता है। अतएव यह असाधारण अनैकान्तिक है।

अनुपसंहारी–

जिसका न कोई अन्वय-दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो वह अनुपसंहारी होता है।

"सर्वम्" अनित्यं प्रमेयत्वात्" यहाँ सर्व-सब कुछ पक्ष हैं तो न कोई सपक्ष है, और न कोई विपक्ष है-अर्थात् जो कि-अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त बन सकता है; इसलिये यह अनुपसंहारी है।

विरुद्ध-हेत्त्वाभास–

साध्याभाव के साथ व्याप्ति रखने वाला हेतु विरुद्ध होता है। अर्थात् जो साध्यवान् में रहता ही नहीं। उदाहरण है-**"शब्दो नित्यः; कार्यत्त्वात्"** "यहाँ कार्यत्व हेतु साध्याभाव अनित्यत्व के साथ व्याप्त है" सभी कार्य अनित्य होते हैं। साध्यवान् नित्य में तो कार्यत्व रहता ही नहीं। अतः विरूद्ध हेतु है।

सत्प्रतिपक्ष–

जहाँ साध्याभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा कोई हेतु विद्यमान हो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। अर्थात् जहाँ एक हेतु साध्य को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो; और कोई दूसरा हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो जाय; तो वहाँ प्रथम हेतु ने सत्प्रतिपक्ष हो जाता है। क्योंकि उसका प्रतिपक्षी विद्यमान है।

उदाहरण है-"शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्व-वत्" (शब्द नित्य है; क्योंकि वह श्रावण अर्थात् श्रोत्रोन्द्रिय ग्राहय है शब्दत्व के समान)।

यहाँ दूसरा हेतु है-"शब्दोऽनित्यः कार्यत्त्वात् घटवत्"-(शब्द अनित्य है; क्योंकि कार्य है-घट के समान) यहाँ पर पूर्व हेतु श्रावणत्व नित्यत्व को सिद्ध करता है तथा दूसरा हेतु कार्यत्व; उसके अभाव अनित्यत्व को सिद्ध करता है-इसलिये श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्त्वाभास बन जाता है।

न्याय दर्शन में इसे ही प्रकरणसम कहा गया है। विरूद्ध और साध्याभाव में भेद मात्र इतना है कि-साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु ही यदि साध्याभाव को सिद्ध करे तो उसे विरूद्ध कहते हैं; एवं दूसरा कोई हेतु यदि साध्याभाव को सिद्ध करे तो वह सत्प्रतिपक्ष होता है।

असिद्ध हेत्त्वाभास-

यह भी तीन प्रकार का होता है- १-आश्रयासिद्ध २-स्वरूपासिद्ध ३-व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध-

जहाँ आंश्रय अर्थात् पक्ष की असिद्धि हो वह आश्रयासिद्ध होता है।

जैसे-"गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्" (आकाश-कमल सुगन्धियुक्त है; क्यों कि-यह अरविन्द=कमल है; जैसे-तालाब का कमल); यहाँ आश्रय=पक्ष है आकाशकमल वह होता ही नहीं।

स्वरूपासिद्धि-

जहाँ पर हेतु के स्वरूप की असिद्धि हो वह स्वरूपासिद्धि होता है-जैसे-"शब्दो गुणचाक्षुषत्त्वात् रूपवत्"-यहाँ हेतु का स्वरूप जो चाक्षुषत्व उनकी असिद्धि=अनुपपत्ति है। क्योंकि-शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है-चाक्षुष है ही नहीं।

व्याप्यत्वासिद्ध-

सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है। उपाधि-उसे कहते हैं, जो साध्य के साथ व्यापक है; और हेतु के साथ व्यापक नहीं है; वह उपाधि है।

साध्य व्यापकत्व का अर्थ है-जहाँ साध्य रहता है वहाँ रहना।

सोपाधिक हेतु व्याप्यत्त्वासिद्ध होता है-यथा-"पर्वतो धूमवान् वह्नित्वात्" तो यहाँ आर्देन्धन संयोग उपाधि होता है।

क्योंकि-जहाँ धूम है (साध्य); वहीं आर्देन्धन संयोग है। यही उपाधि होता है। इसलिये साध्य-व्यापकता है। अत्यन्त तप्त लोहे के गोले में साधन (हेतु) अग्नि है। किन्तु भींगी हुई लकड़ी संयोग नहीं है। अतएव सोपाधिक होने से यह व्याप्यत्वासिद्ध हेत्त्वाभास है।

जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित हो वह वाधित हेत्त्वाभास होता है।

जैसे-"वह्निरनुष्णो द्रव्यत्त्वात् पटवत्"

अग्नि अनुष्ण है=(उष्ण नहीं है-क्योंकि वह द्रव्य है पट के समान) यहाँ वह्नि में साध्य है अनुष्णत्व उसका अभाव अनुष्णत्वाभाव

अर्थात् उष्णत्व स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। अतः यहाँ "द्रव्यत्व" हेतु बाधित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि-अनुमान के कितने भेद होते हैं—

इसका उत्तर यह है कि-अनुमान के दो भेद होते हैं—१-स्वार्थानुमान २-परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान–

जो अपनी अनुमिति का कारण अनुमान है; वह स्वार्थानुमान कहलाता है। जैसे-किसी व्यक्ति ने स्वयं ही अनेक बार अग्नि और धूँवे को साथ साथ देखा हो; बाद में वही कभी पर्वत के समीप गया; वहाँ उसे अग्नि का सन्देह हुआ; और पर्वत पर उसने धूम देखा तो झट से उसे पूर्वानुभूत (व्याप्ति) का स्मरण हुआ कि-"जहाँ जहाँ धूम होता है; वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य ही होती है।" बाद में उसे यह ज्ञान हुआ कि "वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूम वाला यह पर्वत है।"

इसी को लिङ्ग परामर्श कहते हैं-इसी परामर्श ज्ञान से पर्वत वह्निवाला है। यह अनुमिति पैदा होती है इसे स्वार्थानुमिति कहते हैं। इसके कारणीभूत लिङ्ग परामर्श को (स्वार्थानुमान) कहते हैं।

तथा स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके जो दूसरे को समझाने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वह (परार्थानुमान) कहलाता -अर्थात्-पञ्चावयव वाक्य प्रयोज्य अनुमान "परार्थानुमान" होता है।

ये पञ्चावयव वाक्य हैं—

१-प्रतिज्ञा–साध्य-विशिष्ट-पक्ष बोधक वचन प्रतिज्ञा कहलाता है।

उदाहरणार्थ-पर्वत वह्नि वाला है। यह प्रतिज्ञा है।

२-हेतु–

पञ्चम्यन्त या तृतीयान्त लिङ्ग बोधक वचन को हेतु कहते हैं। जैसे-"क्योंकि धूम वाला है। यह हेतु है।

३-उदाहरण–

व्याप्ति प्रतिपादक वचन को दृष्टान्त अथवा उदाहरण कहते है। जैसे-"जो जो धूम वाला है वह-वह अग्नि वाला है।

४-उपनय–

उदाहरण के अनुसार हेतु को पक्ष वृत्ति बताना "उपनय" कहलाता है।

५-निगमन–

साध्य का पक्ष में अबाधित रूप से प्रतिपादन करना निगमन कहलाता है।

जैसे-वह्नि व्याप्य धूम वाला होने से यह वह्नि वाला भी है। यह निगमन है।

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति के प्रति लिङ्ग परामर्श कारण होता है। अतः लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-अवयवों का क्या प्रयोजन है?—

इसका उत्तर यह है कि-(प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते) तो विना प्रयोजन के नैयायिक लोग भी-अवयवों को उपस्थापित नहीं कर सकते इनके अनुसार प्रतिज्ञा का प्रयोजन है-(साध्य का पक्ष के साथ सम्बन्ध)

हेतु का प्रयोजन है-साध्य की सत्ता को सिद्ध करना।

उदाहरण का प्रयोजन है; किसी एक स्थल में साध्य और हेतु का साध्य-साधनाभाव प्रतिपादन करना। निगमन का प्रयोजन है पक्ष में विपरीत प्रसङ्ग का वारण करना।

इस प्रकार प्रत्यक्ष की तरह अनुमान भी अर्थसिद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन है। सम्बद्ध और वर्तमान, आसन्न और स्थुल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से किया जा सकता है। पर असम्बद्ध और अवर्तमान-अतीत अनागत तथा दूर और सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान उससे सम्भव नहीं है। क्योंकि उक्त प्रकार के पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रियों में नहीं है।

अतः ऐसे पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा ही सम्भव है। जब प्रत्यक्ष के प्रामाण्य में सन्देह बद्धमूल हो जाता है तो अनुमान के कसौटी पर कसे जाने पर ही उसकी प्रमाणता का निखार होता है। इससे अनुमान की उपयोगिता दिनकर प्रकाश की तरह प्रगट है। वास्तव में प्रत्यक्ष और

अनुमान ये दोनों ही उपजीव्य और उपजीवक है। वस्तुसिद्धि में अनुमान का प्रत्यक्ष के विना अनुमान की उत्पत्ति सम्भव ही नही है-क्योंकि-प्रत्यक्ष अनुमान के मूल में विद्यमान रहता है। परन्तु प्रत्यक्ष भी तभी प्रतिष्ठित होता है-जब आधार उसका अनुमान हो। सम्भवतः इसी से-युक्त्या यन्न घटमुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्धे' "प्रत्यक्षपरिकालितमप्यथ-मनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" जैसे-अनुमान के मूल्यवर्द्धक वाक्य उपलब्ध होते हैं-यही कारण है कि अनुमान पर जितना चिन्तन हुआ है-स्वतंत्र एव संख्यावद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ है; उतना किसी अन्य प्रमाण पर नहीं। व्याकरण ज्योतिष, साहित्य, आयुर्वेद, गणित, विज्ञान प्रभृति सभी पर प्रायः अनुमान का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

लोक व्यवहार में अल्पज्ञ भी कार्य-कारण भाव की शृंखला जोड़ते हैं। बिना पानी के प्यास नहीं बुझती, बिना भोजन के क्षुधा नहीं शान्त होती। यह सब कार्य-कारण की अविच्छिन्न शृखला ही तो है। इस तरह हम अनुमान के महत्त्व, उसकी उपयोगिता आवश्यकता और अनिवार्यता को अनायास आंक सकते हैं।

अनुमान-प्रमाण के निरूपण के पश्चात् उपमान प्रमाण की भी आवश्यकता महसूस होती है; अर्थात्-अनुमान-प्रमाण के पश्चात् उपमान प्रमाण का स्वरूप भेद और स्थिति क्या है।

उपमान-प्रमाण–

उपमिति के करण को उपमान-प्रमाण कहते हैं। सज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के (पद पदार्थ के सम्बन्ध के) ज्ञान को उपमिति प्रमा कहते हैं। इस उपमिति का करण है सादृश्य-ज्ञान। संज्ञा का अर्थ है-पद; सञ्ज्ञी का अर्थ वाच्यार्थ-इन दोनों का सम्बन्ध है शक्ति; तो भाव यह हुआ कि-पद और पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अनुमिति कहलाता है। अतिदेश वाक्य के अर्थ का ज्ञान उपमान कहलाता है।

अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण व्यापार कहलायेगा, फल होगा उपमिति। गोसदृश गवय होता है। इत्याकारक वाक्य से (गोसादृश्यावच्छिन्न (गोसदृश पिण्ड) है विशेष्य जिसका और गवय पदवाच्यत्व है प्रकार जिसका ऐसा जो ज्ञान पैदा होता है वही करण है।

अर्थात्-उपमिति का स्वरूप है-संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिः-अर्थात्-

किसी वस्तु के नाम को संज्ञा कहते हैं। यहाँ गवय (नीलगाय) शब्द संज्ञा है। जिस वस्तु का नाम होता है वह संज्ञी कहलाती है। यहाँ जो पशु विशेष (गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड बन में देखा गया है वही संज्ञी है। इस प्रकार संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ज्ञात होना ही (फल) कहलाता है।

यहाँ पर न तो प्रत्यक्ष-प्रमाण हो सकता है; न अनुमान प्रमाण। क्योंकि-प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को माना जाता है; यह प्रमा अतिदेश वाक्य के अर्थ स्मरण की अपेक्षा नहीं रखती। अतः इस प्रमा को प्रत्यक्ष-प्रमा नहीं कहा जा सकता अनुमान द्वारा यह भी प्रमा नहीं हो सकती-क्योंकि यहाँ पर कोई अनुमापक हेतु नहीं होता। गोसदृशपिण्डज्ञान तथा अतिदेश वाक्य स्मरण को संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध प्रतीति का लिङ्ग नहीं माना जा सकता।

न्यायसूत्र में उपमान का लक्षण है-प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधन-मुपमानम्। न्याय-भाष्य में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है-समाख्या सम्बन्ध प्रतिपत्तिरुपमानार्थः। कालान्तर में इसका स्वरूप परिवर्तित हुआ-जिसका परिस्कृत रूप तर्कभाषा में दिखलाया गया है। उपमान का फल है संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध प्रतीति उपमान को शक्तिग्रह का एक साधन माना गया है-"शक्तिग्रहो व्याकरणोपमान- कोशाप्तवाक्यादव्यवहारतश्च" इत्यादि। उपमान के लक्षण में तर्कभाषाकार ने करण तथा व्यापार का पृथक् निर्देश नहीं किया। आगे इसे स्पष्ट किया गया। तदनुसार सादृश्य ज्ञान ही उपमिति का करण है-तथा अतिदेश वाक्यार्थस्मरण उसका व्यापार (अवान्तर व्यापार) है। तदुनसार सादृश्य ज्ञान ही उपमिति का करण है। तथा अतिदेश वाक्यार्थ-स्मरण उसका व्यापार (अवान्तर व्यापार) है।

शब्द प्रमाण का निरूपण–

आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है। यथार्थ-वक्ता को आप्त कहते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। शक्त को (शक्ति सम्बन्ध से अर्थ बोधक शब्द को पद कहते हैं। "अमुक पद से अमुक अर्थ जानना चाहिये" इत्याकारक ईश्वर-संकेत ही शक्ति है।

अर्थात्-आप्त-पुरुष वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ-ज्ञान

शाब्दी प्रमा है। इसी को आगम कहते हैं। किसी पदार्थ का यथार्थ रूप से साक्षात्कार करना आप्ति कहलाता है। आप्ति के आधार पर जो वचन का प्रयोग करना है-उसके वाक्य से पैदा होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान शाब्दी प्रमा है। इसे ही शाब्द बोध भी कहते हैं। जो वक्ता यथार्थ रूप से देखकर या अनुमान कर नहीं बोलता उसका वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता।

शाब्द बोध में पदज्ञान करण है। वृत्तिद्वारा पदजन्य-पदार्थ स्मरण व्यापार है। शक्ति और लक्षणा भेद से वृत्ति दो प्रकार की हैं। पद के साथ पदार्थ का वाच्य-वाचक भाव रूप जो सम्बन्ध है यही शक्ति है। इसे ही संकेत कहते हैं शक्तिग्रह-अर्थात्-इस पद का यह वाक्य है-और यह पद इस अर्थ का वाचक हैं इस प्रकार का शक्ति ग्रह व्याकरण आदि से होता है। अर्थात् शब्द प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है-आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि (आसत्ति) वाले पदों का समूह वाक्य होता है। इसलिये गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती ये पद (-पदसमूह) वाक्य नहीं है। क्योंकि इनमें परस्पर आकांक्षा का अभाव (विरह) है। "अग्नि से सीचे" यह (पदसमूह) भी वाक्य नहीं; क्योंकि यहाँ योग्यता नहीं है। अग्नि तथा सेचन (-सेक) में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं होती अभिप्राय यह है। तथा हि अग्निना (अग्नि से) इस तृतीया विभक्ति के द्वारा सेचन रूप कार्य के प्रति अग्नि का करणत्व (करण या साधन होना) बतलाया गया है। किन्तु अग्नि तो सेचन का साधन होने योग्य नहीं है।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव रूप सम्बन्ध में अग्नि तथा सेचन की योग्यता न होने से-अग्नि से सीचे" यह (पद समूह) वाक्य नहीं है। इस प्रकार एक एक करके पहर-पहर में एक साथ उच्चारित न किये गये "गाय को लाओ" इत्यादि पद (पद-समूह) वाक्य नहीं होते; क्योंकि वहाँ परस्पर आकाङ्क्षा होने पर भी तथा परस्पर अन्वय की योग्यता होने पर भी परस्पर सन्निधि आसत्ति का अभाव होता है।

"आप्तवाक्यं शब्दः" यह शब्द प्रमाण का लक्षण है। यहाँ "शब्द" यह लक्ष्य पद है; "आप्तवाक्यम्" यह लक्षण पद है। इसमें दो अंश है; आप्त, तथा "वाक्य" इन दोनों का अर्थ आगे स्पष्ट किया जा रहा है- जो पदार्थ=(अर्थ) जैसा होता है-(यथाभूत) उस को वैसा ही

बतलाने वाला साधारण जन हो; अथवा कोई विशिष्ट पुरुष सभी आप्त कहलाते हैं। (ऋष्यार्थम्लेच्छानां समानं लक्षणम्) आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों के समूह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार आप्त व्यक्ति के द्वारा कहे गये आकाङ्क्षा आदि से युक्त पदों का समूह (वाक्य) शब्द प्रमाण का लक्षण होता है। इस लक्षण में "पदानाम्" का विशेषण "आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधिमताम् दिया गया है।

इसका प्रयोजन है-यदि पदानां समूहः वाक्यम् (पदों का समूह वाक्य है) इतना ही लक्षण दिया जाता तो वाक्य का लक्षण पूर्ण न होता। क्यों? आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि इन तीनों में से एक का भी अभाव होने पर कोई पद समूह किसी अर्थ का पूर्ण बोध नहीं करा सकता? फिर यह वाक्य कैसे कहला सकेगा? वाक्य तो वह जो किसी एक अर्थ का पूर्ण बोध कराता है।

यदि कहीं पदों में परस्पर आकाङ्क्षा न होगी तो पद समूह वाक्य न हो सकेगा जैसे-गौ, अश्व, पुरूष, हस्ती इत्यादि पदों का समूह तो है; किन्तु वाक्य नहीं; क्यों कि इन पदों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है। आकाङ्क्षा का अर्थ है-एक पद का दूसरे के विना अन्वय-बोध न करा सकना (पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्त्वम् आकाङ्क्षा-तर्कसंग्रहे)।

जैसे-यदि केवल 'गाम्' (गाय को) यह पद बोला जाय तो यह पद -आनय' (लाओ) इत्यादि पद के विना किसी अन्वित अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अतः यह कहा जाता है कि 'गाम्' पद की 'आनय' पद में आकाङ्क्षा है। क्रिया पद की तथा कारकपद की परस्पर आकाङ्क्षा होती हैं; तथा सम्बन्धी शब्दों को भी परस्पर आकाङ्क्षा होती है-जैसा कि-आकाङ्क्षा मानव हृदय मे होती है। किन्तु औपचारिक रूप से शब्दों में भी मान ली जाती है। इसी प्रकार योग्यता के बिना कोई पद-समूह वाक्य नही बन सकता। योग्यता का अर्थ है पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा न होगा (अर्थवाधो योग्यता) जैसे-'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जल' पद के अर्थ (पदार्थ) में सींचने की योग्यता है; अतः यह वाक्य है। किन्तु "अग्निना सिञ्चति" यह पद समूह वाक्य नहीं; क्योंकि-वहाँ अग्नि शब्द से जो तृतीया विभक्ति

(अग्निना) की गई है, वह करण कारक को सुचित करती है; अर्थात् अग्नि को सेचन का करण (साधन) बतलाया गया है। अथवा सेचन कार्य के प्रति अग्नि को करण कहा गया है-किन्तु सेचन कार्य अग्नि से नहीं किया जा सकता-अतः इनका कार्य-कारण भाव सम्बन्ध नहीं बनता। अग्नि में सेचन की योग्यता नहीं होती। फलतः योग्यता का अभाव होने से "अग्निना सिञ्चति" यह पद समूह वाक्य नहीं होता।

"सन्निधि (आसत्ति) के विना भी कोई पद समूह वाक्य नहीं कहलाता। सन्निधि का अर्थ है पदों का अविलम्ब से उच्चारण किया जाना यदि कोई व्यक्ति "गाम्" (गाय को) इस पद से उच्चारण के कई घण्टे या कई दिन पश्चात् "आनय" (लाओ) पद का उच्चारण करे तो इस पद से पूर्णतः अर्थ बोध न होगा यह ठीक है कि 'गाम्' तथा 'आनय' पदों में परस्पर आकाङ्क्षा है; इनमें परस्पर अन्वय की योग्यता भी है; किन्तु "गाम्" पद का उच्चारण करने के पश्चात् विलम्ब से "आनय" पद का उच्चारण किया गया है। इसलिये यहाँ पदों की सन्निधि नहीं है। तथा इस पद समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि में से किसी एक का भी अभाव होता है; उस पद समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता। अतः आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह ही वाक्य है; इस कथन का उपसंहार करते हुए वाक्य के उदाहरण दिखलाते हैं।

जो साकाङ्क्ष (परस्पर अन्वय के) योग्य तथा सन्निधि से युक्त पद होते हैं; वे ही वाक्य (कहलाते) हैं। जैसे-"स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोमयाग करें। इत्यादि; तथा जैसे-"नदी तट पर पाँच फल हैं" इत्यादि वाक्य है। और जैसे वे ही आकाङ्क्षा तथा योग्यता से विशिष्ट "गाम् आनय" (गाय को लाओ) इत्यादि अविलम्ब से उच्चरित पद (वाक्य) होते हैं।

आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से विशिष्ट पदों के समूह वाक्य कहलाते हैं। यह वाक्य दो प्रकार के होते हैं। **१-वैदिक २-लौकिक।**

वैदिक वाक्य का उदाहरण है-"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम नामक याग करें। यहाँ 'याग' (यज्ञ)

साधन है; स्वर्ग साध्य है; और स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है। यहाँ तीनों पद परस्पर, आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से युक्त है।

तात्पर्य यह है कि-अर्थ अपने (वाचक) पद को सुनने वाले के हृदय में एक दूसरे (पद) के प्रति आकाङ्क्षा उत्पन्न करते हैं; एवं (साकाङ्क्ष) कहे जाते हैं। अथवा पद ही (अपने) अर्थों का प्रतिपादन करके अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न करते हैं-इसलिये उपचार से (आकाङ्क्षायुक्त) कहे जाते हैं।

इस प्रकार परस्पर आकाङ्क्षायुक्त अर्थ परस्पर अन्वय के योग्य होते हैं-तो उन अर्थों के द्वारा पद भी (उपचार से) परस्पर अन्वय के योग्य कहलाते हैं।

सन्निधि उसे कहा जाता है-जहाँ पर एक ही व्यक्ति द्वारा पदों का विना विलम्ब के उच्चारण किया जाता है। और वह पदों में साक्षात् रूप से हो सकती-अर्थ के द्वारा नहीं।

इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है कि-शब्द आकाङ्क्षायुक्त नहीं होते-आकाङ्क्षा का आधार तो चेतन होता है; परन्तु औपचारिकता के वजह से पदों में भी आकाङ्क्षा रहती है। इस औपचारिकता के दो अभिप्राय है-१-जब घट अर्थ के प्रतिपादक (स्व=अर्थ; स्वपद=अर्थ प्रतिपादक शब्द) घटम्' (घट को) श्रोता सुनता है तो उससे अर्थ का बोध होने पर श्रोता के मन में (आनय) लाओ इत्यादि पद की आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार एक अर्थ दूसरे अर्थ तथा पद के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न किया करता है। अर्थ श्रोता के मन में आकाङ्क्षा का जनक होता है; इस लिये अर्थ को साकाङ्क्षा कहा जाता है; तथा पद आकाङ्क्षा युक्त अर्थ का प्रतिपादन करता है।

भाव यह है कि पद तो-उस अर्थ का वाचक होता है; जो साकाङ्क्ष होता है। तथा आकाङ्क्षा चेतन का धर्म होता है। इसलिये जनकता सम्बन्ध से अर्थ को साकाङ्क्ष कहा जाता है; और पद को उस अर्थ का वाचक कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि-पद अपने अर्थ का प्रतिपादन करके; श्रोता

के मन में अन्य पद के विषय में अथवा अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न किया करता है। इसलिये औपचारिक रूप से आकाङ्क्षा युक्त कहे जाते हैं।

तथा योग्यता का अर्थ है-आकाङ्क्षा युक्त अर्थों में परस्पर अन्वित होने का सामर्थ्य।

सन्निधि या आसत्ति योग्यता तथा आकांङ्क्षा से विलकुल भिन्न होता है।

सन्निधि-एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण किया जाना सन्निधि कहा जाता है। अविलम्ब का अर्थ है-दो साकाङ्क्ष पदों के उच्चारण के मध्य में जो काल अनिवार्य है- उससे अधिक काल का न होना। अर्थात् सन्निधि पदों में साक्षात् रूप से रहती है।

पद का लक्षण तथा पद प्रतीति–

आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है अब यहाँ पर पद का निरूपण उपस्थित किया जायेगा- अर्थात् पद किसे कहते हैं—

वर्णों के समूह को पद कहा जाता है। समूह-एक ज्ञान के विषय को कहते हैं।

अर्थात्-पाणिनि ने पद की परिभाषा दिया है-(सुप्तिङन्तं पदम्) अर्थात् सुबन्त और तिङन्त को (पद) कहते हैं-परन्तु न्याय में-(ते विभत्यन्ताः पदम्) इस प्रकार पद का स्वरूप बतलाया गया है। अर्थात् जो श्रोता पद के इस स्वरूप को जानता है; इस पद बोधन विषयक सङ्केतग्रह से परिचित है; वहीं (घटम् आनय) इत्यादि वाक्य को सुनकर (घटम्) इस पद के अन्तिम् वर्ण का अनुभव करते समय पद की प्रतीति कर सकता है। यदि उसे पद के स्वरूप का परिचय नहीं होगा तो वह घटम् के (घ्) अंश पर ही पद होने की शङ्का करने लगेगा। तथा उसे पद-प्रतीति नहीं होगी। (मि.चि.)

पद एक वर्णात्मक भी होता है; एक पदात्मक भी होता है।

इस प्रकार सारमञ्जरी, नामक तर्कभाषा की टीका में पदार्थ शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है।

वाक्यं तू आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः इस कथन

से तथा "पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेन" इस कथन से भी यह प्रतीति होता है कि-न्याय वैशेषिक-अभिहितान्वयवादी है। वाक्य के अर्थ के विषय में दो वाद हैं—१-अभिहितान्वयवाद तथा २-आंन्वताभिधानवाद।

१-अभिहितान्वयवादी कहता है कि-शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट हुआ करता है।

इसका क्रम इस प्रकार है कि-पद अपनी अभिधा आदि वृत्ति से अपने अर्थ को बतला देता है। अर्थात् (पदार्थ) को बतला देता है-फिर उन अभिहित अर्थों (अथवा अर्धप्रतिपादक पदों) का आकाङ्क्षा आदि के कारण परस्पर अन्वय हो जाता है।

इस प्रकार पदों द्वारा अभिहित अर्थों का आकाङ्क्षा आदि के कारण अन्वय हो जाता है। अभिहितानामन्वयः-अभिहितान्वयः-इस मन्तव्य वाद का नाम अभिहितान्वयवाद है।

दूसरी ओर प्रभाकर मीमांसक का मत है कि परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले पृथक् पृथक् अर्थों का पदों के द्वारा अभिधान ही नहीं होता। अर्थात् अभिधा आदि के द्वारा पद अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं। इस मत को मानने वाले प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधान वादी हैं। इनके अनुसार पदों का अर्थ ही वाक्यार्थ है। (अब प्रश्न यह उदित है कि-पदार्थ क्या है?)

नव्य नैयायिकों के अनुसार-व्यक्ति ही पदार्थ है। मीमांसक जाति को पदार्थ मानता है। बौद्ध मत में (अपोह)-अतद्व्यावृत्ति- तद् भिन्न भिन्नत्व पदार्थ है। वैयाकरणी-जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य यह चार प्रकार के पदों का अर्थ स्वीकार करते हैं। इसी मत को मम्मट आदि साहित्याचार्यों ने भी स्वीकार किया है। त.भा. न्याय-वैशेषिक का सम्प्रदाय ग्रन्थ है। अतः यहाँ प्राचीन न्या.वै. के अनुसार जाति विशिष्ट (अथवा-व्यक्ति, आकृति जाति) तीनों ही पदार्थ है।

इस प्रकार (आप्तवाक्यं शब्दः) इस लक्षण में शब्द (प्रमाण) लक्ष्य है। यहाँ शब्द की व्युत्पत्ति शब्द्यतेऽनेन इति; अर्थात् शाब्दी प्रमा का करण शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण का उपर्युक्त लक्षण लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों में समान रूप से घटता है। अतः न्यायवैशेषिक के अनुसार जो भी आप्तवाक्य होता है; वह प्रमाण होता

है। आप्तता के लिये दो बातें आवश्यक है-एक तो कोई व्यक्ति उस पदार्थ को ठीक प्रकार से जानता हो; दूसरे वह उसे ठीक प्रकार से बतलाता हो (यथार्थद्रष्टा यथार्थवक्ता चाप्तो भवति) जेसा पदार्थ है; वैसा बतलाने वाला पुरुष आप्त कहलाता है। यही बात यथाभूतस्यार्थ-स्योपदेष्टा के रूप में भी कहा गया है।

शब्द प्रमाण के लिये यह आवश्यक नहीं है कि किसी शास्त्र-विशेष या ऋषि मुनि विशेष का ही वाक्य हो; वह जनसाधारण का भी वाक्य हो सकता है।

परन्तु न्याय वै.में वैदिक तथा लौकिक वाक्यों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ अन्तर किया जाता है। अस्तु यह माना जाता है कि वेद ईश्वर प्रणीत है। वेद के सभी वाक्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर लोक के सभी वाक्य प्रमाण नहीं होते। और जो आप्त होते हैं उनका वाक्य ही प्रमाण होता है। अन्यों के नहीं। वाचस्पतिमिश्र ने ("आप्तोपदेशः" शब्दः) की तात्पर्य टीका में वाक्य-ज्ञान अथवा वाक्यार्थ ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। और वाक्य ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्ष में वाक्यार्थ ज्ञान को फल बतलाया है। तथा दूसरे पक्ष में हानादि बुद्धि को फल कहा है। इस प्रकार शब्द प्रमाण में भी प्रत्यक्ष के समान विविध दृष्टियों से प्रमाकरण में भी प्रत्यक्ष के समान विविध दृष्टियों से प्रमाकरण का विचार किया जा सकता है।

बौद्ध दार्शनिकों के दृष्टिकोंण से प्रमाण व्यवस्था का स्वरूप उसके भेद एवं प्रमाण-व्यवस्थापन का स्वरूप-

प्रमाण शब्द वैसे तो न सम्प्रदाय विशेष है; न धर्म विशेष है परन्तु लोगों ने अपने अपने दृष्टिकोंण से इसका व्यवस्थापन करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि प्रमाण की सार्थकता अशिक्षित से लेकर शिक्षित सभी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह है कि, प्रमाण किसे कहते हैं? नैयायिकों के अनुसार प्रमाण का क्या स्वरूप है, अर्थात् वैदिक-न्याय प्रमाणके किस स्वरूप को स्वीकार करता है; इसकी स्थापना करने के पश्चात् अब हम यह स्वीकार करते हैं; कि वैदिक न्याय के प्रमाण-व्यवस्थापन के इतर बौद्ध न्याय भी है; अतः बौद्ध-न्याय के आधार पर प्रमाण की व्यवस्था हम किस प्रकार करेंगे?

बौद्ध न्याय के आधार पर प्रमाण-व्यवस्थापन हम इसलिये करना चाहते हैं-क्यों कि जब हम परमत खण्डन और स्वपक्ष स्थापन जब करना चाहते हैं तो सिद्धान्त भेद से दृष्टिभेद हो जाता है। प्रमाण का समुचित उपयोग हम तभी कर पायेंगे जब हमे प्रमाणके स्वरूप; प्रकार एवं प्रामाणिकता के विषय में जाने; यही कारण है कि दर्शन में तर्क-विचार एवं प्रमाण विचार को महत्त्व दिया जाता है।

इस प्रकार जितने भी सम्प्रदाय हैं सभी ने प्रमाण का स्वरूप अपने-अपने दृष्टिकोंण से प्रस्तुत किया है। और सभी प्रमाण एक दूसरे के या तो सहयोगी रूप है; या प्रतिपक्षी रूप है।

जब हम इनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि-वैदिक प्रमाण-व्यवस्था और बौद्ध प्रमाण व्यवस्था में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि-इनका तुलनात्मक अध्ययन भारतीय तर्क के गौरव का इतिहास है। वैदिक प्रमाण-व्यवस्था के आचायों में-गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय, वर्द्धमान वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ, मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

एवं बौद्ध प्रमाण व्यवस्था के आचार्यों में-बुद्ध, शान्तरक्षित, धर्मकीर्ति एवं कमलशील इत्यादि हैं। बाह्मण दार्शनिकों की भाँति बुद्ध का भी यह प्रधान मत था कि विना ज्ञान की प्राप्ति हुए निर्वाण को हम प्राप्त कर ही नहीं कर सकते। (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) सारे अनर्थों की जड़ अविद्या ही है। तथा इस अविद्या को हम प्रामाणिक अथवा विशुद्ध ज्ञान के आधार पर ही हम प्राप्त कर सकते हैं।

बौद्ध प्रमाण-व्यवस्था का सूत्रपात तो सर्वप्रथम पिटक काल में ही हो गया था। जिसकी झलक विनय-पिटक के चतुर्विध-अधिकरणों में मिलती है। ये चतुर्विध अधिकरण निम्नलिखित हैं-(१) विवादाधिकरण-विभिन्न राय वाले विषय का निर्णय २-अनुवादाधिकरण-वह विषय जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को नियमोल्लंघन का दोषी मानता है। ३-आपत्ताधिकरण-वह विषय जिसमें किसी भिक्षु ने जानबूझकर आचार के किसी नियम या सिद्धान्त का उल्लंघन किया है; (४) किच्चाधिकरण-संघ के किसी नियम के विषय में विचार—किन्तु इसका क्रमिक विकास

बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदायों यथा-वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक एवं योगाचार में होता गया है। फिर भी इसका स्फुट रूप नागार्जुन और बसुबन्धु के ग्रन्थों के परिलक्षित होते हैं। दिङ्नाग ने बौद्ध-न्याय को इतना स्पष्ट और समृद्ध बनाया कि उन्हें बौद्ध-प्रमाण-व्यवस्था के आचार्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इन्होंने बौद्ध सिद्धान्त पर किये गये समस्त आक्षेपों का उत्तर दिया है। इसके साथ ही साथ इन्होंने-गौतमीय-न्याय विशेषकर वात्स्यायन के कटु सिद्धान्तों की आलोचना की है।

इस प्रकार बौद्धों की प्रमाण-पटुता सर्वप्रसिद्ध है। भगवान बुद्‌ध के तत्त्व-ज्ञान के पीछे उसे सर्वजन में प्रचार करने की तीव्र प्रेरणा थी। जो स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के खण्डन के लिये था। इसलिये बुद्ध ने स्वयं अपने समसामयिक मतों की खुली आलोचना की और अपने अनुयायियों को इसके लिये प्रेरित किया।

आचार्य धर्मकीर्ति अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाण-वार्तिक में (११२८७) बौद्ध-प्रमाणमीमांसा का सम्बन्ध बुद्ध वचनों से स्थापित करते हुए कहते हैं कि "यत्किञ्चिद् उदयधर्मकं तत्सर्वं निरोधधर्मकं" इत्यादि वचनों द्वारा बुद्ध ने उत्पत्ति एवं निरोध रूप साध्य-साधन के बीच व्याप्ति स्थापित अनुमान का प्रयोग प्रदर्शित किया है। तथा इससे व्याप्ति का अविनाभावित्व लक्षण स्फुट किया गया है।

मोक्षाकर गुप्त ने इसी आधार को देखते हुए अपने तर्कभाषा में बतलाया कि किसी ज्ञान को प्रामाणिक होने के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है।-१-उस ज्ञान को सम्यक् होना चाहिये २-उस ज्ञान का विषय अपूर्व होने चाहिये।

इनके अनुसार वही ज्ञान सम्यक् होता है; जो अविसंवादी हो-अविसंवादी ज्ञान वह होता है; जब ज्ञाता को ज्ञान द्वारा बोधित वस्तु मिल जाय। किसी वस्तु के प्रमाण होने में अर्थक्रियाकारिता अत्यन्त ही सहायक होती है। अपने द्वारा सिद्ध होने वाले प्रयोजन को निष्पन्न करा देना ही किसी वस्तु की अर्थक्रिया होती है। यथा-जल से तृप्ति व अग्नि से ताप होता है-अतः वही उनकी अर्थक्रिया है। एवं उनकी सत्ता का प्रमाण है। इस प्रकार अर्थ क्रियाकारिकत्व ही वस्तु-सत्ता का लक्षण है।

किसी एक अर्थक्रिया का स्थान दूसरी अर्थक्रिया नहीं ले सकती यही कारण है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु से सर्वथा भिन्न है। इतना ही नहीं कि अर्थक्रिया भेद के कारण घट से पट का भेद होता है; अपितु एक रूप में दिखाई देने वाला घट भी वस्तुतः एक नहीं है; वह भी भिन्न प्रयोजनों की निष्पत्ति (अर्थक्रिया) के कारण भिन्न भिन्न ही है। क्योंकि अर्थक्रिया के कारण ही वस्तु की क्षणिकता निश्चित होती है। अतः वस्तु-स्वभाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही अविसंवादी ज्ञान होता है।

इस प्रकार के अविसंवादित्व के ज्ञान के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भाष्य के प्रारम्भिक वाक्य में स्वसम्मत प्रमाण का प्रयोजन एवं प्रमात्व का लक्षण बताया है- "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम्"- अर्थात् प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है; अतः जो ज्ञान अर्थवत् होगा उसमें अर्थ को प्राप्त कराने का समर्थ्य भी होगा। उसे ही (प्रमाण) कहा गया है। इसी संकेत पर बाद में नैयायिकों ने किसी ज्ञान को प्रमा होने के लिये सफलप्रवृत्तिजनकता व तद्वति तत्प्रकारकत्व को स्वीकार किया।

सामान्यदृष्टि से देखने पर बौद्धों और नैयायिकों के उक्त लक्षणों में कोई मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता-क्योंकि सफलप्रवृत्ति सामर्थ्य और अर्थवत्ता से अविसंवादकता का जल्दी भेद नहीं हो पाता; किन्तु थोड़ा विवेचन करने पर वह स्पष्ट होने लगता है। अविसंवादक शब्द भी इसको कुछ स्पष्ट करता है। संवाद=(जैसा अर्थ वैसा ज्ञान) विसंवाद (जैसा अर्थ वैसा ज्ञान नहीं); अविसंवाद (जिसमें विसंवाद न हो); यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि-बौद्ध दृष्टि से अविसंवाद संवाद नहीं-प्रत्युत विसंवाद का अभाव है।

बौद्ध नैयायिक क्षणभङ्गवादी होते हैं; अतः उनकी दृष्टि में किसी वस्तु के सत्ता का अर्थ है-उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश; क्यों कि-बौद्ध नैयायिकों के अनुसार सत् होने के कारण उत्पत्ति सहेतुक और असत् होने के कारण विनाश अहेतुक होता है। उत्पत्त्यनतर विनाश को ही वह "क्षण" शब्द से कहते हैं। और इसी अर्थ में क्षणिक शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तु-स्वभाव के इस विश्लेषण के आधार पर यह

निष्कर्ष प्राप्त होता है कि-ज्ञान जिस वस्तु का ग्रहण करता है; उसी का वह निश्चय नहीं करता और न तो उसे प्राप्त ही करता है। क्योंकि-वस्तु क्षणिक होने के कारण देखने के साथ उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि किसी ज्ञान को प्रमाण मानने के लिये ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद होता है; तो केवल इस अर्थ में ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है। इस अर्थ में नहीं कि ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है। अथवा इस अर्थ में नहीं कि-वह गृहीत अर्थ का निश्चय भी करता है।

इस प्रकार किसी ज्ञान को प्रामाणिक होने के लिये अविसंवादी होना आवश्यक है। अविसंवादित्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व है। अर्थक्रियाकारित्व ज्ञेय का स्वरूपावबोधमात्र है। यही प्रमा की प्रवर्तनता या प्रापकता है। परन्तु यहाँ पर बौद्ध और नैयायिकों में मतभेद हो जाता है।

बौद्धमत में सभी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साधनों के आधार पर स्वतः ही प्रमाण हो जाते हैं। बौद्ध नैयायिकों और कुमारिल आदि की तरह ज्ञान को परवेद्य नहीं मानते प्रत्युत स्वसविदित मानते हैं। इनके अनुसार जैसे जौहरी को विभिन्न मणियों की पहचान रहती है। उसी प्रकार ज्ञाता को अभ्यास होने के कारण प्रमाण में प्रामाण्य संदिग्ध रहता है; इसलिये वहाँ स्वातिरिक्त अर्थक्रियाज्ञान या अनुमान की अपेक्षा होगी। बौद्ध नैयायिकों के अनुसार-(मेयाधिना मानसिद्धिः) होता है-(मानाधीना मेयसिद्धिः) नहीं होता है। अर्थात् इनके अनुसार प्रमेयों का निर्धारण प्रमाणों के आधीन नहीं होता है।

अर्थात् इनके अनुसार प्रमाण के विषय दो प्रकार के होते हैं। **१-स्वलक्षण २-सामान्य-लक्षण।** जब दो ही विषय हैं; तो इनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होंगे। जिसमें स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष तथा सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाले को अनुमान कहा जाता है।

स्वलक्षण का अर्थ है-स्व=असाधारण; लक्षण=तत्त्व या स्वरूप-अर्थात् वस्तु का असाधारण-स्वरूप या (एकमात्र विशेष)। सामान्य=साधारण या समारोपित लक्षण=तत्त्व या स्वरूप।

वस्तु के दो ही स्वरूप हो सकते हैं- **१-सदृश २-असदृश।** स्वलक्षण वस्तु का असदृश तत्त्व। क्योंकि यह सर्वतो व्यावृत्त

होता है एवं सर्वतो व्यावृत्त होते हुए केवल स्वनिष्ट होता है। इसलिये स्वलक्षण कथमपि शब्द द्वारा बोधित नहीं हो सकता। जब कि सामान्य शब्द विषय बनता है। सामान्य आरोपित होता है; स्वलक्षण अपने उपस्थित और अनुपस्थित से ज्ञान-प्रतिभाष में भेद उत्पन्न करता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रमाण व्यवस्थापन का प्रादुर्भाव कब से शुरू हुआ इस विषय पर दृष्टिपात करने के पूर्व यह ज्ञातव्य ही है कि प्रमाण का प्रादुर्भाव कब से हुआ।

वैदिक नैयायिंकों के प्रमाण का उद्‌भव, एवं प्रमाण व्यवस्थापन को बतलाने के पश्चात् बौद्ध दृष्टिकोंण से प्रमाण के उद्‌भव एवं प्रमाण-व्यवस्थापन पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

बौद्ध प्रमाण व्यवस्था का उद्‌भव वेसे तो वैदिक नैयायिकों द्वारा प्रमाणों के खण्डन का परिणाम है। वास्तव में परस्पर संघर्ष में ही दोनों नैयायिकों की प्रमाण व्यवस्था प्रतिष्ठापित हुई। क्यों कि बुद्ध का जन्मकाल ही शास्त्रार्थ का युग था। उस समय बुद्धिवाद की प्रधानता थी। विचार की स्वतंत्रता थी। जो चाहता अपने विचारों को निर्भयता से प्रकट कर सकता था। बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने वालों की कमी नहीं थी।

अभिधम्मपिटक के कथावत्थु (कथावस्तु-मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा तृतीय शतक वि.पू. में विरचित) न्याय-शास्त्र से सम्बद्ध अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। (कथावस्तु) में प्रतिपक्षों के साथ संघर्ष करने की प्रक्रिया का विशिष्ट उदाहरण भी दिया गया है। जिससे प्रामणशास्त्र (तर्कशास्त्र) की भूयसी उन्नति का पर्याप्त परिचय मिलता है।

इस प्रकार बौद्ध-आचार्यों में प्रमाण शास्त्र को स्वतंत्र शास्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रमुख श्रेय आर्चार्य दिङ्नाग को है। परन्तु इनके पहले भी दो बड़े नैयायिकों का प्रार्दुभाव हुआ। १-नागार्जुन २-वसुवन्धु।

१-नागार्जुन का प्रमाण विषयक ग्रन्थ-विग्रहव्यावर्तिनी २-वसुवन्धु के न्याय-ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं चला हैं। परन्तु उसके उद्धरण तथा उल्लेख परवर्ती बौद्ध तथा ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वसुवन्धु के नैयायिक सिद्धान्तों का खण्डन ब्राह्मणों के

न्याय-ग्रन्थों में मिलता है। इन्हीं खण्डनों से अपने गुरु को बचाने के लिये दिङ्नाग ने "प्रमाण-ग्रन्थ" की रचना की। परन्तु "प्रमाण समुच्चय" का मूल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पाशुपताचार्य उद्योतकर ने "प्रमाण-समुच्चय" के खण्डन करने के लिये ही न्याय वार्तिक नामक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थ लिखा। इनकी युक्तियों के खण्डन मण्डन में ही धर्मकीर्ति ने (प्रमाण-वार्तिक) जैसा प्रमेय बहुल ग्रन्थ लिखा। यह एक प्रकार से दिङ्नाग के सिद्धान्तों की विपुल व्याख्या है।

इसी युग में न्याय-शास्त्र के क्षेत्र में दो और आचार्यों का प्रार्दुभाव हुआ। प्रथम आचार्य का नाम (शङ्कर) स्वामी; जो दिङ्नाग के साक्षात् शिष्य थे- इन्होंने न्याय-प्रवेश जेसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में प्रमाण-शास्त्र के एक देश में-पक्षाभास, हेत्त्वाभास एव दृष्टान्ताभास नामक सुक्ष्म रूपों की कल्पना की है। इसी समय रत्नकीर्ति रचित अपोह सिद्धि[१] और (क्षणभङ्ग सिद्धि) आचार्य अशोक रचित (अवयवी निराकरण) तथा सामान्य दुषणादिक् प्रसारित और रत्नाकर शान्तिपाद का (अर्न्तव्याप्ति समर्थन) बौद्ध न्याय के निबन्ध ग्रन्थों में प्रमुखता रखता है। इस प्रकार बौद्ध प्रमाण व्यवस्था भारतीय प्रमाण-व्यवस्था के इतिहास में अपना महत्त्व पूर्ण स्थान रखता है।

इस दृष्टिकोंण के आधार पर हम यह आकलन कर सकते हैं कि- हेतु विद्या के रूप में ही हम न्याय-शास्त्र का प्राचीन रूप पाते हैं। हेतु-विद्या का प्रधान उद्देश्य अपने पक्ष की स्थापना व परपक्ष का खण्डन था। इसलिये इसका नाम वादशास्त्र अथवा (वाद विधि) था। इसी दृष्टिकोंण से वसुवन्धु के ग्रन्थ का नाम (वादविधान) है। वसुवन्धु के ज्येष्ठ भ्राता असंङ्ग ने योगाचार भूमि में हेतुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है; तथा धर्मकीर्ति ने (वादन्याय) में इसी वाद का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है। आजकल इसका महत्त्व प्राचीन काल की भाँति नहीं है; परन्तु बौद्ध और ब्राह्मण उभय नैयायिकों ने इनका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य दिङ्नाग को वाद-शास्त्र के आधार पर प्रमाण शास्त्र प्रतिष्ठापित करने के कारण ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। अर्थात् वाद के स्थान पर प्रमाण्य वाद का गाढ़ अनुशीलन होने लगा। प्रमाण के रूप, भेद, अनुमान के प्रकार, हेत्त्वाभास, प्रामाण्य आदि विषयों का

सांङ्गोपाङ्ग विवेचन दिङ्नाग से प्रारम्भ होता है। इसलिये ये माध्यमिक न्याययुग के प्रवर्तक माने जाते हैं। न्याय के ज्ञान द्विविध रूप का वर्णन यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

आर्य असङ्ग ने हेतुविद्या को ६ भागों में बाँटा है- (१) वाद (२) वादाधिकरण (३) वाद अधिष्ठान (४) वाद-अलंकार (५) वाद-निग्रह (६) वादे बहुकर (वाद के विषय में उपयोगी बातें)।

वाद–के स्वरूप जानने के लिये उसे तत्सदृष वस्तुओं से विभक्त करना आवश्यक है।

(१) वाद-वह जो कुछ मुँह से बोला जाय (भाषण) (२) प्रवाद-लोक में प्रसिद्ध बातें। (३) विवाद-वाग्युद्ध (४) अपवाद-दूसरों के सद्‌गुणों की निन्दा। (५) अनुवाद-धर्म के विषय में किये हुए सन्देहों को दूर करने के लिये जो बाते की जाती है। (६) अववाद- तत्त्वज्ञान कराने के लिये किया गया भाषण। अनुवाद और अववाद बाह्य है। इन प्रकारों के पार्थक्य से वाद स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

वादाधिकरण–

जब किसी सिद्धान्त के निश्चय के लिये किसी वाद के उपर बाद चलता है। जिसे परिषद् अथवा सभा कहते है।

(क) वादालङ्कार–

इसमें वक्ता के वे गुण प्राये जाते हैं; जो उनके वाणी को सजाता है। इसमें सर्वप्रथम प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों को भली भाँति जाना जाता है। और जानने के बाद प्रतिपक्षी के बात का उत्तर उन्हीं के भाषा में सजा कर दिया जाता है। ऐसी वाणी का प्रयोग करने से वाक्-कर्म सम्पन्नता-नामक योग्यता का उदय होता है।

(ख) वैशारद्य–

अर्थात् सभा में निर्भिकता-इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवादियों की चाहें कितनी भी कठिन बात हो; निर्भय होकर उसका उत्तर देना।

(ग) धीरता–

सभा में सोच विचार कर बोलना-अर्थात् धैर्यपूर्वक किसी बात को कहना।

(घ) दाक्षिण्य–

मित्रता का भाव रखना-अर्थात् प्रतिपक्षी के साथ हृदयस्पर्षी बातें करना।

वाद-निग्रह–

इसका अर्थ है शास्त्रार्थं में पकडा जाना-अर्थात् जिसके आधार पर प्रतिपक्षी के बातों को पकड़कर उसका उत्तर दिया जाता है; उसे वाद-निग्रह कहा जाता है। इसका पर्याप्त परिचय गौतम न्याय सूत्र में हमें प्राप्त होता है। 'निग्रह' को तीन प्रकार का बतलाया गया है।

१-वचन-सन्यास-इसका अर्थ है कि अपने सिद्धान्त को ठीक ढंग से समझना।

२-कथा-प्रमाद-अर्थात् मतलब की बात न कह कर इधर उधर की बातें करना। जो न्याय-सूत्र के विक्षेप के समान हैं। जिसमें वादी अपने पक्ष के समर्थन करने में अपनी अयोग्यता देखकर किसी अन्य कार्य का बहाना कर शास्त्रार्थ कर देता है।

३-वचन-दोष-विना समझे बुझे बुझे समय का बोलना।

वादे-बहुकर–

इसमें उन बातों पर जोर दिया जाता है; जो शास्त्रार्थ के लिये बहुत उपयोगी होता है।

इस प्रकार अब तक बाद के जिन अङ्गो का संक्षिप्त वर्णन किया है; वे सब विवाद के लिये आवश्यक हैं।

अब हमें यह देखना है कि-बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण-व्यवस्था की जो रूप रेखा तैयार की है वह किस प्रकार है।

ब्राह्मण-दार्शनिकों की भाँति बुद्ध का भी यह प्रधान मत था कि-ज्ञान प्राप्ति के बाद ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) अर्थात्-अज्ञान की निवृत्ति विशुद्ध ज्ञान के आधार पर ही हो सकता है; बौद्ध-प्रमाण व्यवस्था इसी प्रयास का फल है।

प्रमाण–

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार-अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इसे इस प्रकार भी हम कह सकते हैं कि-अपने स्थिति के विरूद्ध न जाते हुए जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है।

अथवा इसे ही हम अविसंवादक ज्ञान भी कहते हैं। अर्थात् -यह ज्ञान अर्थक्रिया के उपर अवलम्बित रहता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं- अपूर्व विषयक सम्यक् ज्ञान-अर्थात् वह यथार्थ ज्ञान जिसका विषयपूर्व में ज्ञान न हो प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा किसी विषय को भली भाँति जाना जाय। उसे प्रमाण कहा जाता है। संदेह और विपर्यास दोष से रहित होने के कारण ही उसे यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। संशय और विपर्यास ज्ञान विषय संगत नहीं होते हैं जैसे-एक ही विषय में परस्पर विरूद्ध दो धारणायें जब रहती है; तो वह ज्ञान विषय संगत नहीं होता। जैसे-एक ही विषय के सम्बन्ध में दो धारणायें रहती हैं; अतः इस ज्ञान को विषय-संगत नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार विपर्यास ज्ञान भी विषय-संगत नहीं होता-अर्थात्- मरीचिका (सूर्य के किरणों में जल का ज्ञान) यह भी विषय संगत नहीं हो सकता तथा जो अपूर्व गोचर हो-अपूर्व-(पूर्व में अज्ञात) हो-गोचर (विषय) अर्थात् घट इत्यादि विषय जिनका ज्ञान होता है। उस घटादि विषय से उत्पन्न एवं उस अर्थ को प्राप्त कराने योग्य ज्ञान (प्रमाण) कहलाता है।

इस प्रकार किसी ज्ञान के प्रामाणिकता का अर्थ है-विषय के स्वरूप की जानकारी। ज्ञान के द्वारा हमें यह ज्ञात हो जाता है कि किसी वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का है। यदि यह इतना कर देता है तो यही उसकी प्रामाणिकता है। क्योंकि-वहाँ पर मनुष्य अपने प्रयोजन वश ही प्रवृत्त हो सकेगा। तथा जब ज्ञान विशेष की उत्पत्ति होगी तो जैसे- मन्दबुद्धि व्यक्ति को जलना पकाना, जल में प्रवेश करना, स्नान करना, पीना, पानी में डुबकी लगाकर, निकलना आदि क्रियाओं को देखकर अथवा अनुभव करने वाले व्यक्ति को दूर से देख कर तथा उड़ते हुए धूम को देखकर उक्त संगति का निश्चय कर लेता है; परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति चातुर्यता से प्रत्यक्ष मात्र से ही उक्त संगति का निश्चय कर लेता है। इसके लिये उसे अर्थक्रिया द्वारा बाह्य विषय के प्राप्त न होने पर भी संभव हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि-अविसंवादी या विषयसंगत ज्ञान-जिसमें विषय और क्रिया की स्थिति हो प्रमाण होता है। अविसंवादिता अर्थक्रिया की संगति या स्थितिमात्र है-वह संगति शब्द के श्रवण मात्र

से ही अर्थक्रिया की स्थिति या संगति है। जैसे-सूर्य, चन्द्र, मेघ चित्र आदि का दर्शन मात्र ही अर्थक्रियास्थिति या विषम संगति है। इसका तात्पर्य यह है कि-बुद्धिमान् व्यक्ति चातुर्य पूर्ण प्रत्यक्ष के उदय होने के कारण किसी अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है; और मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति उस प्रकार के अनुमान के आधार पर ही अर्थक्रिया की ओर अग्रसर होता है। इससे अर्थ यह निकला कि-जो विज्ञान विषय में प्रवृत्त है वही प्रमाण है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बाद में होने वाला दूसरा ज्ञान भी वहीं प्रवृत्त हो; ज्ञात या गृहीत का ग्रहण या ज्ञान कराने के कारण यह दूसरा ज्ञान अप्रामाणिक ही होता है।

जैसे-पहले घट को निर्विकल्पक ज्ञान से जान लेने के बाद उसी घट के विषय में "यह घट" है; इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है। जो स्मरण रूप है।

प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के बाद उसके संख्या को लेकर भी दार्शनिकों में मतभेद है। चार्वाक्-केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। सांख्यवादी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानता है। नैयायिक लोग इसमें उपमान जोड़ कर चार प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं। इन सभी लोगों से विलक्षण बौद्ध मत है-उनकी दृष्टि में दो भेद हैं-१-प्रत्यक्ष २-अनुमान।

इस प्रकार बौद्ध दृष्टिकोंण से प्रमाण के जो दो स्वरूप स्वीकार किये गये; उनके मानने का कारण भी दो प्रकार का हैं १-स्वलक्षण २-सामान्य-लक्षण।

१-स्वलक्षण का अर्थ है-वस्तु का अपना स्वरूप जो शब्द आदि के विना भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात्-स्वलक्षण में पदार्थों का स्वरूप अलग अलग ढंग से ग्रहण किया जाता है।

२-सामान्य-लक्षण-का अर्थ है-अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप। स्वलक्षण-(प्रत्यक्ष) तथा सामान्य.लक्षण (अनुमान) कहा जाता है। पहिला अर्थ क्रिया करने में समर्थ होता है। और दूसरा असमर्थ होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि-(प्रत्यक्ष) किसे कहते हैं? बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अनुसार-प्रत्यक्ष का लक्षण है-नाम जाति आदि से असंयुक्त कल्पनाविरहित ज्ञान (प्रत्यक्ष) कहलाता है। नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से किसी को युक्त करना कल्पना कहा जाता है। गौ, शुक्ल, पाचक, दण्डी, डित्थ ये सब कल्पनायें है। अभ्रान्त ज्ञान वह है जो भ्रान्तियों से मुक्त हो। बौद्धों का यह प्रत्यक्ष नैयायिकों के निर्विकल्पक ज्ञान के समान होता है।

धर्मकीर्ति व दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष के चार भेद इस प्रकार है।- १-इन्द्रिय-ज्ञान २-मनोविज्ञान ३-स्वसंवेदन ४-योगि-ज्ञान।

१-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-

जब कोई व्यक्ति निश्चल चित्त से किसी व्यक्ति या वस्तु को देखता है। इस अवस्था में हमें वस्तु के आकार, प्रकार, वर्ण, रंग आदि किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता।

कल्पना का आरम्भ तब होता है-जब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने पर देखने वाले का चित्त जाति, गुण आदि की ओर अग्रसर होता है। इन्द्रियों से हम केवल वस्तु के स्वलक्षण को ही जान सकते हैं। परन्तु जब हम किसी वस्तु का नाम देते हैं; तब वहाँ से वह वस्तु इन्द्रिय के सामने से हट गयी रहती है। तथा नयी पुरानी कल्पनाओं को एक साथ मिला कर किसी नाम के खोज में प्रवृत्त रहता है।

२-मानस-प्रत्यक्ष-

विषय के पश्चात् विषय के समनन्तर-प्रत्यक्ष रूप इन्द्रियों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानस-प्रत्यक्ष कहते है।

बौद्ध-दर्शन में ज्ञान के चार कारण माने गये हैं। १-आलम्बन-प्रत्यय २-सहकारी-प्रत्यय ३-अधिपति-प्रत्यय ४-समनन्तर-प्रत्यय।

उदाहरण के लिये-घट ज्ञान के विषय में इन चारों प्रकार के प्रत्ययों का परिचय इस प्रकार है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं; तो वस्तु और नेत्र का सम्पर्क होने पर उसे हम आलम्बन-प्रत्यय कहते हैं। परन्तु जब तक नेत्रों में प्रकाश नहीं होगा तब तक उस वस्तु का ज्ञान नहीं होगा-इसलिये प्रकाश को (सहकारी-प्रत्यय) कहते हैं। इन्द्रिय का ही नाम अधिपति है इसलिये स्वयं इन्द्रिय ही अधिपति प्रत्यय है। एवं

जिसके उपयोग में किसी वस्तु का साक्षात्कार होता है; वही समनन्तर-प्रत्यय है। तथा नेत्र आदि इन्द्रियों से जो विषय का विज्ञान हुआ है उसी को समनन्तर प्रत्यय बना कर जो मन उत्पन्न होता है-वही मानस-प्रत्यक्ष है। वही धर्मकीर्ति का मत है। दिङ्नाग ने पदार्थ के प्रति राग आदि का जो ज्ञान होता है; उसी को मानस-प्रत्यक्ष कहा है। परन्तु इसे धर्मकीर्ति मानस-प्रत्यक्ष मानने के लिये तेयार नहीं है क्योंकि यहाँ जो मानस-प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह इन्द्रियों के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में है। ऐसी दशा में ज्ञात वस्तु के प्रकाशक होने के कारण वह प्रमाण ही नहीं होगा। अतः दिङ्नाग का मानस-प्रत्यक्ष का लक्षण धर्मकीर्ति को अभिष्ट नहीं है।

३-स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष–

इसके लक्षणके सम्बन्ध में दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति दोनों सहमत हैं।

दिङ्नाग का लक्षण है-स्वसंवित् निर्विकल्पकम् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान स्वसंविदित होता है-अर्थात् स्वसंवेदन रूप होता है। इन्द्रिय के द्वारा गृहीत रूप का ज्ञान मानस ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तब उस विषय के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह, सुख, दुख आदि का जो अनुभव होता है वही स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्ति ने आत्मसंवेदन की पृथक्ता सिद्ध की है। मानस-प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का अनुभव कराता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न राग, द्वेष, सुख-दुख आदि का ज्ञान बिल्कुल एक नयी वस्तु है। इसलिये सुख दुख के ज्ञान रूप आत्म-संवेदन को पूर्व दोनों प्रत्यक्षों से भिन्न तथा स्वतंत्र मानना नितान्त आवश्यक है।

४-योगि-प्रत्यक्ष–

समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है उसको योगि-प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे अज्ञातज्ञापक (न जानी हुई वस्तु को प्रकटित करने वाला) होने के अतिरिक्त विसंवादी होना भी नितान्त आवश्यक है। अर्थात् समाधि प्राप्त ज्ञान तभी प्रत्यक्ष कोटि में आयेगा जब उसमें किसी प्रकार की कल्पना न होगी; तथा वह अर्थ क्रिया का अनुसरण करने वाला होगा।

अनुमान–

अनुमान की परिभाषा देते हुए धर्मकीर्ति ने कहा कि वस्तु का जो

अपना स्वरूप (नीजी स्वरूप) है; वह (स्वलक्षण) है। उसके लिये तो कल्पना-रहित प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है। परन्तु अन्य वस्तुओं के साथ समानता रखने के कारण जो सामान्य रूप है; उसका ग्रहण कल्पना के अतिरिक्त दूसरी वस्तु से नहीं हो सकता है; इसलिये इसे सामान्य ज्ञान के अनुमान की आवश्यकता होती है।

अनुमान की लक्षण–

किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है; वही अनुमान है। व्यावहारिक जगत में जब हम एक वस्तु को देखते हैं तो दूसरे वस्तु का ज्ञान अपने आप हो जाता है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब दोनों वस्तुओं का उपाधि रहित सम्बन्ध सर्वदा विद्यमान हो। जो व्याप्ति ज्ञान के नाम से अभिहित है। इस द्विविध भेदात्मक अनुमान से अभिहित है। इस द्विविध भेदात्मक अनुमान के उद्भावक आचार्य दिङ्नाग माने जाते हैं। जिसमें अनुमान के दो भेद स्वीकार किये गये हैं- १-स्वार्थानुमान २-परार्थानुमान। अनुमान की उपलब्धि व्याप्ति ज्ञान पर अवलम्बित रहती है। परन्तु व्याप्ति ज्ञान को जानने से पहले सर्वप्रथम यह ज्ञात होना आवश्यक है कि-अनुमान के जो दो भेद दिये गये हैं- १-स्वार्थानुमान २-परार्थानुमान; वह किस रूप में हमे प्राप्त होता है।

१-स्वार्थानुमान-जो अपने लिये किसी हेतु से किसी साध्य का ज्ञान प्राप्त होता है; उसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं।

२-परार्थानुमान-जो ज्ञान वाक्यों के प्रयोग द्वारा दूसरे के लिये कराया जाता है; वहाँ पर परार्थानुमान होता है। इसमें तीन अवयव वाक्यों का प्रयोग नितान्त आवश्यक होता है।

हेतु की त्रिरूपता–

जिस हेतु के द्वारा अनुमान भली भाँति सिद्ध होता है; उसमें तीन गुणों का रहना नितान्त आवश्यक होता है।

पहला गुण है-अनुमेय में सत्ता अर्थात् पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्- इसमें हेतु रूप धूम पर्वत में नितान्त रूप से रहता है।

दूसरी आवश्यकता है-सपक्ष में सत्ता अर्थात्-अग्नियुक्त स्थानों में धूम का निवास। तीसरी आवश्यकता है "विपक्ष" में निश्चित असत्ता अर्थात् अग्नि से विरहित जलाशय आदि में धूम का न रहना।

हेतु तीन प्रकार का होता है-१-अनुपलब्धि हेतु २-स्वभाव-हेतु और ३-कार्य हेतु। १-अनुपलब्धि का अर्थ है-न मिलना-अर्थात् उच्च स्थान पर उस वस्तु के रहने की योग्यता है; परन्तु वह उपलब्ध नहीं हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है; उस वस्तु का वहाँ सर्वथा अभाव होता है। २-यह वृक्ष है-आम होने के कारण से -यहाँ आम का होना स्वभाव-हेतु है।

स्वभाव यह है; जो उपलम्भ-प्राप्ति के कारणों के होने पर भी जिसका प्रत्यक्ष हमें हो रहा है-इस अनुमान में वृक्ष समस्त आम के वृक्षों का स्वभाव है। अर्थात् सामने दीख पड़ने वाली वस्तु आम है; तो वह वृक्ष अवश्य होगी। यह स्वभाव हेतु का उदाहरण है।

परन्तु जहाँ पर धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है-वहाँ पर कार्य हेतु का होता है-क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न होता है।

इस प्रकार अनुमान की उपलब्धि व्याप्ति ज्ञान पर अवलम्बित है। बौद्ध प्रमाण व्यवस्था इसे दो रूपों में स्वीकार करता है।

१-कार्य-कारणरूपा-२-तादात्म्य-रूपा इसे बौद्ध तर्कभाषा में अविनाभाव नियम या प्रतिबन्ध भी स्वीकार किया गया है-जिसे तादात्म्य और तदुत्पत्ति के रूप में स्पष्ट किया गया है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने इसे ही स्पष्ट स्वरूप प्रदान करते हुए लिखा है-साध्य और साधन के सहभाव के नियामक कार्य-कारण भाव से अथवा तादात्म्य रूप (एकरूपता तद्रूपता) नियामक से अविनाभाव नियम (स्वभाव-प्रतिबन्ध) होता है।

अविनाभाव का निश्चय न (विपक्ष) में हेतु के अदर्शन से होता है; न ही (सपक्ष) में हेतु के दर्शन मात्र से। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि-अविनाभाव नियम ही अनुमान का अङ्ग है। जो तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा ही प्रगट किया जाता है।

दो वस्तुओं में अविनाभाव का निश्यच पञ्चकारिणी सिद्धान्त से होता है-जिसके आधार पर हम यह ज्ञात करते हैं कि-कारण के विना कार्य का भाव नहीं रहता-अर्थात्-अविनाभाव है। पञ्चकारिणी के पाँच चरण है—

१-कारण के बाद ही कार्य की उत्पत्ति होगी।

२-पहले क्षण में ही कारण की सत्ता दिखलाई देती है।

३-कारण के पश्चात कार्य की सत्ता दिखलाई पड़ी।

४-कार्य का स्वरूप जब प्राप्त होता है तो कारण अपने आप समाप्त हो जाता है।

५-इस अवस्था में कार्य की सत्ता भी समाप्त हो जाती है।

इसे ही अविनाभाव-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति के नाम से पुकारते हैं।

अनुमानाभास–

जहाँ पर यथार्थ अनुमान के बदले में अयथार्थ अनुमान प्राप्त हो उसे ही अनुमानाभास की संज्ञा दी जाती है। अनुमान के जो तीन अङ्ग हैं—१-पक्ष २-हेतु ३-दृष्टान्त।

भ्रान्ति इन तीनों में पाई जाती है। इसीलिये शङ्कर स्वामी ने भी तीन अनुमानाभास को स्वीकार किया है-१-पक्षाभास २-हेत्त्वाभास और ३-दृष्टान्ताभास।

(क) पक्षाभास–इसके नवभेद हैं—१-प्रत्यक्ष विरूद्ध २-अनुमानविरूद्ध ३-आगमविरूद्ध ४-लोक-विरूद्ध ५-त्ववचनविरूद्ध ६-अप्रसिद्ध विशेषण ७-अप्रसिद्ध विशेष्य ८-अप्रसिद्धोभय तथा ९-प्रसिद्ध सम्बन्ध।

(ख) हेत्त्वाभास–इसके प्रधान भेद ये हैं—१-असिद्ध, २-अनैकान्तिक ३-विरूद्ध। इसके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं-

(१)असिद्ध (४ भेद):—

१-उभयासिद्ध २-अन्यतरासिद्ध ३-संदिग्धासिद्ध ४-आश्रयासिद्ध

(२) अनैकान्तिक (६ भेद):—

साधारण, असाधारण, सपक्षैकदेश, विपक्षैकदेश, उभयपक्षैकदेश, विरूद्धा
वत्तिविपक्ष- वृत्तिसपक्ष वृत्तिः व्यभिचारी
व्यापी, व्यापी

(३) विरूद्ध (४ भेद):—

धर्म स्वरूप विपरीत; धर्म विशेष विपरीत; धर्मीस्वरूपविपरीत;-धर्मी विशेष साधन साधनाः रीत साधनः विपरीत साधन

(ग) दृष्टान्ताभास-दो प्रकार का होता है—१-साधर्म्यमूलक २- वैधर्म्यमूलक।

(१)—साधर्म्यमूलक (५भेद):—

साधन धर्मासिद्ध, साधनव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक:, विपरीतव्यतिरेक:

बौद्ध न्याय का ब्राह्मण-न्याय से तुलना–

ब्राह्मण-नैयायिकों ने जो प्रत्यक्ष भेदों का वर्णन किया है-यद्यपि उसमें उपर लिखे भेदों से समानता स्पष्ट है; परन्तु फिर भी कुछ भेद हैं—

पहला मौलिक भेद यह है कि नैयायिक प्रत्यक्ष के दो भेद मानते हैं (१) सविकल्पक (२) निर्विकल्पक।

दूर पर विद्यमान रहने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहले होता है; तब सामान्यकोटि का ही होता है-उससे यह ज्ञान नहीं होता कि यह क्या है; केवल यही मालूम होता है कि यह कुछ है-अर्थात् नाम जाति से विहीन ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं।

बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है—परन्तु जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त होता है-तब वह सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को बौद्ध नैयायिक प्रत्यक्ष मानने के लिये कथमपि उद्यत नहीं हैं।

उनका कथन है कि-यह सामान्य लक्षण होने से अनुमिति है प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष के पूर्वनिर्दिष्ट जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और योगज-प्रत्यक्ष है वह वैदिक और बौद्ध दोनों नैयायिकों को अभिष्ट है।

अन्तर केवल इतना ही है कि-इन्द्रिय ज्ञान को ब्राह्मण-नैयायिक लौकिक-सन्निकर्ष में उत्पन्न बतलाता है-और योगज-प्रत्यक्ष को अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न।

वेदान्त दर्शन के अनुसार प्रमाण व्यवस्थापन का स्वरूप–

वेदान्त दर्शन की तरफ जब हम प्रवृत्त होते हैं तो यह जिज्ञासा होती है कि वेदान्त किसे कहते हैं? इसका प्रयोजन क्या है? एवं वेदान्त को ग्रन्थ के रूप में अथवा दर्शन के रूप में परिणित करने में किसका हाथ है? यह जिज्ञासा इसके कर्ता के तरफ अग्रसित करती है।

वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त परन्तु इस अर्थ से वह आगे निकल गया; उसने वेद का अर्थ ज्ञान किया तथा अन्त का अर्थ पराकाष्ठा किया। इससे वेदान्त का अर्थ दूसरा निकलता है-वह अन्तिम

या चरम ज्ञान है; ज्ञान की पराकाष्ठा है अथवा वह ज्ञान है; जिसके बाद कोई अन्य ज्ञान नहीं है।

इस दूसरे अर्थ में एक तीसरा अर्थ निकलता है; जो इस ज्ञान को परमपुरुषार्थ मानता है। इस तीसरे अर्थ के अनुसार वेदान्त वह ज्ञान है; जो मोक्ष है। अन्त या जन्म मरण के चक्र का अन्त देता है। अर्थात् जिस ज्ञान से इस देह का सर्वदा के लिये अन्त हो जाता है; वह वेदान्त है।

अब यह देखना अवाश्यक हो जाता है; कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार प्रमाणों की क्या व्यवस्था है।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त पर अन्य नैयायिकों ने आक्षेप किया है-वेदान्त का मुख्य प्रयोजन निःश्रेयस की प्राप्ति है; और निःश्रेयस की प्राप्ति ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है; फिर प्रमाण-निरूपण की आवश्यकता ही क्या है।

वेदान्ती इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि-शास्त्र-प्रतिपादित ब्रह्म एवं उसका प्रयोजन, मोक्ष साधन, ब्रह्म ज्ञान से ही होता है और वह भी प्रमाण के अधीन है। अतः प्रमाण का निरूपण आवश्यक है।

इस प्रकार प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में अपना अपना विशिष्ट स्थान रखने वाले दर्शनों की जिसमें कोई प्रमाणों की अनिवार्यता को स्वीकार करता है कोई इस अनिवार्यता को अस्वीकार करता है; इन दोनों विधाओं की प्रतिक्रियायें एक दूसरे के विरूद्ध है।

जहाँ न्याय-दर्शन प्रमाणों की अनिवार्यता को स्वीकार करता है और तत्त्वविवेचन में उसको महत्त्वपूर्ण स्थान देता है; वहीं माध्यमिक बौद्ध न केवल प्रमाणों की अनिवार्यता को चुनौती देता है अपितु तत्त्व-ज्ञान में प्रमाणों के उपयोग को भी नकार देता है। जहाँ न्याय प्रमाणों के आधार पर ही प्रमेय की सिद्धि मानता है; वहीं माध्यमिक मतानुसार जब प्रमाणों का अस्तित्व ही नहीं है तो प्रमेय की सिद्धि ही नहीं हो सकती ऐसा स्वीकार करता है।

क्योंकि माध्यमिक बौद्धों ने प्रमाण एवं प्रमेय को एक दूसरे के सापेक्षता में स्वीकार किया है; और यह भी स्वीकार किया है कि ये दोनों ही अपने अस्तित्व के सिद्धि के लिये एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं; अतः कभी प्रमाण प्रमेय बन जाता है कभी प्रमेय प्रमाण बन जाता है। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय दोष भी आ जाता है।

इस प्रकार प्रमाण न सत् माने जा सकते हैं न असत् माने जा सकते हैं।

क्योंकि यदि सत् है; अर्थात् विद्यमान है तो उसको सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं हो सकती; और यदि असत् है तो भी उसको सिद्ध करने के लिये किसी की आवश्यकता नहीं हो सकती। यदि हम यह कहें कि-प्रमाण न सत् है न असत् तो यह भी सम्भव नहीं माना जा सकता; क्यों कि-एक ही वस्तु सत् और असत् दोनों प्रकार की नहीं हो सकती। यदि एक क्षण के लिये यह स्वीकार कर भी लिया जाय तो दोनों ही बातें सिद्ध हो जायेंगी।

इसलिये प्रमाण न सत् है, न असत् और न सत् असत् दोनों ही है।

प्रमाण एवं प्रमेय को तुला एवं परिमाण के सदृश भी नहीं माना जा सकता। जेसे यदि कोई कहे कि तुला के विना परिमाण का निर्धारण नहीं हो सकता परन्तु यह उपमा प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध में नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। और इस क्रम में प्रमाण को भी सिद्ध करने के प्रमाणान्तर की आवश्यकता पड़ने पर प्रमाणों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा।

इस विवादास्पद विषय का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है।

१-सामान्य प्रकार से-२-विशेष प्रकार से

१-सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि-एक प्रमाण का विषय दूसरे प्रमाण से गम्य है।

२-विशेष रूप से यही बात दूसरे तरह से भी कही जा सकती है कि-प्रत्यक्ष का विषय अनुमान से एवं अनुमान का विषय प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है।

बौद्धों और नैयायिकों में विवाद का कारण यही प्रश्न है।

क्यों कि-बौद्ध केवल दो ही प्रमाण मानता है-१-प्रत्यक्ष २-अनुमान। और ये दोनों ही एक क्षेत्र में दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता। इसके ठीक विपरीत न्याय है; जो दो के स्थान पर चार प्रमाण मानता

है। साथ ही यह भी कहता है कि एक ही विषय को एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञान किया जा सकता है।

न्याय-दर्शन दो से अधिक प्रमाण और दो से अधिक प्रमेय को भी स्वीकार करता है। ये सामान्य और विशेष को भी पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु इनका विषय क्षेत्र भिन्न भिन्न नहीं होता। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म आदि का ज्ञान तो होता ही है; अभाव का भी ज्ञान विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा ही हो जाता है।

न्याय के इस सिद्धान्त पर कई लोगों ने आक्षेप किया है-कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष पर आपत्ति की; कुछ लोगों ने द्रव्य पर; कुछ लोगों ने अनुमान इत्यादि पर आपत्ति उठाई। नैयायिक अनुमान के द्वारा विशेष और सामान्य का ज्ञान तो करता ही है; किन्तु वह आत्मा और ईश्वर जैसे अलौकिक विषयों का ज्ञान भी अनुमान के द्वारा कर ही लेता है।

परन्तु वेदान्त में ऐसी व्यवस्था नहीं है; वेदान्त ब्रह्म का ज्ञान श्रुति से भिन्न प्रमाण से नहीं मानता। अतः प्रमाणों के विषय में भी दार्शनिकों के मध्य परस्पर मतभेद का कारण नास्तिकता नही वरन दर्शन का सिद्धान्त एवं मुख्य मान्यता है। आस्तिकता एवं नास्तिकता के दृष्टिकोण से अद्वैत-वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं; परन्तु कई विषयों में बौद्ध-दर्शन एवं वेदान्त दर्शन एक जैसे प्रतीत होते हैं। जैसे-तत्त्व के दो स्तर मानना, अविद्या को सर्जनात्मक एवं क्रियात्मक मानना; सत्य एवं असत्य के मिथुनीकरण के रूप में भ्रम की कल्पना करना आदि।

अद्वैत-वेदान्त प्रमाणों का विषय भिन्न मानता है; जैसे-अभाव का ज्ञान केवल अनुपलब्धि प्रमाण से हो सकता है। अन्य से नहीं।

परन्तु वेदान्त-दर्शन अन्य प्रमाणों के महत्त्व को भी स्वीकार करता है। जैसे-वेदान्त को सम्प्लववादी हम इसलिये कहते हैं; क्यों कि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में वह न्याय की तरह ही विवेक करता है।

विप्लववादी उसे इसलिये कहते हैं क्योंकि वह श्रुति, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के विषय क्षेत्र को सीमित दायरे में स्थापित करता है।

क्योंकि प्रमाण-विचार के विषय में न तो वह बौद्धों के समान प्रमाणों का अपलाप ही किया और न ही न्याय-दर्शन के अनुसार वह पूर्ण रूप से श्रुति भिन्न प्रमाणों पर अवलम्बित है।

ब्रह्मसूत्र एवं शांकरभाष्य में प्रमाणों का निर्देश–

अद्वैत-वेदान्त के अभिमत छः प्रमाणों का प्रतिपान प्रत्यक्षतः ब्रह्मसूत्र एवं शांकरभाष्य में नहीं मिलता है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इन प्रमाणों का उल्लेख है।

जैसे-"प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस ब्रह्मसूत्र में प्रत्यक्ष एवं अनुमान शब्द का उल्लेख साथ साथ दिया गया है। किन्तु शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ श्रुति एवं अनुमान शब्द का अर्थ स्मृति किया है। "यत् साक्षात् अपरोक्षात्" इस श्रुति वाक्य में अपरोक्ष शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष का निर्देश किया गया है। अनुमान के विषय में भी सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। "कामाच्च नानुमानापेक्षा" इस सूत्र में तथा इस सूत्र के भाष्य में भी भाष्यकार ने सांख्यसिद्धान्त का खण्डन करते समय अनुमान की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त "रचनानुपपत्तेश्चानुमानम्" तथा "अन्यथानुमितौ च शक्तिवियोगात्;" सूत्रों तथा क्रमशः इनके भाष्य में भी भाष्यकार ने अनुमान शब्द का प्रयोग किया है।

उपमान प्रमाण के विषय में भी "अतएव च उपमा सूर्यकादिवत्" इस सूत्र में उपमा के माध्यम से उपमान प्रमाण की ही प्रस्तुति है।

शब्द प्रमाण के विषय में भी वेदान्त सबसे आगे है; क्यों कि-वह श्रुति को ही प्रमाण मानता है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस सूत्र में तथा भाष्य में शंकराचार्य ने ब्रह्म को शब्दमूलक माना है। और कहा है कि "ब्रह शब्द वैद्य है; इन्द्रिय वैद्य नही अर्थापत्ति को भी वेदान्त में स्वीकार किया गया है। यद्यपि वेदान्त में शब्दतः अर्थापत्ति का उल्लेख नहीं है; तथापि अध्यास भाष्य में अर्थापत्ति के अनुकूल व्यवहार किया है।

अनुपलब्धि के विषय में भी "न भावोऽनुपलब्धेः" इस सूत्र के भाष्य तथा इस सूत्र में भी अनुपलब्धि शब्द का प्रयोग है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि के विषय में भी सूत्रकार एवं भाष्यकार की धारणा अवश्य रही होगी।

अत: यह सिद्ध होता है कि-वेदान्त के छः प्रमाणों का निर्देश सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों को अभिमत था।

वेदान्त के दृष्टिकोण से प्रमाण व्यवस्थापन–

प्रमा का कारण ही प्रमाण है। ''प्रमा'' शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान। यह यथार्थ ज्ञान दो प्रकार का होता है-एक स्मृति और दूसरा अनुभव इन दोनों के विषय में मतभेद है।

कुछ दार्शनिकों प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न अनुभव रूप ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। उनका कथन है कि स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अनुभव से संस्कार होता है; और उस संस्कार से स्मृति होती है। संस्कारों को प्रमाण नहीं माना जाता; इसलिये स्मृति को भी प्रमा नहीं माना जा सकता। इस मत के अनुयायी स्मृति को छोड़कर अनधिगत और अबाधित विषयक ज्ञान को प्रमा कहत हैं। प्रमा के इस सम्बन्ध में दो शब्द है-अनधिगत और अबाधित। जो ज्ञान पहले से अधिगत है; उसे तो प्रमा कहा नहीं जा सकता। और स्मृति अधिगत विषयक होती है; इसलिए वह प्रमा नहीं है। लक्षण में दूसरा शब्द-अबाधित है।

अर्थात् जिस ज्ञान का बाद में बाध नहीं होता उस ज्ञान को प्रमा कहते हैं। जैसे-स्मृति भिन्नं भ्रमभिन्नं ज्ञानं प्रमा। इसे दार्शनिकों ने अनुभवात्मक प्रमा का ही लक्षण माना है।

ऐसे लोगों में माध्व, वेदान्ती एवं वैशेषिक प्रमुख हैं। ये लोग स्मृति को ही प्रमा मानते हैं। इनका कथन है कि अबाधित विषयक ज्ञान को ही प्रमा मानना चाहिये। अर्थात् यह लक्षण स्मृति और अनुभव में समान रूप से घटता है। इसलिये इन दोनों को ही प्रमा के कोटि में आना चाहिये उदाहरणार्थ- हम घट को देखते हैं; और उसके बाद ''यह घट है; ऐसा ज्ञान होता है। इस ज्ञान से कालान्तर में एक संस्कार बनता है; उस संस्कार के कारण कालान्तर में घट विषयक स्मृति होती है उस स्मृति का विषय अबाधित घट है। अत: स्मृति प्रमा है; और इसी प्रकार सम्बन्धित घट का ज्ञान भी माना है।

धारावाहिक ज्ञान का प्रमात्त्व निरूपण–

जब हम घडे को लगातार देखते हैं तो इसे धारावाहिक ज्ञान कहते

है। इसमें पूर्व ज्ञान की अपेक्षा पश्चात् ज्ञान को अधिगत ज्ञान ही माना जायेगा। और अधिगत ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता। अत: धारावाहिक ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता।

वेदान्त के मत से धारावाहिक ज्ञान में विषय अधिगत नहीं रहता किन्तु अनधिगत ही रहता है। अर्थात् पहले क्षण में घड़े को देखने के बाद जब दूसरे क्षण में घड़े को देखते हैं; तो उस ज्ञान में घट ज्ञान के साथ ही साथ काल का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार जब हम पहले बार घड़े को देखते हैं तो वह प्रथम क्षण विशिष्ट घड़ा होता है। एवं उसके बाद देखने पर द्वितीय क्षण विशिष्ट घट के रूप में हम उसे स्वीकार करते हैं।

न्याय-दर्शन का कहना है कि यद्यपि काल का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता; इसलिए घट-ज्ञान के साथ काल का भी ज्ञान हो; यह सम्भव नहीं है। किसी भी द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप का होना आवश्यक है। काल में उद्भूत रूप नहीं है इसलिये उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है।

वेदान्त इस मत को खण्डित करते हुए कहता है-कि द्रव्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में महतत्त्व एवं उद्भूत स्वरूपत्व को कारण माना जाता है; तो रूप का भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये; क्योंकि-रूप में स्वयं उद्भूत रूपवत्त्व एवं महत्त्व नहीं होता है। अत: इसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिये यह कथन न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

मीमांसक एवं वेदान्ती काल को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कथन है। कि **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।।**

अर्थात्-इस प्रकार का कोई ज्ञान नहीं है जिसमें काल का भान न हो। इस प्रकार ये काल को भी प्रत्यक्ष मानते हैं।

प्रमा के विषय में-वेदान्त का मत है कि-जिस ज्ञान का संसार दशा में अर्थात् व्यावहारिक दशा में बाध हो जाय; उस ज्ञान को प्रमा नहीं मानना चाहिये।

जैसे-"शुक्ति रजत" अर्थात् शुक्ति में अध्यस्त रजत की प्रतीति व्यावहारिक दशा में ही होती है।

और कालान्तर में शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर रजत का बाध हो जाता है।

अतः ऐसी स्थिति में जहाँ पूर्वकालिक ज्ञान का उत्तर कालिक ज्ञान से बाध हो जाता है-वहाँ उस बाधित ज्ञान को प्रमा नहीं माना जाता। घटादि व्यावहारिक दशा में बाधित नहीं है। पारमार्थिक दशा में घटादि बाधित है।

अतः अबाधित ज्ञान होने से इस ज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर घटादि विषयों का बाध होता है व्यावहारिक दशा में नहीं। ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् सारा जगत् आत्ममय हो जाता है तो कोई किसी को देख नहीं सकता। द्वैतावस्था में ही एक दूसरे को देखते हैं।

अधिष्ठान के पश्चात् अध्यस्त पदार्थों की निवृत्ति होती है; बाध होता है। ब्रह्म ही समस्त पदार्थों का अधिष्ठान है, और घटादि पदार्थ उसमें अध्यस्त हैं।

अतः ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् ही घटादि बाधित होते हैं; उसके पूर्व अर्थात् ब्रह्म ज्ञान के पूर्व; व्यावहारिक दशा में नहीं। अतः वे अबाधित हैं; और उनका ज्ञान भी अबाधित होने से प्रमा है।

वेदान्त मत से प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण–

वेदान्त में प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया है और चैतन्य को ही प्रत्यक्ष-प्रमाण माना गया है। वह अभिव्यक्त चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रयोजक होते हैं-एक ज्ञानगत प्रत्यक्ष का और दूसरे विषयगत प्रत्यक्ष का। प्रत्यक्ष के विषय में दो प्रकार के व्यवहार होते हैं; एक तो व्यवहार है "ज्ञानं प्रत्यक्षम्" दूसरा प्रत्यक्ष है-"विषय प्रत्यक्ष" जो व्यवहार विषय के द्वारा प्राप्त होता है। अतः विषयप्रत्यक्षम् और ज्ञानं प्रत्यक्षम् इन दोनों व्यवहारों को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष के भी दो प्रयोजक स्वीकार किये गये हैं।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष और विषयगत प्रत्यक्ष दोनों का प्रयोजन भिन्न है। यद्यपि चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रयोजन माना गया है। तथापि चैतन्य भी भिन्न भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता है।

चैतन्य के तीन रूप माने गयें हैं—

१-विषय-चैतन्य २-प्रमाण चैतन्य ३-प्रमातृ-चैतन्य।

विषय-चैतन्य; अन्तः करंण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण चैतन्य; अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृ चैतन्य कहते हैं।

इन तीन प्रकार के चैतन्यों में से जब प्रमाण-चैतन्य एवं विषय चैतन्य का अभेद होता है; तो उसे (ज्ञानगत प्रत्यक्ष) का प्रयोजक स्वीकार करते हैं।

प्रत्यक्ष-ज्ञान के अवसर पर स्थूल रूप से यह मालूम पड़ता है; कि घट ज्ञान एवं वृत्ति में परस्पर भेद है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त चैतन्य एवं विषय-चैतन्य में भी परस्पर भेद रहेगा।

सूक्ष्मदृष्टि से यह असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि- जब इन्द्रिय और विषय से सम्बन्ध होता है तो अन्तः करण बाहर निकलता है। उस समय "यह घट है" इस घट विषय एवं घटकार वृत्ति; दोनों को एकत्र स्थिति होने से दोनों चैतन्य एक हो जाते हैं। उस समय उपाधियाँ दोनों में भेद नहीं कर पाती। अतः दोनों एक ही रहते हैं।

जिस प्रकार घर में कोई घट रखा है; उस समय घट से अवच्छिन्न आकाश गृह से अवच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है। अतः दोनों एक ही है।

इस प्रकार जब दो उपाधियाँ एक देश में उपस्थित रहती है; तो वे उपधेय में भेद पैदा नहीं कर पाती। अतः घटत्वावच्छिन्न चैतन्य और घटवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य दोनों एक हो जाते हैं। तथा इन दोनों का अभेद होने से "यह घट है" इस घट ज्ञान के प्रत्यक्ष स्थल में घट अंश का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

अर्थात् विषय में वर्तमानत्व के साथ ही साथ प्रत्यक्ष की योग्यता भी होनी चाहिये। उसको प्रत्यक्ष वेद्य होना चाहिये।

इस प्रकार प्रमाण चैतन्य के साथ वर्तमान एवं प्रत्यक्ष ज्ञानयोग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का नियामक है। यह सिद्ध है।

विषयगत प्रत्यक्ष प्रयोजक का निरूपण–

विषय चैतन्य एवं प्रमाण चैतन्य का अभेद ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है। प्रमातृचैतन्य तथा विषयचैतन्य का अभेद विषयगत प्रत्यक्ष है।

[1]प्रमाता एवं प्रमेय अर्थात्-विषय का अभेद मानने का तात्पर्य यह है कि-प्रमाता की आस्तित्व से अतिरिक्त घट आदि विषयों का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि, घटादि विषय चैतन्य प्रमाता में आरोपित है। और जो वस्तु आरोपित होती है; उसका अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्व के अतिरिक्त नहीं माना जा सकता।

जैसे-"अयं सर्पः" इस स्थल पर रस्सी में सर्प आरोपित है। इसलिये रस्सी का अस्तित्व सर्प के अस्तित्व के अतिरिक्त नहीं है। उसी प्रकार घटपटादि जितने भी पदार्थ हैं वे चैतन्य में आरोपित हैं। अतः इनका अस्तित्व भी चैतन्य के अस्तित्व के अतिरिक्त नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद होते हैं। **(क) सविकल्पक (ख) निर्विकल्पक।**

(क) जिस ज्ञान में विशेषण एवं विशेष्य के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान हो; उसे सविकल्पक कहते हैं।

(ख) निर्विकल्पक-जिस ज्ञान में विशेषण विशेष्य के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान न हो से निर्विकल्पक कहते हैं।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उदाहरण–

जैसे-यह वही देवदत्त है; तथा तुम वही हो। ये दोनों निर्विकल्पक ज्ञान के उदाहरण है।

"सोऽयं देवदत्तः" यह लौकिक उदाहरण है। एवं "तत्त्वमसि" यह वैदिक है। इस वाक्य में सः का अर्थ है तत्काल विशिष्ट एवं "तत्" स्थान विशिष्ट देवदत्त अयं का अर्थ है; वर्तमान काल विशिष्ट एवं वर्तमान देशविशिष्ट देवदत्त।

यदि इस प्रक्रिया के अनुसार "सोऽयं देवदत्तः- इस स्थल पर भूतकाल अतीतकाल एवं अतीत देश विशिष्ट देवदत्त वर्तमान कालविशिष्ट देवदत्त से अभिन्न है-ऐसा बोध होता है; तो यह ज्ञान भी सविकल्पक माना जाता। किन्तु यहाँ पर तो विना विशेषण सम्बन्ध का ही ज्ञान होता

है। केवल देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है और इस प्रतीति में भाग त्याग लक्षणा भी सहायता करती है। लक्षणा से विशेषण अंशों को छोड़ दिया जाता है। अतः ऐसे स्थल पर शुद्ध देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है। किसी विशेषण विशिष्ट देवदत्त की प्रतीति नहीं होती। अतः यह ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार "तत्त्वमसि" का जो वैदिक उदाहरण दिया गया है उसमें भी केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है। तत् का अर्थ सर्वज्ञत्व एवं परोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य और त्वम् का अर्थ है अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य-ये दोनों ही विपरीत धर्मी हैं; अतः एक नहीं हो सकते-इसीलिये यहाँ पर भी भागत्याग लक्षणा से विशेषणांश परोक्षत्व सर्वज्ञत्व एवं अल्पज्ञत्व को छोड़कर केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है। यह ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य न होने के कारण निर्विकल्पक ही है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में न्याय और वेदान्त के मत—

वेदान्त का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष; न्याय के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न है।

न्याय का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष; प्रत्यक्ष का ज्ञान अंश माना जाता है। उसमें "इयं घटो घटत्वे" यह बोध होता है। इसकी पूर्णता सविकल्पक प्रत्यक्ष में होती है। उस समय घट एवं घटत्व का एक साथ सम्बन्ध ज्ञान होता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में बौद्ध का मत-ये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में स्वलक्षण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। स्वलक्षण भी क्षणिक है।

अतः यह भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। न्याय के निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष में घट-घटत्व के ज्ञान के लिये इन्द्रिय सम्बन्ध की अपेक्षा हो सकती है; किन्तु वेदान्त के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नहीं। वेदान्त मत से शुद्ध चैतन्य ही निर्विकल्पक का विषय है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय से नही होता; वह साक्षात् होता है।

इसलिये यह "यत् साक्षाद् अपरोक्षात् ब्रह्म" के रूप में उसका निर्वचन करता है।

शब्द के द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञान–

अद्वैत वेदान्त के अनुसार-शब्द के माध्यम से भी अपरोक्ष ज्ञान

होता है कुछ विपक्षी दार्शनिक यह आपत्ति उठाते हैं कि-शब्द या वाक्य के माध्य से जो ज्ञान प्राप्त होता है; उसे शाब्द ज्ञान कहते हैं। अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

"तत्त्वमसि" ज्ञान भी उसी प्रकार होता है। अतः इनको भी प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी आपत्ति यह है कि-वाक्य जन्य ज्ञान में पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान भी आवश्यक है।

और पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नहीं होता। इस नियम के अनुसार "सोऽयं देवदत्तः एवं "तत्त्वमसि" को निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। अपितु इसे सविकल्पक प्रत्यक्ष ही माना जा सकता है।

वेदान्त के मत से ये दोनों आपत्तियाँ निर्मूल है। "दशमः त्वम् असि" अर्थात् तुम दशवें हो इस वाक्य जन्य ज्ञान से भी अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसलिये वाक्य-जन्य ज्ञान अथवा शब्द जन्य ज्ञान के माध्यम से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह सिद्ध हुआ।

दूसरी आपत्ति भी निर्मूल है; क्योंकि पदार्थों का परस्पर बोध सम्बन्ध-वाक्य जन्य ज्ञान का कारण नहीं है; अपितु तात्पर्य ज्ञान ही वाक्य जन्य ज्ञान का मुख्य कारण है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हुए; किन्तु ये दोनों ज्ञान चैतन्य रूप ही है; इसलिये इनको चैतन्य रूप से एक ही माना जाता है।

चैतन्य भी उपाधि भेद से दो प्रकार का होता है-१-जीव साक्षी २-ईश्वर साक्षी। इसलिये वेदान्त मत से प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। कुछ लोगों ने जीवसाक्षी जन्य एवं ईश्वर साक्षी जन्य ये दो भेद इसलिये किया है क्योंकि उनका कहना है कि-साक्षी पद का साक्षी जन्य अर्थ है।

अन्य विचारकों का कथन है कि-चैतन्य में जन्य विशेषण संगत नहीं है; क्योंकि जन्य वस्तु अनित्य होती है। चैतन्य नित्य है; अतः वह जन्य नहीं हो सकता; इस प्रकार जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी यही कहना उचित है।

यहाँ पर अद्वैत वेदान्त के प्रमाण निरूपण का प्रसंग चल रहा है;

अतः साक्षी जो कि अद्वैत वेदान्त का हृदय है; उसके विषय में पूर्ण विवेचन न करके अल्प विवेचन ही करना उचित होगा।

अन्तःकरण विशेषण से युक्त चैतन्य को जीव कहते हैं। अन्तःकरण उपाधि से युक्त चैतन्य को जीवसाक्षी कहते हैं।

इस प्रकरण में विशेषण और उपाधि का भेद समझना अत्यन्त आवश्यक है। जो वस्तु के साथ रहते हुए उनको अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है; उसे विशेषण कहते हैं। जैसे-रूपवान् घटः। इसमें रूप घट के साथ रहता है; एवं घट को पट आदि अन्य वस्तुओं से पृथक् कर देता है; इसलिये रूप विशेषण है। तथा जो वस्तु के साथ न रहते हुए भी उसको अन्य से पृथक् करती है उसको उपाधि कहते हैं। जैसे-कर्ण-शष्कुली युक्त आकाश को श्रौत्र कहते हैं।

इस उदाहरण में कान सावयव है आकाश निरवयव है; यद्यपि इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता; तो भी कर्णशष्कुली आकाश को महाकाश से भिन्न कर देता है। अतः यह उपाधि मानी जाती है। वेदान्त में केवल ब्रह्म को सत्य और इस सम्पूर्ण संसार को मिथ्या स्वीकार किया गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि; जब सम्पूर्ण संसार मिथ्या है; तो उसका प्रत्यक्ष कैसे होता है। क्या वेदान्त मिथ्या ज्ञान का ही प्रत्यक्ष करता है?

इसका उत्तर यह है कि; वेदान्त तीन प्रकार ही सत्ता मानता है; १-प्रातिभाषिक २-व्यावहारिक ३-पारमार्थिक।

१-प्रातिभाषिक सत्ता रज्जु सर्प की; व्यावहारिक सत्ता जगत् की एवं पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है।

जगत् पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं है परन्तु व्यावहारिक रूप से सत्य है। ब्रह्म ज्ञान के पूर्व जगत् सत्य है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा व्यावहारिक रूप से सत्य जगत् का एवं जगत् के पदार्थों का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद और हैं; १-इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष २-इन्द्रियों से न होने वाला प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष-प्रमाण का अस्तित्व चार्वाक् इत्यादि को छोड़कर सभी प्रकार स्वीकार करते हैं। भले ही उसके स्वरूप एवं विषय में मतभेद हो।

न्याय दर्शन में व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से एवं अतिन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से स्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन स्वलक्षण को प्रत्यक्ष मानता है। अद्वैत वेदान्त का मत बौद्ध एवं नैयायिक दोनों से भिन्न है। अद्वैत प्रत्यक्ष-प्रमाण के विश्लेषण से मुख्य रूप से निम्नाङ्कित विषयों की सिद्धि करता है—

१-मिथ्यात्व की सिद्धि
२-प्रमाता एवं विषय की ऐक्यसिद्धि
३-अतिन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान
४-ब्रह्म ज्ञान

इसके अतिरिक्त भी अन्य विषयों का बोध प्रत्यक्ष से होता है।

१-मिथ्यात्व की सिद्धि–

यह वेदान्त मत का एक प्रमुख सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण इदंतया मिथ्यात्व का विवेचन या निर्देश नहीं करता कि अमुक वस्तु मिथ्या है; किन्तु प्रत्यक्ष के विश्लेषण के माध्यम से ही मिथ्याभूत वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे-रज्जु सर्प का ज्ञान। इसने अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही यह ज्ञान होता है कि जो असत् है वह बाधित है; तथा जो सत् है वह अबाधित है।

इस प्रकार वेदान्त की मूलभित्ति सत्यासत्य का विश्लेषण ही है; और इसका परिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही अवलम्बित है। इसलिये वेदान्त ने इस प्रमाण को तत्वविवेचन में प्रमुख स्थान दिया है।

२-प्रमाता एवं ऐक्यसिद्धि–

वेदान्त के अनुसार प्रमाता एवं प्रमेय दोनों चैतन्य है। प्रत्यक्ष में दोनों के ऐक्य का अनुभव होता है। चैतन्य विषय एवं विषयी दोनों में भाषित होता है। इसी विवेचन से वेदान्त का चैतन्य विषयक मूल सिद्धान्त प्रतिपादित होता है।

मैं चैतन्य हूँ अतः जो विषय मुझे भाषित होता है; वह भी चैतन्य है। इसका अभिप्राय यह है कि; जिस प्रकार इन्द्रियाँ चैतन्य में अध्यस्त है; उसी प्रकार घट पटादि भी अध्यस्त है।

अन्तः करण इन्द्रिय रूपी प्रणालिकाओं के द्वारा निकलकर विषयाकार में परिणित होता है। किन्तु विषय को प्रकाशित नहीं करता है। विषय

का प्रकाशन चैतन्य के द्वारा होता है। वृत्ति चैतन्य से प्रकाशित होती है। प्रमाता एवं प्रमेय दोनों ही चैतन्य हैं; उसी से इस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार वेदान्त का निर्विकल्पक सम्बन्धी विचार भी मौलिक है।

३-अतिन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि–

वेदान्त के अनुसार अतिन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि भी साक्षी ब्रह्म के द्वारा ही होता है जैसे-सुख, दुख ज्ञान अज्ञान। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से व्यावहारिक जगत् का ज्ञान मनाते हुए भी वेदान्त; प्रत्यक्ष के विश्लेषण से अनेक तत्त्व सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं का निर्णय करता है।

इस प्रकार अतिन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि के साथ ब्रह्म ज्ञान को भी सिद्ध करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के सिद्ध होने के पश्चात् वेदान्त के द्वारा अनुमान प्रमाण का विवेचन—

न्याय-दर्शन में अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं परन्तु वेदान्त केवल एक ही भेद मानता है।

अर्थात् न्याय दर्शन में-"१-अन्वय व्यतिरेकी २-केवलान्वयी २-केवल व्यतिरेकी" ये तीन भेद स्वीकार किये गये हैं; परन्तु वेदान्त केवल एक ही भेद अन्वयिरूप को मानता है। वस्तु स्थिति में ये हेतु के भेद हैं अनुमान के नहीं।

अनुमान के मान्यता के विषय में भी न्याय और वेदान्त में मतभेद है—

१- हेतु के तृतीय परामर्श को न्याय अनुमिति का जनक मानता है।

परन्तु वेदान्त हेतु के तृतीय परामर्श को अनुमिति का जनक नहीं मानता है। वह व्याप्ति को अनुमिति का जनक मानता है।

२-हेतु के तीन भेद न्याय ने माने है। १-अन्वय-व्यतिरेकी २-केवलान्वयी एवं ३-केवल व्यतिरेकी।

परन्तु वेदान्त इनमें से केवल अन्वयी रूप हेतु का ही मानता है। केवल व्यतिरेकी के स्थान पर वह अर्थापत्ति प्रमाण को ही मानता है।

३-न्याय ने परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय निगमन इन पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग किया है। वेदान्त इनमें से केवल तीन वाक्य ही मानता है; चाहे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, हो या उदाहरण, उपनय और निगमन।

४-न्याय तर्क प्रधान अनुमान की प्रमुखता मानता है; वेदान्त श्रुति समर्थित एवं श्रुति के अविरोधी अनुमान को मानता है।

न्याय के दृष्टिकोण से परामर्श का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जब रसोई घर में धूम और अग्नि को साथ साथ देखते हैं; उसके आधार पर जो धूम रूप हेतु का ज्ञान होता है वह प्रथमहेतुपरामर्श है। अर्थात् प्रथमतया हेतु का ज्ञान हुआ। इसके अनन्तर जब पर्वत पर धूम देखा जाता है यह द्वितीय हेतु परामर्श है। इसके अनन्तर धूम पर्वत पर है; ऐसा जो ज्ञान होता है वह तृतीय परामर्श है। यह तृतीय हेतु परामर्श की अनुमिति का जनक है। यह न्याय-दर्शन की मान्यता है।

वेदान्त-मत से न्याय-दर्शन का यह मत समीचीन नहीं है। पर्वत पर धूम का ज्ञान होने से; रसोई घर में धूम एवं अग्नि के साथ रहने का स्मरण होता है। इसके पश्चात् अग्नि का अनुमान होता है किन्तु हेतु का ज्ञान हो जाने के बाद भी यदि धूम और अग्नि के साहचर्य नियम के व्याप्ति की स्मृति नहीं होती तो अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि व्याप्ति की स्मृति से ही अनुमिति नहीं होती। अतः अनुमिति का कारण तृतीय लिङ्ग परामर्श नहीं किन्तु अनुमिति का कारण व्याप्ति का ज्ञान है।

अद्वैत वेदान्त में सभी सांसारिक पदार्थों का सर्वथा अभाव है; इसलिये इस हेतु का मानना अनुपयुक्त है। श्रुति भी नेह नानास्ति किञ्चन कह कर जगत् के अनेक विधता का खण्डन करती है। इसलिये केवल अन्वयी रूप हेतु ही मानना चाहिये।

न्याय के समान अद्वैत वेदान्त ने भी अनुमान के दो भेद स्वीकार किया है। इन दोनों का स्वरूप लगभग न्याय-दर्शन जैसा ही है। न्याय-दर्शन परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग करता है। वेदान्त केवल तीन वाक्यों को ही मानता है। उसके मत से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण या उपनय निगमन। इनका कथन है कि-जब तीन वाक्यों को

मानने से काम चल जायेगा तो पञ्चावयव वाक्य मानने की क्या आवश्यकता है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के पश्चात् उपमान प्रमाण को वेदान्त-दर्शन में किस प्रकार स्वीकार किया गया है; इस पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम हमें यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उपमान किसे कहते हैं। "सादृश्य प्रमाकरणम् उपमानम्" यह उपमान का लक्षण दिया गया है।

अर्थात् सादृश्यता की उपस्थिति ही उपमान प्रमाण है। यह एक पृथक् प्रमाण है; जिसकी अभिव्यक्ति न प्रत्यक्ष के माध्यम से हो सकती है; और न अनुमान के माध्यम से। इसकी अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से होती है।

उपमान प्रमाण के विषय में नैयायिक और वेदान्ती दोनों का एक मत है। दोनों ही इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं; परन्तु दोनों के मार्ग भिन्न भिन्न हैं।

न्याय-दर्शन के मत से उपमान-प्रमाण वस्तु-बोधक नहीं होता; किन्तु ग्राहक होता है।

जैसे-नगर का निवासी एक व्यक्ति; जो कि जानना चाहता है कि गवय किस प्रकार का होता है। उसने किसी व्यक्ति से सुना कि (गवय) 'गो' के समान होता है। यह सुनकर वह व्यक्ति जंगल में जाकर गवय को देखता है। "गवय" के साथ उसका इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है; तदनन्तर "यह गौ के समान" है; ऐसा ज्ञान होता है। इस सादृश्य ज्ञान के पश्चात् उस व्यक्ति को (गो सदृशो गवयः) इस वाक्य का स्मरण होता है। इस स्मरण के पश्चात् यह (गवय) अर्थ का वाचक है। इसी ज्ञान को उपमिति कहते हैं। अर्थात्-गवय पद की शक्ति एक विशिष्ट पशु में है। न्याय के मत से इसी प्रकार का ज्ञान कराना उपमान का मुख्य प्रयोजन है। अद्वैत-वेदान्त का मत न्याय-मत से बिलकुल भिन्न है। इनके मत से "अनेन सदृशी मदीया गौः" अर्थात् इस गौ के समान ही मेरी गौ है। यही उपमान का कार्य है। लोक सिद्धि अनुभव भी इसी प्रकार का होता

है। गवय; गवय पद का वाच्य है; न्याय दर्शन की यह कल्पना अनुभव विरूद्ध है।

अर्थात् जहाँ पर गवय, गज, अश्व आदि अनेक पशु हों वहाँ पर प्रश्न किया जाय कि गवय कौन सा है; और उत्तर दिया जाय कि "अयं गवय: गवय पद वाच्य है-तो उपहास के अतिरिक्त कुछ न होगा।

यदि उपमान को शक्ति का ग्राहक माना जाय तो; उसके द्वारा केवल एक गवय में ही शक्ति होगी। अन्य गवयों में नहीं। उन गवयों के अतिरिक्त शक्तियाँ माननी पड़ेगी। इसलिये न्याय मत ठीक नहीं है।

तत्पश्चात् शब्द प्रमाण पर दृष्टिपात् करेंगे।

वेदान्त के दृष्टिकोंण से शब्द प्रमाण–

प्राय: सभी आस्तिक-दर्शन शब्द-प्रमाण को स्वीकार करते हैं। और सभी अपने अपने दृष्टिकोंण से इसे परिभाषित करते हैं; परन्तु सभी का तात्पर्य एक ही जैसा है।

अद्वैत वेदान्त के मत से शब्द प्रमाण की परिभाषा निम्नाङ्कित है—"जिस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत ज्ञान, किसी दूसरे प्रमाणों से बाधित नहीं होता है। वही "शब्द प्रमाण है"।

जैसे-किसी ने कहा कि वह अग्नि से सिचाई करता है; किन्तु यह प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित होता है; क्यों कि सिचाई अग्नि से नहीं बल्कि जल से होती है।

इसी प्रकार "प्रजापति ने अपनी वपा को निकालकर रख दिया" यह अर्थ भी प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित है। क्यों कि वपा निकालने से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता; इसलिये यह वाक्य भी अप्रामाणिक है। किन्तु यह श्रुति का वाक्य होने से अप्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसका तात्पर्य यह है कि-यज्ञ अत्यन्त आवश्यक है; जब प्रजापति ने भी यज्ञ किया था; तो जन सामान्य को भी श्रद्धा से यज्ञ करना चाहिये। इस प्रकार इस वाक्य को तो सामान्य रूप अर्थ दूसरे प्रमाण से बाधित होता है; परन्तु इसके तात्पर्य रूप अर्थ का बाध नहीं होता; इसलिये यह वाक्य प्रामाणिक है।

आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य ज्ञान-ये वाक्य ज्ञान के कारण हैं।

१-आकांक्षा-

एक वाक्य में कई पद होते हैं-प्रत्येक पद का अर्थ समझने के लिए उसके समीप में रहने वाले दूसरे पद का अर्थ जानना आवश्यक है।

जैसे-गौ को लाओ-यह वाक्य है-यदि इसमें केवल "गौ" ही कहा जाय; तो उसके साथ किस क्रिया का सम्बन्ध है-यह इच्छा होगी। और यदि केवल "लाओ" यह कहा जाय तो यह जानने की इच्छा होगी कि किसको लाया जाय। और कौन लावे-अत: जहाँ पर क्रिया का श्रवण करने के पश्चात् "कर्ता" तथा "कर्म" की इच्छा होती है; वही आकांक्षा कहलाता है।

२-योग्यता-

वक्ता के तात्पर्य का बाध न होना ही योग्यता है।

जैसे-गौ को बॉध दो-यह वाक्य प्रामाणिक माना जायेगा; क्योंकि इस अर्थ का बाध नहीं होता।

३-आसत्ति-

बिना किसी बाधा के; अथवा रूकावट के किसी पद के द्वारा उसके अर्थ का ज्ञान हो तो उसे आसात्ति कहते हैं।

जैसे-कोई यह कहे कि "चन्द्रमा को खाओ चावलों को देखो"-यहाँ पर खाना क्रिया का सम्बन्ध चावलों से तथा देखना क्रिया का सम्बन्ध चन्द्रमा से होना चाहिये।

इसलिये इन वाक्यों का अर्थ ज्ञान प्रामाणिक नहीं है।

अत: विना किसी व्यवधान के पद से अर्थ ज्ञान होने को ही आसात्ति कहते हैं। यह भी वाक्यार्थ ज्ञान का कारण है।

४-तात्पर्य-

वाक्य ज्ञान प्राप्त करने में तात्पर्य की भी आवश्यकता होती है। तात्पर्य का लक्षण न्याय और वेदान्त दोनों में भिन्न है।

न्याय-दर्शन-वक्ता की इच्छा को तात्पर्य मानता है। वेदान्त ने इसकी नवीन परिभाषा देते हुए कहा है कि-जो वाक्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराता है; किन्तु विवक्षित अर्थ के प्रतीति से भिन्न अर्थ की प्रतीति नहीं कराता है; उस शब्द का उसी अर्थ में तात्पर्य मानना चाहिये।

जैसे-भोजन करते समय किसी ने कहा कि-(सैन्धव लाओ)। यद्यपि सैन्धव शब्द के कई अर्थ होते हैं; परन्तु भोजन के प्रसङ्ग में सैन्धव शब्द का तात्पर्य "नमक लाओ" ही होगा।

इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता आसात्ति, तात्पर्य ज्ञान से युक्त पद या वाक्य ही प्रामाणिक अर्थ प्रदान करता है।

यह पद का अर्थ दो प्रकार का होता है। १-शक्य २-लक्ष्य।

जिन शक्तियों के द्वारा इस अर्थ का ज्ञान होता है; वह लक्षणा अथवा शक्ति कहलाता है।

शक्ति का लक्षण निम्न है—

पद या वाक्य के मुख्य अर्थ के ज्ञान को जिसके माध्यम से हम जानते हैं; उसको शक्ति कहते हैं। कुछ विचारक उन्हें अभिधा भी कहते हैं।

वेदान्त के दृष्टिकोंण से इस शक्ति, अभिधा अथवा लक्षणा के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं—१-जहद् लक्षणा २-अजहद् लक्षणा ३-जहद् अजहद् लक्षणा।

१-जहद् लक्षणा–

जब शंब्द अपने वाच्य अर्थ को बिलकुल छोड़ देता है; और केवल लक्ष्य अर्थ का ही ज्ञान कराता है; तो उसे जहद् लक्षणा कहते हैं।

जैसे-"विष खालो" इस वाच्य का अर्थ है विष खाओ-इसका रहस्योद्घाटन तब होगा जब हम इसके प्रकरण का ध्यान देंगे। जैसे-यदि कोई व्यक्ति शत्रु के घर भोजन करने जा रहा है; तो यही अच्छा होगा कि वह घर में ही जहर खा ले। इस प्रकार इस वाक्य का लक्ष्यार्थ है-शत्रु के घर भोजन करना विष खाने से बढ़कर है।

अतः यह अर्थ जहद् लक्षणा है।

२-अजहद् लक्षणा–

जब वाक्य अपने वाच्य अर्थ के साथ ही साथ लक्ष्य अर्थ का भी ज्ञान कराता है; तो अजहद् लक्षणा कहलाता है।

जैसे-"शुक्ल घट"-यहाँ पर शुक्ल शब्द शुक्ल गुण का वाचक होते हुए भी; शुक्ल गुण विशिष्ट घट का ज्ञान कराता है। यहाँ पर शुक्ल शब्द ने अपने वाच्यार्थ को भी नहीं छोड़ा है। तथा उसके साथ ही शुक्ल

गुण विशिष्ट घट के अर्थ का भी बोध कराया है। इसलिये यह अजहद् लक्षणा है।

इस प्रकार जहद् लक्षणा में वाक्य अपने वाच्यार्थ को छोड़ देता है; किन्तु अजहद् में वाक्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं कराता अपितु वाच्यार्थ ज्ञान के साथ ही साथ उसके अतिरिक्त लक्ष्यार्थ का भी बोध कराता है।

लक्षणा का तीसरा भेद है; जहद् अजहद् लक्षणा–

जहद् का अर्थ है-छोड़ना, अजहद् का अर्थ है-नहीं छोड़ना। अर्थात् जब कोई विशिष्ट अर्थ वाचक शब्द अपने विशेषण के अर्थ को छोड़कर केवल विशेष्य के अर्थ को प्रकाशित करता है; तो जहद् अजहद् लक्षणा कहलाता है।

इसी लक्षणा को भाग-त्याग भी कहते हैं। एवं "तत्त्वमसि" इस वाक्य का अर्थ भी यही लक्षणा ज्ञात कराता है।

अर्थात् तत् शब्द का अर्थ है सर्वज्ञ एवं अपरोक्ष चैतन्य; त्वम् शब्द का अर्थ है अल्पज्ञ चैतन्य। ये दोनों ही विरूद्ध धर्मी हैं। इनमें अभेद नहीं हो सकता। परन्तु इनके अभेदत्व को स्वीकार करने के लिये इनके विशेष्य अंश को अभेद मानना पड़ेगा। क्यों कि विशेष्य अंश चैतन्य है; अत: दोनों का अभेद हो जायेगा।

तत्पश्चात् अर्थापत्ति प्रमाण के उपर दृष्टिपात् करेंगे।

वेदान्त में अर्थापत्ति का लक्षण निम्न रूप से दिया गया है। "उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण है"। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है; वह उपपादक है; तथा जिसके अभाव में अनुपपत्ति होती है; वह उपपाद्य होता है।

जैसे-रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का मोटा होना असंभव है। इसलिये मोटा होना उपपाद्य है। और रात्रि-भोजन के बिना मोटापन संभव नहीं है; इसलिए रात्रि-भोजन इस मोटापन का उपपादक है।

अर्थापत्ति के भेद–

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं। १-दृष्टार्थापत्ति और २-श्रुतार्थपत्ति। अर्थात् जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है; उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं।

जैसे-"इदं जतम्" यहाँ पर पहले (यह रजत है) ऐसा ज्ञान होता है; पश्चात् आप्त पुरूष के वचन के माध्यम से; स्वयं उसे देखने के बाद वाधा उत्पन्न हो जाती है; और "यह रजत नहीं है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। यदि यह रजत सत्य होता तो इसका बाध नहीं होता। किन्तु इसका बाध होता है। इसलिये यह ज्ञान सत्य सत्ता नहीं है। वह सत् नहीं; वह सत् से भिन्न है-अर्थात् मिथ्या है। इस प्रकार सत्यत्व के अभाव की कल्पना की जाती है। यह मिथ्यात्व की कल्पना दृष्टार्थापत्ति के कारण होती है। इसलिये इस कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते है।

अर्थापत्ति का दूसरा भेद श्रुतार्थापत्ति है। किसी श्रुत अर्थ का मुख्यार्थ जब असम्भव सा प्रतीत होता है; तो उस अर्थ को ठीक ठीक समझने के लिये जो दूसरे अर्थ की कल्पना की जाती है; उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं।

जैसे-"तरति शोकम् आत्मवित्" अर्थात् आत्मवेत्ता पुरुष सभी प्रकार के बन्धन से मुक्त हो जाता है। और ज्ञान के द्वारा इन बन्धनों से छुटकारा मिलता है; निवृत्ति होती है। ऐसा श्रुति का अभिप्राय है। परन्तु श्रुति का अभिप्राय स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता। वस्तुतः किसी वस्तु की निवृत्ति; उस वस्तु के ज्ञान से नहीं होती। जैसे-घट का ज्ञान हो जाने के बाद घट की निवृत्ति नहीं होती है। घट के ज्ञान से घट के अज्ञान का नाश होता है; घट का नहीं। इसी प्रकार श्रुतार्थापत्ति की अनुपपत्ति हो जाती है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा सभी बन्धनों को नष्ट किया जा सकता है।

बन्ध, अज्ञान मूलक है; जैसे-"शुक्ति-रजत" यहाँ शुक्ति वास्तविक रूप से रजत नहीं है; अपितु अज्ञान के कारण उसे रजत समझते हैं।

वैदिक उदाहरण देने के पश्चात् लौकिक उदाहरण भी है-जैसे-"देवदत्त जीवित है; किन्तु घर में नहीं है" इस वाक्य को सुन कर यह कल्पना की जा सकती है कि-जो व्यक्ति जीवित है; वह जब घर में नहीं है, घर के अतिरिक्त भी नहीं है तो वह जीवित कैसे है? इसलिये यह माना जाता है कि यदि घर में नहीं है तो बाहर अवश्य ही होगा। यह भी श्रुतार्थापत्ति के द्वारा सिद्ध होता है।

श्रुतार्थापत्ति के भी दो भेद हो सकते हैं-

१-अभिधानानुपपत्ति २-अभिहितानुपपत्ति

जहाँ पर एक पद को सुनने के बाद दूसरे पद की कल्पना या अध्याहार करना पड़ता है-इस अध्याहार को ही अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। उदारणार्थ-एक व्यक्ति जो किसी कार्य में अत्यधिक संलग्न है यदि शीघ्रता में द्वार-द्वार शब्द का प्रयोग करता है; उस समय वहाँ के प्रसङ्ग को समझकर द्वार शब्द का अभिप्राय समझने के लिये "बन्द कर दो" इस क्रिया का अध्याहार होता है। इस अध्याहार से वाक्य पुरा हो जाता है। यही अभिधानुपपत्ति कहलाता है।

इसका दूसरा भेद "अभिहितानुपपत्ति" है। इसका उदाहरण यह है कि-"पुरुष स्वर्ग को जाता है" इस वाक्य की संगति के लिये-शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व मानना पड़ता है। अत: देहादि के अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि भी इसी श्रुतार्थापत्ति के भेद अभिहितानुपपत्ति प्रमाण से होती है।

अद्वैत वेदान्त में अर्थापत्ति प्रमाण को मुख्य रूप से माना जाता है। वेदान्तियों का मत है कि अनुमान की अपेक्षा अर्थापत्ति प्रमाण को मानना अत्यधिक न्याय-संगत है। क्योंकि अनुमान के द्वारा केवल वही बातें ज्ञात होती हैं; जिनकी व्याप्ति गृहीत होता है। परन्तु अर्थापत्ति एक स्वतंत्र प्रमाण है। आत्मा स्वयं तो आनन्दरूप है; किन्तु उसको (अहं दु:खी) इत्यादि अनुभव भी होता है। यह अनुभव शोक के कारण होता है; और इस शोक का कारण बन्धन है। इस बन्धक के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता; क्यों कि शोक एवं बन्धन का साहचर्य एवं उसकी व्याप्ति दर्शन में प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये इसका ज्ञान अर्थापत्ति के द्वारा ही होगा।

अद्वैत वेदान्त के नवीन पद्धति के चिन्तकों का यह भी कथन है कि-अद्वैत वेदान्त की प्रमाण मीमांसा में अर्थापत्ति भी समृद्ध प्रमाण है। इसका उपयोग एवं क्षेत्र अनुमान की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अनुमान स्थूल धूम और अग्नि से पर्वत पर अग्नि सिद्ध करता है।

परन्तु अर्थापत्ति ऐसे विषय का विचार करती है जिसका मुख्य उपयोग है। क्योंकि-वेदान्त परिहृति का परिहार करके प्राप्ति की बात करता है। इसका आशय यह है कि-जो प्राप्त वस्तु परिहार के बाद प्राप्त होती है; उसकी सत्ता तो पहले ही से विद्यमान रहती है। अत: विद्यमान

रहते हुए जो ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता है; वह अर्थापत्ति प्रमाण से ही संभव है। इसलिये इस प्रमाण की स्वतंत्र सत्ता है।

क्रमशः छठवाँ प्रमाण अनुपलब्धि को माना जाता है।

वेदान्त मत में अनुपलब्धि प्रमाण–

अनुपलब्धि का तात्पर्य अभाव होता है-अद्वैत वेदान्त अभाव को पृथक् प्रमाण मानता है। इनका कथन है कि-ज्ञान के साधन जिसके जनक न हों; ऐसा जो अभाव का अनुभव है उस अभाव के अनुभव का जो असाधारण कारण होता है; उसे ही अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।

वेदान्त में अनुपलब्धि के योग्यता का विचार—अर्थात् अनुपलब्धि की योग्यता क्या है? और उसका तात्पर्य क्या है?

यदि योग्यतानुपलब्धि पर विचार किया जायें तो उसमें दो प्रकार के विकल्प हो सकते हैं-पहला तो यह है कि जिसकी उपलब्धि होती है-उस वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ज्ञात होना चाहिये। जैसे-घट पटादि। दूसरा यह है कि जो पदार्थ अनुपलब्धि प्रमाण का विषय है; वह जिस अधिकरण में रहता है उसके अधिकरण का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होना चाहिये। अर्थात् वह अधिकरण उपलब्धि के योग्य होना चाहिये। परन्तु ये दोनों ही विकल्प दोष युक्त है।

प्रथम विकल्प इसलिये दोषयुक्त है; क्योंकि स्तम्भ में पिशाचभेद की प्रतीति नहीं होती क्योंकि- पिशाच का ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

इसलिये पिशाच प्रत्यक्ष वेद्य प्रमाण नहीं है। दूसरा विकल्प भी दोषपूर्ण है-क्योंकि- आधार का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से होने पर भी आधार में रहने वाली प्रतियोगी का ज्ञान इन्द्रिय सम्बन्ध से नहीं होगा। जैसे-आत्मा रूप अधिकरण का ज्ञान।

यद्यपि "अहम् अस्मि" इसके द्वारा प्रत्यक्ष आत्मा का ज्ञान होता है; परन्तु आत्मा में भी धर्म अधर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होगा। क्यों कि-धर्म और अधर्म अतिन्द्रिय पदार्थ हैं। ये प्रत्यक्ष वेद्य नहीं हैं।

इस प्रकार दोनों ही विकल्प दोषपूर्ण है। अतः वेदान्त ने तीसरा मार्ग चुना। उसने योग्यतानुपलब्धि में न तो "षष्ठी तत्पुरुष" को माना न सप्तमी तत्पुरूष को माना-उसने सिद्धान्त सम्मत व्यवस्था के लिये

कर्मधारय समास की व्यवस्था की है। इनके अनुसार "योग्या चासौ अनुपलब्धि:" इसका अर्थ यह है कि प्रकाश युक्त स्थान पर जाकर यह विचार करना चाहिये कि इस स्थल पर घट होता तो उपलब्ध होता। यदि उपलब्ध नहीं होता; तो घट नहीं है। अत: घट के अनुपलब्धि का तात्पर्य घट का अभाव है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाण को मानना चाहिये। इस नियम के अनुसार अनुपलब्धि का विशेषण (योग्य) को माना गया है।

जिस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है उस अभाव के चार भेद हैं—

१-प्रागभाव २-प्रध्वंसाभाव ३-अन्योन्याभाव ४-अत्यन्ताभाव।

१-प्रागभाव-कार्य के उत्पत्ति के पूर्व के अभाव को प्रागभाव कहते हैं।

अर्थात् जिस द्रव्य से जो वस्तु बनती है; उस द्रव्य से उस वस्तु का प्राग् अभाव रहता है। मिट्टी का घड़ा मिट्टी के पिण्ड से बनता है; इसलिये मिट्टी के पिंड में घड़े का प्राग् अभाव है।

२-प्रध्वंसाभाव-कार्य के नाश के पश्चात् जो कार्य का अभाव होता है। जैसे-घड़े का फोड़ दिया जाना प्रध्वंसाभाव कहलाता है।

३-अत्यन्ताभाव-जहाँ पर किसी चीज का भाव कभी नहीं रह सकता। जैसे-वायु में रूप का भाव भूत वर्तमान और भविष्य कभी नहीं हो सकता।

४-अन्योन्याभाव-जहाँ पर एक अभाव दूसरे के अभाव पर निर्भर हो। जैसे-घट पट नहीं है।

इस प्रकार अभाव के चार भेद एवं अभाव का निरूपण अद्वैत सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इन चारों अभावों का ज्ञान प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता बल्कि अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ही हो सकता है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाण को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सभी वेदान्ती व्यावहारिक सत्ता के क्षेत्र में इन छ: प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति अनुपलब्धि को ही स्वीकार करते हैं। इनमें से शब्द को वैदिक प्रमाण या श्रुति प्रमाण तथा अन्य को लौकिक प्रमाण माना जाता है।

प्राय: शङ्कर कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति प्रमाण से ही हो

सकता है; और यह प्रमाणान्तर से ज्ञान नहीं होता। किन्तु वे माहूक्यकारिका के भाष्य में कहते हैं कि-ब्रह्म ज्ञान तर्क से भी हो सकता है; "शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्"।

वास्तव में वेदान्त छः प्रमाणों की दो व्याख्यायें करता है। एक वह-जिसमें ये प्रमाण ब्रह्म के अस्तित्व के बाधक हैं; इसे शङ्कर शुष्क तर्क कहते हैं। इससे भिन्न एक दूसरी व्याख्या है-इससे अनुसार सभी प्रमाण ब्रह्म के अस्तित्व में सहायक या साधक है। इसे श्रुत्यनुगृहीत तर्क या निरवद्य तर्क कहा जाता है। शंकराचार्य जी ने इसी तर्क का सहारा लेते हुए शुष्क तर्क का निराकरण किया है। अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्व में जो भी प्रमाण बाधक है; उसका खंडन करके वे उन प्रमाणों को श्रुति का अनुग्राहक बना देते हैं।

वेदान्त परिभाषा में-इसी तर्क के अनुसार प्रमाणों की व्याख्या की गयी है।

स्पष्ट है कि-वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा द्विविध है; क्यों कि-उसने प्रत्यक्षादि ७ प्रमाणों का लक्ष्य अपरोक्ष अनुभव तथा ब्रह्मवाद को सिद्ध किया है। वेदान्त में श्रुति जिस वस्तु का ज्ञान कराती है; उसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं हो सकता-वह वस्तु ब्रह्म है। अतएव श्रुति एक स्वतंत्र प्रमाण है। और अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाण परतंत्र प्रमाण है।

सांख्य दर्शन में प्रमाण व्यवस्थापन का स्वरूप–

सांख्य दर्शन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। इसका नाम सांख्य क्यों पड़ा। सांख्य शब्द "गिनती" वाचक है; क्यों कि इसमें तत्त्वों की संख्या २५ मानी गयी है। अतएव इसे सांख्य कहा जाता है-श्री धराचार्य ने अपनी श्रीमद्भागवत टीका में सांख्य शब्द का यही अर्थ किया है। दूसरे सांख्य शब्द ज्ञानवाची है; जिसका प्रयोग ख्यानम् (सम्यक्-विचार) के अर्थ में होता है। शंकराचार्य ने अपने भगवद्गीता भाष्य में सांख्य शब्द का यही अभिप्राय दिखलाया है।

इस व्युत्पत्ति के आधार पर जीव का त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भेद दिखलाकर उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान दिखलाने के कारण इस शास्त्र को सांख्य कहा गया है। जीव एवं प्रकृति के इस पृथक्-करण को

विवेक-ख्याति अथवा "सत्वपुरुषान्यथा ख्याति भी कहा गया है। वास्तव में सांख्य शब्द का यही अर्थ समीचीन है।

इसका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ सांख्य कारिका है। इसे चौथी शताब्दी में ईश्वर कृष्ण ने लिखा था। इनकी सांख्यकारिका संक्षिप्त और सारगर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुई कि इस पर अनेक टीकायें लिखी गयी। जिसमें सूवर्णसप्ततिशास्त्र, माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका गौड़पादभाष्य, जयमङ्गला, तत्त्वकौमुदी इत्यादि प्राचीन एवं नारायणतीर्थ कृत सांख्यचन्द्रिका आदि अर्वाचीन टीकायें हैं।

सांख्य शास्त्र मुख्यत: प्रमेय शास्त्र है; किन्तु प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से ही होने के कारण प्रमाणों के विवेचन की आवश्यकता सांख्य शास्त्र को भी है। सांख्य दृष्टि से प्रमाणों की उपादेयता यह है कि सांख्य-शास्त्र विवेक लाभ कराने के लिये साक्षात् उपाय है। सांख्य दर्शन में यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण माना गया है। प्रमाण के क्षेत्र में आचार्य वाचस्पतिमिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने श्लाघनीय कार्य किया है परन्तु विज्ञान भिक्षु ने वाचस्पति मिश्र का अनुकरण ही नहीं किया वरन स्वतंत्र व्याख्या कर अपनी वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया है।

विज्ञानभिक्षु ने बुद्धि वृत्ति को प्रमाण माना है। उनके अनुसार इन्द्रियों में प्रमाण-व्यवहार तो परम्परया होता है। पुरुष निष्ठ बोध ही प्रमा है। पुरुष को ही ज्ञान होता है; इसलिये वह प्रमाता है; किन्तु प्रमाता पुरुष का स्वरूप नहीं अपितु वह पुरुष में उपचरित होता है। वस्तुत: पुरुष प्रमा का साक्षी होता है; प्रमाता नहीं।

सांख्य सूत्रों के अनुसार प्रमाण–

प्रमा के करण को अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण स्वीकार किया गया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए बतलाया कि-प्रमाण वह चित्तवृत्ति है; जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो। अर्थात् बाधित होने वाला न हो एवं पूर्व से ज्ञान न हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न अतएव उसका फलभूत पुरुषवर्ती बोध प्रमा है।

सांख्य दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण स्वीकार करते हुए; उसके तीन भेद बतायें हैं। १-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-शब्द। सांख्य

दार्शनिकों का मत है कि इन तीन ही प्रमाणों से सभी प्रमेय पदार्थों की सिद्धि हो जाती है। अतः इससे अधिक प्रमाणों के मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

सांख्यसूत्रों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है— "यत्सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्" (११८९)।

ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष की परिभाषा–

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्;-अर्थात् इन्द्रिय पर आश्रित बुद्धि-व्यापार या ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

इस पद में 'प्रति' शब्द का सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय से है। प्रतिविषया-ध्यवसायः पद को जब एक शेष समास मानकर उसका विग्रह "प्रतिविषया-ध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायः करते हैं-इसमें प्रतिविषयाध्यवसायः पद का प्रथम अर्थ-इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर जो बुद्धि का व्यापार होता है; उससे होने वाले अध्यवसाय से है। दूसरे शब्द में प्रति शब्द का सम्बन्ध सीधा अध्यवसाय से है। अर्थात् वस्तु के आकार को ग्रहण करने वाली बुद्धि वृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सांख्य सूत्रों के अनुसार-प्रत्यक्ष इन्द्रियों के विषयों से सम्बद्ध होने पर उत्पन्न होने वाला सविकल्पक, निश्चयात्मक असंदिग्ध तथा व्यवस्थित ज्ञान है। यही बात सांख्यकारिका में भी स्वीकार की गयी है। योगभाष्य में भी प्रत्यक्ष के इसी स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। इन आचार्यों के अनुसार इन्द्रियाँ अपने विषयों के सम्पर्क में आकर तदाकार हो जाती हैं। यही प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान में नाम जाति से रहित निर्विकल्पक ज्ञान की प्रतीति होती है।

सांख्यकारिका के प्राचीन टीकाओं में प्रत्यक्ष का भेद यद्यपि नहीं किया गया है; परन्तु जयमङ्गलाकार ने प्रामाणिक और अप्रामाणिक के भेद से दो प्रकार के प्रत्यक्ष स्वीकार किये हैं।

इनके अनुसार शुद्ध प्रत्यक्ष प्रामाणिक और अशुद्ध प्रत्यक्ष अप्रामाणिक होता है। उन्होंने अप्रामाणिक प्रत्यक्ष को सव्यपदेश; सविकल्क, अर्थव्यतिरेक तथा इन्द्रिय व्यतिरेक के भेद से चतुर्विध माना है। यद्यपि लौकिक व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों से प्रमुख होता है; परन्तु सभी वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होना असंभव है।

बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं; जहाँ वस्तु सत्ता शील होते हुए भी पदार्थ इन्द्रियों के सन्निकर्ष का विषय नहीं होता। अत्यन्त समीप होने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। जैसे-आँख में अञ्जन लगाने पर वह हमें दिखाई नहीं देता। ईश्वरकृष्ण भी सूक्ष्मता को प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक मानते हैं। सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों तथा अनिरूद्ध ने सूक्ष्मता के कारण पदार्थों के न ग्रहण होने में परमाणु का उदाहरण दिया है।

किन्तु विज्ञानभिक्षु ने सूक्ष्मत्व का अर्थ अल्प-परिमाण या अणु-परिमाण नहीं माना है। क्यों कि-प्रकृति का प्रत्यक्ष सूक्ष्म होने के कारण विभु भी माना गया है। अतः सूक्ष्मता का द्योतक अणुत्व नहीं हो सकता। अनिरूद्ध ने १/१०८ की वृत्ति में सूक्ष्मत्व का अर्थ अणुत्व किया है। किन्तु उन्होंने १/१०९ की वृत्ति में सूक्ष्मता का अर्थ दुरूहत्व ही किया है। और अणुत्व के मत का खण्डन किया है; क्यों कि-प्रकृति विभु है।

परन्तु आचार्य विज्ञान भिक्षु ने सूक्ष्मत्व के दो अर्थ निरूपण— सांख्य-दर्शन में व्याप्ति के ज्ञान से व्याप्त वस्तु को देखकर जो व्यापक का ज्ञान होता है; उसे अनुमान प्रमाण कहा जाता है।

सांख्य सूत्रों में **"प्रतिबन्धदृश-प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्"** (सांख्यसूत्र १/१००) अनुमान की यह परिभाषा दी गयी है। इस परिभाषा के अनुसार व्याप्ति के ग्रहण द्वारा व्याप्य के दर्शन से व्यापक का जो ज्ञान होता है; वह अनुमान प्रमाण है। सांख्यकारिका में अनुमान को लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक उत्पन्न माना गया है।

सांख्य-दर्शन में व्याप्य-व्याप के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहा गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार साध्य (व्याप्य) और साधन (व्यापक) का व्यभिचाररहित सहचार दर्शन ही व्याप्ति है। उनका मत है कि-यह अव्यभिचरित सम्बन्ध रूप व्याप्ति कोई पृथक् तत्त्व नहीं है; प्रत्युत नियतसहचार ही है। वस्तुत्वाभाव से ही जिसका साहचर्य (अविनाभाव) सम्बन्ध हो; उसे व्याप्य कहते हैं। तथा जिसके साथ वह सम्बन्ध हो; वह व्यापक कहलाता है।

विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने अनुमान के दो लक्षण दिये है-"यथार्थलिङ्गज्ञानजायमानं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानम्" (तत्त्वया०

२३) अर्थात् यथार्थ लिङ्ग ज्ञान से उत्पन्न साध्य विशिष्ट पक्ष के आधार वाली अन्त:करण की वृत्ति अनुमान प्रमाण है।

सांख्य-सूत्रों नु अनुमान के पाँच अवयव स्वीकार किये हैं। ये पॉच अवयव निम्न है-प्रतिज्ञा, उपदेश, निर्दशन, अनुसन्धान तथा प्रत्यान्माय। इन्हीं के आधार पर स्वयं को ज्ञात पदार्थ को दूसरे को ज्ञान कराया जाता है; इसलिये इन्हें परार्थ अनुमान स्वीकार किया गया है।

किन्तु वृत्तिकार अनिरूद्ध तथा आचार्य विज्ञान भिक्षु ने-प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पॉच अनुमान के अवयव स्वीकार किये हैं। सांख्यसूत्रों में अनुमान के भेदों का उल्लेख नहीं है। सांख्य-कारिका में केवल "त्रिविधमनुमानम्" (सांख्य का०५) कह कर छोड़ दिया है। परन्तु सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों ने अनुमान के तीनों भेद पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट का स्पष्ट उल्लेख किया है। युक्तिदीपिका में सांख्य को (वीत) और (अवीत) अनुमान मानने वाला कहा गया है सम्भवत: इसी कारण वाचस्पति मिश्र ने पहले अनुमान के वीत और अवीत दो भेद किये हैं-एवं पूर्ववत् अनुमान तथा सामान्यतोदृष्ट अनुमान को (वीत) अनुमान के अन्तर्गत तथा शेषवत् को (अवीत) अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

वृत्तिकार अनिरूद्ध ने अनुमान के अन्वयी, व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी, पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट (७) भेद मानें हैं। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट तीन भेद माने हैं।

सांख्य दर्शन में कारण को देख कर कार्य का अनुमान जो किया गया है; वह पूर्ववत् अनुमान स्वीकार किया गया है। माठर वृत्ति, युक्तिदीपिका, गौड़पादभाष्य तथा जयमङ्गला में घिरे हुए मेघों को देखकर भावी दृष्टि के अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा गया है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने पूर्ववत् अनुमान की-"दृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत्"-यह परिभाषा दी है। उनके अनुसार पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसी किसी वस्तु का सामान्यरूप होता है; जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो जैसे-धूप के द्वारा वह्नित्व रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न विशेष रूप पर्वतीय वह्नि का अनुमान

होता है; जिसका वैयक्तिक रूप रसोइघर में पहले देखा जा चुका है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पूर्ववत् की परिभाषा "प्रत्यक्षीकृत जातीय विषयकं पूर्ववत्" दी है।

उनका मत है कि धूम से वह्नि के अनुमान में वह्नि जाति का प्रत्यक्ष पहले ही रसोईघर में हो चुका होता है।

सांख्य दर्शन में कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा गया है। और कहीं उसे परिशेषानुमान भी कहा गया है। माठरवृत्ति इत्यादि में जलपूर्णा नदी को देखकर वर्षा होने के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा गया है।

अनुमान का तीसरा भेद "सामान्यतोदृष्ट" है। सांख्य-दार्शनिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही प्रकृति और पुरूष के सिद्धि को स्वीकार करते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान की व्याख्या इस प्रकार दिया है—"सामान्यत: प्रत्यक्षादि जातीयमादाय व्याप्तिग्रहातपक्षधर्मताबलेन तद्विजातीयोऽप्रत्यक्षाद्यर्थ: सिद्धयति-अर्थात् अप्रत्यक्ष जातीय पदार्थ का का अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। उनके अनुसार रूप आदि ज्ञान के क्रियारूप होने से करण जन्य होने का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण के अनन्तर शब्द प्रमाण की व्यवस्था सांख्य में किस प्रकार किया गया है। इसे निम्न प्रकार से व्यवस्थित किया जा रहा है।

सांख्य सूत्र में शब्द-प्रमाण का लक्षण (आप्तोपदेश: शब्द: (१/१०१) किया गया है। अर्थात्-विश्वसनीय अथवा आप्त पुरुष का उपदेश ही शब्द प्रमाण है। ईश्वर कृष्ण ने शब्द प्रमाण का लक्षण "आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" किया है। सांख्य के शब्द प्रमाण की व्याख्या बहुत कुछ मीमांसा दर्शन के समान है। सांख्यकारिका में आगम के "श्रुति" एवं "आप्तवचन" ये दो रूप माने गये हैं। श्रुति अथवा वेदवाक्य अपौरूसेय होने के कारण निर्दोष एवं स्वत: प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त भ्रम, प्रसाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त सत्यद्रष्टा आचार्यों के वाक्य भी वस्तुविषयक होने के कारण सांख्य शास्त्र में प्रामाणिक माने गये हैं। यही "आप्तवचन" कहे जाते हैं।

इन तीन प्रमाणों के आधार पर ही प्रमेय की सिद्धि सांख्य-शास्त्र में स्वीकार की गयी है।

अब यह प्रश्न उठता है कि–किस प्रमाण से किस प्रमेय की सिद्धि होती है?

इसका उत्तर यह हैं कि-प्रत्यक्ष के द्वारा महत् आदि व्यक्त पदार्थों का ज्ञान होता है। क्योंकि-सांख्य शास्त्र व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ इन तत्वों की व्याख्या करता है।

लोक में हम बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूतों का साक्षात् अनुभव करते हैं। लेकिन प्रकृति अव्यक्त एवं अतिरिन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। इसलिये अनुमान नामक एक भिन्न प्रमाण की भी व्यवस्था की गयी है।

यद्यपि अव्यक्त का ज्ञान अनुमान के आधार पर हो सकता है। लेकिन "ज्ञ" की प्रतीति अनुमान के आधार से भी नहीं हो सकता। सांख्य ने "ज्ञ" की प्रतीति के लिये आगम को ही प्रमाण माना है।

इस प्रकार ईश्वर कृष्ण ने अपनी कारिकाओं में व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ की उपलब्धि के लिये प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम इन तीन प्रमाणों की उपादेयता को स्वीकार किया है। इनका मत प्रमाण व्यवस्थावाद है। जिसके आधार पर प्रत्येक प्रमाण का अपना नियत विषय होता है।

मीमांसा के दृष्टिकोंण से प्रमाण व्यवस्थापन का स्वरूप–

किसी वस्तु के स्वरूप का वास्तविक तथ्य वर्णित करना ही 'मीमांसा' कहलाता है। वेद के दो भाग हैं-१-कर्मकाण्ड २-ज्ञानकाण्ड।

१- कर्मकाण्ड–

यज्ञ यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन इसमें प्राप्त होता है।

२-ज्ञानकाण्ड–

इसमें जीवन जगत् तथा ईश्वर के रूप और परस्पर सम्बन्ध का निरूपण किया जाता है। इनमें जब आपातत: विरोध प्राप्त होता है; तो मीमांसा की प्रवृत्ति जागृत होती है। इस प्रकार मीमांसा के दो प्रकार हैं- **१-कर्ममीमांसा २-ज्ञान-मीमांसा।**

जहाँ पर कर्मविषयक दोषों का परिहार होता है; वह कर्ममीमांसा एवं ज्ञान विषयक दोषों के परिहार को ज्ञान मीमांसा कहते हैं।

कर्ममीमांसा तथा पूर्व मीमांसा के नाम से अभिहित दर्शन मीमांसा कहलाता हैं। ज्ञान-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा से अभिहित दर्शन वेदान्त कहलाता है।

मीमांसा-दर्शन का इतिहास बड़ी ही विशाल है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसके तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं। मीमांसा दर्शन के इतिहास में कुमारिल भट्ट एक नवीन युग के उद्भावक माने जाते हैं।

वेद के प्रामाण्य के उपर चार्वाक्, बौद्ध और जैन सदा से खड्गहस्त हैं-वे इसकी प्रामाणिक को कथमपि स्वीकार नहीं करते।

अतः मीमांसा का मुख्य कार्य वेद के विरोधियों के प्रवल प्रहारों से बचाना हैं।

मीमांसा ने अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिये तथा उसकी प्रामाणिकता बताने के लिये एक नवीन प्रमाण शास्त्र का निर्माण कर लिया। जो न्याय के प्रमाण शास्त्र से विलक्षण और स्वतंत्र है। इसके प्रतिष्ठापक तथा व्याख्याता आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा है। मीमांसा का प्राचीन नाम (न्याय) है। मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं। इन्होंने ही तर्क के द्वारा संदिग्ध विषय का निर्णय कराने का प्रयत्न किया है। इनका विषय धर्म का विवेचन है।

मीमांसा का प्रमाण व्यवस्थापन–

मीमांसा-दर्शन भी प्रमाण के विषय में यह स्वीकार करता है कि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहते हैं। अज्ञात के तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा के लिये पदार्थ को सत्य अर्थात् वास्तविक होना चाहिये। जिससे भ्रम तथा संशय ज्ञान का निराकरण हो जाता है। जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो; जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो तथा दोषरहित हो; वही प्रमाण है। आचार्य कुमारिल के मत में-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि-ये छः प्रमाण माने गये हैं परन्तु प्रभाकर ने केवल पाँच ही प्रमाण स्वीकार किया है।

१-प्रत्यक्ष- इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष के उत्पत्ति में सहायक स्वीकार किया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष एक साक्षात् प्रतीति है; जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा ही उत्पन्न होता है।

यद्यपि न्याय और मीमांसा की प्रत्यक्ष विवेचना प्राय: बहुत कुछ सामान्य है; परन्तु इन सिद्धान्तों में मान्य सन्निकर्ष के भेद में अन्तर है। जैसे-न्याय-वैशेषिक दर्शन में छ: प्रकार के सन्निकर्ष मान्य हैं; और भट्ट-मत में केवल संयोग, समवाय एवं संयुक्त-समवाय इन तीन प्रकार के सन्निकर्षों को स्वीकार किया गया है। प्रभाकर के अनुसार इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग तथा गुणों के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध होता है।

न्याय के समान मीमांसा में भी प्रत्यक्ष के दो भेदं स्वीकार किये गये हैं-१-निर्विकल्पक २-सविकल्पक। मीमांसा का निर्विकल्पक ज्ञान न्याय के निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न होता है।

I. **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष**-न्याय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के केवल तर्क के आधार पर सविकल्पक की प्रागवस्था के रूप में माना जाता है। मीमांसा में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मनुष्य की एक अवस्था माना जाता है; जो कि अनुभव पर आधारित होता है।

मीमांसक पशुओं तथा शिशुओं के प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक की कोटि में रखते हैं।

II-सविकल्पक-प्रत्यक्ष–

निर्विकल्पक अवस्था में वीजरूप से गर्भित एवं अस्पष्ट गुणों का स्पष्टीकरण होता है। उदाहरण के लिये-दूर से दिखाई देने वाली वस्तु के पास जाकर उसे यह नील घट है-ऐसा जानते हैं तो उस वस्तु का घटत्व एवं नीलत्व से विशिष्ट यह ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष के निरूपण के पश्चात् अनुमान का मीमांसा में क्या स्वरूप है; इसे स्पष्ट करेंगे।

२-अनुमान–

मीमांसा की अनुमान विवेचना बहुत कुछ न्याय-दर्शन के समान ही है। परन्तु इन दोनों दर्शनों में अवयवों को लेकर मतभेद है। न्याय में पॉच अवयव अर्थात्-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन स्वीकार किये जाते हैं; परन्तु मीमांसा तीन ही अवयव स्वीकार करता है। यथा-प्रतिज्ञा, हेतु और निगमन। अर्थात्-ये तीन ही अवयव मीमांसा दर्शन में स्वीकार किया गया है।

३-उपमान प्रमाण–

नैयायिक के सदृश मीमांसा दर्शन में भी उपमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है।

यदि किसी व्यक्ति ने गाय को देखा है; वही जब उक्त विशिष्टता से युक्त किसी स्थल पर एक गवय (पशुविशेष) को देख कर गाय के सादृश्य का अनुभव करते हुए गाय में उस गवय का सादृश्य देखता है तो उसे इस सादृश्य का ज्ञान जो कि उपमिति प्रमाण के द्वारा प्राप्त होता है; उसे ही उपमान प्रमाण कहते हैं।

परन्तु उपमान प्रमाण के विषय में न्याय और मीमांसा दोनों दर्शनों में मतभेद है।

न्याय में उपमान का विषय संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध है। और मीमांसा में उपमान के द्वारा दो वस्तुओं के सादृश्य का ज्ञान होता है।

मीमांसा-दर्शन की यह विशेषता है कि-इसमें सादृश्य को एक पृथक् पदार्थ मानते हुए दो वस्तओं के परस्पर सादृश्य में भी भेद माना गया है।

उदाहरण के लिये "गो" का "गवय" से सादृश्य गो से गवय के सादृश्य से पृथक् है।

४-शब्द-प्रमाण–

वाक्य के शब्दार्थ का ज्ञान होने पर वाक्यार्थ पर जो ज्ञान होता है; उसे शब्द कहते हैं। शब्द प्रमाण के विषय में मीमांसकों ने वाक्य के दो प्रकार माने हैं; **१-लौकिक २-वैदिक।**

१-लौकिक वाक्यों में केवल आप्तपुरुषों का वचन ही प्रामाणिक होता है।

२-वैदिक वाक्य स्वभाव से ही निर्दोष एवं प्रामाणिक होते हैं। मीमांसा-दर्शन के अनुसार वेद अपौरूषेय एवं नित्य है। वेद को शुद्ध एवं नित्यत्व सिद्ध करने के लिये शब्द को नित्य मानना आवश्यक है। शब्द और अर्थ का सम्बद्ध नित्य है।

वेद की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि-"अपौरूषेयं वाक्यं वेदः"। मीमांसा में शब्द का तात्पर्य-उस रूप से नहीं है; जिसका हम प्रतिदिन श्रवण करते हैं। जिनशब्दों को हम सुनते हैं; उन्हें मीमांसकों ने

ध्वनि कहा है। मीमांसा में शब्द को नित्य माना गया है; न कि ध्वनि को यद्यपि ध्वनि नित्य शब्द का प्रतीक है; तथापि वह स्वयं अनित्य है। अतएव शब्द की नित्यता तथा अर्थ से उसके सम्बन्ध की नित्यता के आधार पर वेदों को अपौरूषेय, नित्य एवं स्वतः प्रमाण मानकर उसके प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया गया है।

५-अर्थापत्ति-प्रमाण–

अर्थापत्ति प्रमाण की गणना मीमांसा में सर्वप्रथम की गयी है; जिसे आगे चलकर वेदान्त ने भी स्वीकार किया है। अर्थापत्ति की अपेक्षा तब होती है; जब किसी विषेष परिस्थिति में एक निर्धारित तथ्य की सत्यता को अबाधित रखने के लिये किसी दूसरे अदृष्ट विषय की कल्पना की जाती है। उदाहरण के लिये-देवदत्त घर में नहीं है। अतएव वह घर के बाहर है। यह ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण जन्य है। इसमें देवदत्त का घर से बाहर होना इस निश्चय पर आधारित है कि वह जीवित है। उसका जीवित होना अबाधित है; जिसका विरोध घर में उनकी अनुपस्थिति से होता हैं।

इस प्रकार जब दो विरूद्ध-कोटिक सत्य विषयों अथवा अनुभवों के समन्वय के लिये किसी तीसरे सादृश्य विषय की कल्पना की जाती है; तब इस प्रकार की कल्पना को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।

यह अर्थापत्ति दो प्रकार की मानी जाती है। **१-दृष्टार्थापत्ति २-श्रुतार्थापत्ति।**

दृष्टार्थापत्ति में किसी दृष्टार्थ अथवा घटना की उपपत्ति होती है; और श्रुतार्थापत्ति में किसी श्रुतार्थ अथवा सुनी हुई बात का समन्वय होता है।

दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण यह है कि-देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता अतएव वह रात्रि में खूब भोजन करता होगा। क्यों कि-इसमें देवदत्त का मोटा होना दृष्टार्थ है; अर्थात्-दिखलाई पड़ता है। श्रुतार्थापत्ति में सुनी हुई बातों का समन्वय होता है।

अनुपलब्धि का स्वरूप–

मीमांसा ने अनुपलब्धि अर्थात् (अभाव) को भी एक प्रमाण माना है। भूतल पर घट है; यहाँ पर घट का भाव है-परन्तु घट नहीं है-तो

उसका अभाव भी है। अभाव का प्रसंग उसी समय उपस्थित होता है; जब किसी भी वस्तु को प्रकट करने वाली उन सभी सामग्रियों के होते हुए भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। जिन्हें शास्त्र में योग्यतानुपलब्धि कहते हैं। इस योग्यतानुपलब्धि का वस्तु के प्रतियोगी के ज्ञान के साथ साथ साक्षात्-ज्ञान कराने के लिये बुद्धि में एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया होती है, जिसे अनुपलब्धि कहते हैं।

प्रमाणों के प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों का मत–

प्रथमतः न्याय वैदिक वाङ्मय के वाकोवाक का परिवर्धन है। उपनिषदों में दार्शनिकों के बीच उनके वाद-विवाद हुए। उससे न्याय-दर्शन ने एक तर्क-प्रणाली विकसित की-जो प्रणाली सभी भारतीय दर्शनों को सारतः मान्य है।

न्याय-दर्शन की प्रेरणा से अन्य भारतीय दर्शनों ने भी न्याय तथा तर्क के विषय में अपने अपने विचार व्यक्त किये।

क्यों कि-न्याय ्र्शन एक विशेष प्रकार के तत्त्व मीमांसा से सम्बन्धित है। एवं सभी भारतीय दर्शनों को मान्य है।

न्याय दर्शन का वह अंश जो तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित नहीं है; यथा-बौद्ध न्याय, जैन-न्याय, मीमांसा न्याय, वेदान्त-न्याय, सांख्य-न्याय तथा लोकायतिक न्याय न्याय-दर्शन के ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के उन सभी नियमों को मानते हैं; जो उनके तत्त्वमीमांसा से वेमेल नहीं है। इन दर्शनों ने अपनी अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुसार न्याय एवं तर्क-शास्त्र का विवेचन किया है।

परन्तु जब तर्कशास्त्र को समस्त प्रकार की तत्त्वमीमांसा से मुक्त रखा जाय तो इन सभी के तर्कशास्त्र में एक अद्‌भूत एकवाक्यता मिलेगी। सभी प्रमाणों का मुख्य प्रयोजन इसी रूप में हमें दृष्टिगोचर होता है।

प्रमाण शास्त्र के रूप में न्याय-दर्शन को सभी शास्त्रों का व्याकरण कहा गया है; न्याय अथवा प्रमाण शास्त्र के अध्ययन से वाणी विमल होती है; और बुद्धि यथार्थ तथा अयथार्थ के अनुभव के अन्तर तथा महत्त्व को समझने लगती है। यही कारण है कि-प्रमाणों की प्रयोजकता सभी शास्त्रों को मान्य है।

वास्तव में तत्त्वज्ञान की पहली सीढ़ी न्याय-दर्शन ही है। दूसरी सीढ़ी सांख्य-दर्शन है; जहाँ आत्मा और अनात्मा का विवेक न्याय-दर्शन से अधिक किया गया है। तीसरी सीढ़ी वेदान्त-दर्शन है; जिसमें आत्मा को ही एकमात्र परमतत्त्व माना गया है।

न्याय के अनुसार आत्मा ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है। सांख्य के अनुसार वह ज्ञाता और भोक्ता है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के अनुसार वह व्यावहारिक दृष्टि से मात्र ज्ञाता है; परन्तु परमार्थत: वह ज्ञान है ज्ञाता भी नहीं है।

वैशेषिक में भी मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गयी है। इस तरह मोझ के प्रति तत्त्व-ज्ञान साक्षात् कारण "सन्निपत्योपकारक" है। वैशेषिक में भी तत्त्वज्ञान के द्वारा मोह का नाश होता है; मोह के न रहने पर वस्तु में राग या आसक्ति नहीं रहती तब प्रवृत्ति स्वत: बन्द हो जाती है।

परन्तु तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा के बिना जिज्ञासा नहीं होती।

तत्त्वज्ञान क्या है? वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अनुभव ही तत्त्वज्ञान है। और तत्त्वज्ञान से आत्मा के यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।

यद्यपि वैशेषिकों के सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सर्वमान्य नहीं है; परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान के समान वैशेषिक द्वारा भौतिक-विज्ञान के समान वैशेषिक द्वारा भौतिक जगत् की समीक्षा लौकिक दृष्टि से नितान्त उपादेय और ग्राह्य है। तत्त्व-प्रासाद की सीढ़ियों द्वारा ही हम अद्वैत तत्त्व को उपलब्ध कर सकते हैं।

बौद्ध-दर्शन के दृष्टि से प्रमाणों का प्रयोजन-ब्राह्मण दार्शनिकों की भाँति बुद्ध का भी यह प्रधान मत था कि बिना ज्ञान की प्राप्ति हुए निर्वाण की प्राप्ति असंभव है। ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:। अर्थात् अनर्थों की जड़ अविद्या है, और अविद्या को विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त होने पर ही दूर किया जा सकता है। विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति बौद्ध न्याय व्यवस्था अथवा प्रमाण व्यवस्था का ही फल है।

क्यों कि प्रमाण उसी अर्थ को प्रकाशित करता है जो कि अज्ञात है; और वह अपने स्थिति के विरूद्ध भी कभी नहीं जा सकता।

इतना होते हुए भी-जब कि न्याय-दर्शन प्रमाणों की अनिवार्यता का हिमायती है-वहीं पर माध्यमिक बौद्ध-प्रमाण, प्रमेय के अस्तित्व का ही अपलाप करता है। द्रष्टव्य है कि प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र में अपना-अपना विशेष स्थान रखने वाली दर्शन की इन दोनों विधाओं की प्रतिक्रियायें एक दूसरे के विरूद्ध हैं। जहाँ न्याय-दर्शन प्रमाणों की अनिवार्यता को स्वीकारकर तत्त्वविवेचन में उनको महत्त्वपूर्ण स्थान देता है; वहीं माध्यमिक बौद्ध न केवल प्रमाणों के अनिवार्यता को चुनौती देता है-अपितु तत्त्वज्ञान में प्रमाणों के उपयोग को भी नकार देता है।

जहाँ न्याय प्रमाणों के आधार पर ही प्रमेय की सिद्धि मानता है; वहीं माध्यमिक के कथनानुसार जब प्रमाणों का अस्तित्व ही नहीं है; तो उसके माध्यम से प्रमेयों की सिद्धि कैसे सम्भव हो सकता है? इनके मत से प्रमाण और प्रमेय दोनों ही सापेक्ष है; इसलिये कभी प्रमाण प्रमेय बन जाता है और कभीं प्रमेय प्रमाण बन जाता है।

इसलिये यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

प्रमाणों को न सत् माना जाय न असत्। क्यों कि यदि वह सत् है तो अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे-यदि घड़ा विद्यमान है; तो मिट्टी इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती। यदि वह असत् है; तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है-जैसे-शशक शृङ्ग का इस प्रकार प्रमाण को सत् असत् तथा दोनों धर्मों से विशिष्ट भी नहीं माना जा सकता;-क्यों कि-एक ही वस्तु विरूद्ध धर्मी नहीं हो सकता।

माध्यमिक बौद्धों के अतिरिक्त अन्य जितने भी भारतीय दर्शन हैं; सभी ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रमेय की सिद्धि के लिये प्रमाणों को ही स्वीकार किया है।

कुछ दार्शनिक परमतत्त्व को प्रमाण साध्य मानते हैं;-जैसा कि वस्तुवादी स्वीकार करते हैं। परन्तु वेदान्त परमतत्त्व को श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से गम्य नहीं मानता-उसका कहना है कि-अन्य प्रमाण परोक्ष रूप से उसमें सहायक हो सकते हैं; तथापि साक्षात् रूप से ब्रह्म-ज्ञान में साधक नहीं बन सकते।

प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों प्रमाणों का विषय एक दूसरे प्रमाण से जाना जा सकता है। अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है; उसका अनुमान के द्वारा भी ज्ञान होता है। और जिसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी हो सकता है।

परन्तु वेदान्त में जिसका ज्ञान श्रुति से होता है उसका ज्ञान अन्य प्रमाणों के द्वारा नहीं हो सकता। भारतीय-दर्शन में इस विषय का भी विचार किया गया है कि-एक प्रमाण से गम्य विषय प्रमाणान्तर से भी गम्य हो सकता है। इसे ही "प्रमाण-सम्प्लव" एवं "प्रमाण-विप्लव" भी कहते हैं।

जैन-दर्शन भी प्रमाण के प्रयोजन के सम्बन्ध में यह स्वीकार करता है कि-प्रमाण का सीधा सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से है। और तत्त्वज्ञान के आधार पर ही निःश्रेयस की प्राप्ति इस प्रकार सभी न्याय अपने अपने दृष्टिकोंण से प्रमाणों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि प्रमाणों का क्या प्रयोजन है? तथा इसकी प्रयोजकता कहाँ सिद्ध होती है? एवं प्रयोजन का तात्पर्य क्या है? अथवा प्रयोजन किसे कहते हैं?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है परन्तु एक प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि प्रयोजन किसे कहते हैं?

इसके सम्बन्ध में भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने निम्न वचन किया है; जो सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है—

"येन यत् प्रयुक्तम् प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते।"

प्रयोजन-तत्त्वतः ज्ञातव्य सोलह पदार्थों में "प्रयोजन" चौथा पदार्थ है। प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेन इति प्रयोजनम्-इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन का अर्थ है प्रवर्तक। जिसका लक्षण उपर निर्दिष्ट है।

अर्थात् जिससे प्रेरित होकर मनुष्य संसार के विभिन्न कर्मों में प्रवृत होता है; उसका नाम "प्रयोजन" है। वह है सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार। समस्त प्राणिवर्ग की प्रवृत्ति इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही होती है। इस महनीय पदार्थ का प्रभाव सारे संसार पर है।

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव यद्यपि वैशेषिक के द्रव्य आदि छः पदार्थों में ही हो जाता है; फिर भी विशेष प्रकार के प्रयोजन से उनका पृथक् प्रतिपादन किया है। यह उक्त भाष्य से ही प्रेरित जान पड़ता है। उक्त भाष्य के अनुसार इस कथन का भी यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि द्रव्य आदि छः पदार्थों में अन्तर्भाव होने के कारण प्रमाण आदि पदार्थों का प्रतिपादन यदि उन्हीं के अन्तर्गत किया जायेगा, तो न्याय-दर्शन वैशेषिक-दर्शन से भिन्न एक स्वतंत्र दर्शन न हो सकेगा। अतः उनके स्वतंत्र-दर्शनत्व के रक्षार्थ उसमें प्रमाण आदि पदार्थों का पृथक् प्रतिपादन किया गया।

अतः न्याय-विद्या को ही प्रमाण विद्या भी कहते हैं। इस विद्या के अध्ययन से पदार्थ की परीक्षा करने की प्रणाली का परिज्ञान होता है। मनुष्य प्रत्यक्ष अथवा शब्द से जिस वस्तु की जानकारी प्राप्त करता है; न्याय विद्या के सहारे वह उस वस्तु के यथातथ्य की परीक्षा कर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बन सकता है। और वह व्यावहारिक क्षेत्र में भी आ सकता है।

❖

चतुर्थ अध्याय

व्याप्ति का स्वरूप

न्याय-शास्त्र के वाङ्मय का विशेष रूप से अनुमान से सम्बद्ध भाग का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य है। अनुमान के बिना किसी प्रमाण या प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष जिसे सारे लोक में उच्चतम प्रमाण माना गया है; अनुमान के बिना उसके प्रमाणत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि न्याय-शास्त्र में घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रौत्र इन वाह्य इन्द्रियों तथा आन्तर इन्द्रिय मन को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। और यह सारी इन्द्रियाँ अतिन्द्रिय होने से अनुमान प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध होती हैं।

मीमांसकों ने वेद को ही सर्वश्रेष्ठ माना और उसके प्रामाणिकता में प्रत्यक्ष-प्रमाण का ही समर्थन किया। परन्तु अपने मान्यता के समर्थन में उन्हें भी अनुमान प्रमाण का ही सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि वेद एक शब्दराशि है; जिसमें शब्दों का उचित अर्थों के साथ शक्ति-ग्रह का होना भी आवश्यक है। तथा शक्ति-ग्रह के उपायों में व्यवहार का ही प्राधान्य है। जो अनुमान के माध्यम से ही शब्दार्थ के सम्बन्ध का ग्राहक होता है। इस प्रकार जगत का कोई भी व्यवहार अनुमान के अभाव में अस्तित्व में नहीं आ सकता। इस अनुमान का आधार व्यप्ति माना जाता है। अर्थात् साधन में यदि साध्य की व्याप्ति न हो तो साधन से साध्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। अतएव न्याय-शास्त्र के आचार्यों ने व्याप्ति का निर्वचन करके अपने बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन किया है। अतः व्याप्ति का वर्तमान रूप किस क्रम में अस्तित्व में आया इस पर ध्यान देना अत्यन्त ही आवश्यक होता है।

न्यायं-शास्त्र के इतिहास में गौतम का न्यायसूत्र आद्य-ग्रन्थ है अतः न्याय-सूत्र में व्याप्ति का क्या स्वरूप था इस पर दृष्टिपात् करना आवश्यक हो जाता है।

न्यायसूत्र में व्याप्ति की चर्चा कहीं नही की गयी है-अनुमान लक्षण-सूत्र में अनुमान को तत्पूर्वकम् कहा गया है परन्तु केवल तत्पूर्वक कह देने मात्र से ही यह ज्ञात नहीं हो सकता कि-अनुमान के पूर्व किस प्रकार के प्रत्यक्ष सूत्रकार को अभिमत है। तत्पश्चात् व्याख्या-ग्रन्थों में सर्वप्रथम न्याय के क्षेत्र में न्याय-भाष्य का नाम आता है।

न्याय- भाष्य में व्याप्ति–

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि-लिङ्ग लिङ्गी के जिस सम्बन्ध के दर्शन को अनुमान का पूर्वभागी माना गया है-वह लिङ्ग और लिङ्गी का साध्य-साधनभाव ही है। अत: यह सिद्ध होता है कि हेतुसाध्य का साध्य साधन भाव ही उदाहरण से बोध-व्याप्ति है।

परन्तु व्याप्ति पद का प्रयोग न होने से इस निष्कर्ष को पूरी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी।

इसके बाद न्याय-भाष्य का प्रामाणिक व्याख्या ग्रन्थ उद्योतकर भारद्वाज का न्याय-वार्तिक है; जिसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि-सर्वप्रथम लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। बाद में पक्ष में लिङ्ग का दूसरा प्रत्यक्ष होता है। इससे पूर्व प्रत्यक्ष-जन्य-संस्कार का उद्‌बोध होने पर पूर्वदृष्ट लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति होकर पक्ष में जो पुन: लिङ्ग दर्शन होता है वही अनुमान है। उसी से पक्ष में लिङ्गी साध्य की अनुमिति होती है। यह कथन अनुमान के उस प्रक्रिया को ही प्रस्तुत करता है जो मान्य है। परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं हो पाता कि-लिङ्ग लिङ्गी का वह कौन सा सम्बन्ध है; जिसका दर्शन अनुमान के लिये सर्वप्रथम अपेक्षित है। अत: इस ग्रन्थ में भी साध्य-साधन भाव से भिन्न लिङ्ग लिङ्गी का कोई सम्बन्ध विदित नहीं होता।

तात्पर्य-टीका में व्याप्ति का स्वरूप–

न्याय-सूत्र के व्याख्या-ग्रन्थों की परम्परा में वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है-इस ग्रन्थ का अवलोकन करने पर जब हम व्याप्ति की खोज करते हैं; तो लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का एक स्वरूप सम्मुखीन होता है। वह है-लिङ्ग लिङ्गी का अनुमानङ्क सम्बन्ध बौद्धों ने लिङ्ग-लिङ्गी के उस अविनाभाव सम्बन्ध को

प्रतिबन्ध-व्याप्ति माना है;-जो तादात्म्य तथा तदुपत्ति से निर्धारित होता है। इस सम्बन्ध में बौद्धों की यह कारिका प्रसिद्ध है:—

"कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न दर्शनात्।।"

इसका अर्थ है लिङ्ग में लिंङ्गी का अविनाभाव दो नियामकों से सिद्ध होता है। १-तादात्म्य २-तदुत्पत्ति। अर्थात्-प्रथम को १-स्वभाव तथा दूसरे को (२) कार्य-कारण भाव रूप स्वीकार करते हैं।

स्वभाव का अर्थ है-तादात्म्य-इससे भी अविनाभाव की सिद्धि होती है। जैसे-शिंशपा-शीशम नाम के वृक्ष विशेष से वृक्ष का तादात्म्य होने से-शिंशपा में वृक्ष के अविनाभाव की सिद्धि होती है।

कारिका के चौथे चरण में कहा गया है कि-लिङ्गी के अभाव के साथ लिङ्ग के अदर्शन और लिङ्गी के सत्त्वलिङ्ग-के दर्शन में अविनाभाव का नियम नहीं होता।

तात्पर्य टीका में इस मत का खण्डन यह कह कर किया गया है कि रस रूप में कार्य-कारण भाव और तादात्म्य न होने पर भी रस से रूपानुमान होता है-अत: रस में रुप का अविनाभाव मानना होगा। किन्तु यह कार्य कारण भाव एवं तादात्म्य से सम्बन्ध नहीं हैं: क्योकि रस में रूप न तो कार्य-कारण भाव है; न तो तादात्म्य। अत: यही मानना होगा कि-रस के दर्शन से ही रूप के अविनाभाव की उपपत्ति होती है।

वार्तिक में अनुमान के एक ऐसे लक्षण की आलोचना की गयी है-जिससे लिङ्ग लिङ्गी के अनुमानाङ्ग भूत एक सम्बन्ध की सूचना मिलती है;-वह लक्षण है-"नान्तरीयकार्यदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"। इस लक्षण में नान्तरीयक अर्थ के दर्शन को अनुमान कहा गया है। वार्तिककार ने नान्तरीयकार्थ की इस प्रकार व्याख्या की है कि-"योऽर्थो यमर्थमन्तरेण न भवति स नान्तरीयक; नान्तरीयकश्चासावर्थश्चेति नान्तरीयकार्थ:"-जो अर्थ जिसके बिना नहीं होता; वह उसका नान्तरीयक होता है। जैसे-धूम वह्नि के बिना न होने से वह्नि का नान्तरीयक होता है। उसके दर्शन में वह्नि की अनुमिति होती है। इस लक्षण के अनुसार लिङ्ग के साथ लिङ्गी का नान्तरीयक सम्बन्ध है जो अविनाभाव जैसा हैं।

वार्तिक में अनुमान के एक और लक्षण की समीक्षा की गयी है-

जिससे लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध के विषय में सङ्केत मिलता है। वह लक्षण है-"अनुमेयेऽर्थ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तितताऽसति" जिसका अनुमेय पक्ष और तत्सदृश दृष्टान्त में सद्भाव तथा साध्य के असत् होने पर जिसकी नास्तिता-असद्भाव हो वह अनुमान है। इस लक्षण में अनुमान-अनुमिति हेतु में पक्ष-सत्व, सपक्ष-सत्व, विपक्षासत्व इन तीन रूपों का होना आवश्यक प्रतीत होता है।

लक्षण के इस व्याख्या के अनुसार-लिङ्ग में लिङ्गी के समानाधिकरण्य और अभाव के समानाधिकरण रूप सम्बन्ध की प्रतीति होती है।

तात्पर्य टीका में वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत लिङ्ग-लिङ्गी के चार सम्बन्धों और सांख्यों द्वारा उक्त सात सम्बन्धों की आलोचना की गयी है। वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत चार सम्बन्धों की चर्चा इस प्रकार है:

"अस्येदं कार्यं कारणम्, सम्बन्धि-एकार्थसमवायिविरोधिचेति लैङ्गिकम्" कार्य कारणभाव, सम्बन्ध एक अर्थ में समवेतत्व और विरोध-इन सम्बन्धों से लैङ्गिक अनुमान की निष्पत्ति होती है।

परन्तु इसे भी इस आधार पर खण्डित किया गया कि-'सम्बन्धि' पद से ही अन्य सभी सम्बन्धों का लाभ हो जाने पर उनको पृथक् शब्दों के द्वारा प्रस्तुत कर उनके आधार पर अनुमान का लक्षण बनाना असङ्गत है।

क्यों कि लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध की इदमित्थं रूप से खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आशय यह है कि सम्बन्ध चाहे जैसा हो; परन्तु वह उपाधिकृत न हो; वरन स्वाभाविक और नियत हो।

जैसे-अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक है; धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है क्यों कि-अग्नि के बिना धूम की उत्पत्ति नहीं होती; परन्तु धूम के बिना अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है।

परन्तु यदि इन्धन में आर्द्रता रहती है तो वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध हो जाता है। अतः धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध उपाधिकृत है; स्वाभाविक नहीं है।

लेकिन अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध स्वीकार करने पर कोई उपाधि उपलब्ध नहीं होगी। अप्रत्यक्ष उपाधि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। क्यों कि कहीं भी धूम में वह्नि का व्यभिचार नहीं देखा जाता;

इसलिये लिङ्ग-लिङ्गी का नियत सम्बन्ध ही अनुमानाङ्ग है। इसका तात्पर्य यह है कि-"हेतु अपने साध्य से स्वभावतः प्रतिबद्ध होते हैं-यदि वे साध्य के बिना भी रहने लगे तो अपने स्वभाव से च्युत हो जायेंगे।

यहाँ हेतु को साध्य से स्वभावतः प्रतिबद्ध कहकर हेतु साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध की "प्रतिबन्ध" संज्ञा का संङ्केत किया गया है।

परिशुद्धि—

वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका के उपर प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने व्याख्या ग्रन्थ लिखी है-इस ग्रन्थ में वह्नि धूम के अनुमानाङ्ग सम्बन्ध को अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्याप्ति अव्यभिचार, प्रतिबन्ध आदि शब्दों से व्यवहित किया गया है। जैसे-अनुमान लक्षण के प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष-द्वय-पूर्वक ज्ञान के निरूपण के प्रसङ्ग में कहा गया है—

"न हि व्याप्तिस्मरणमात्रादनुमितिः; नापि लिङ्गदर्शनमात्रात्। किन्तर्हि? व्याप्तिविशिष्टलिङ्गदर्शनात्।"

अर्थात् व्याप्ति के स्मरणमात्र से; अथवा पक्ष में हेतु के दर्शन मात्र सें अनुमिति नहीं होती; किन्तु पक्ष में व्याप्ति विशिष्ट हेतु से अथवा व्याप्ति विशिष्ट हेतु के दर्शन मात्र से अनुमिति होती है।

अतः धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है; औपाधिक नहीं। क्योंकि-सोपाधि में व्यभिचार आवश्यक है; और धूम में कोई उपाधि नहीं है-अतः उसमें वह्नि का अव्यभिचार है; यह बताते हुए कहा गया है-"**उपाधाववश्यं व्यभिचारोऽनुपाधाववश्यम् व्यभिचारः; व्यभिचारोऽवश्यमुपाधिः; अव्यभिचारोऽवश्यमुपाधिभावः**"।

अर्थात्-उपाधि होने पर व्यभिचार अवश्य होता है, उपाधि न होने पर अव्यभिचार अवश्य होता है।

अतः यहाँ लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध को निरुपाधि बताते हुए स्पष्ट रूप से उसे अव्यभिचार की संज्ञा दी गयी है।

अतः व्यभिचार ही प्रतिबन्ध का अभाव है; उपाधि से ही व्यभिचार की शङ्का होती है। ऐसा कह कर व्यभिचारात्मक अभाव के प्रतियोगी लिङ्ग लिङ्गी के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध का "प्रतिबन्ध" शब्द से उल्लेख किया गया है।

कुछ और आगे चलने पर यह देखा जाता है कि-"पक्षधर्मता हि व्याप्त्या सह प्रतिसंहिता अनुमानोपयोगिनी" अर्थात् पक्ष के साथ हेतु का सम्बन्ध व्याप्ति के साथ ज्ञात होने पर अनुमान में उपयोगी होता है। इसे स्वीकार करते हुए असंदिग्ध रूप में हेतु-साध्य के अनुमानाङ्ग सम्बन्ध को व्याप्ति बताया गया है।

क्रमवार गङ्गेशोपाध्याय कृत बारहवीं शताब्दी में लिखित "तत्त्वचिन्तामणि" ग्रन्थ पर ध्यान देनें पर यह ज्ञात होता है कि इस समय तक लिङ्ग शब्द के लिये हेतु एवं लिङ्गी के लिये साध्य शब्द प्रयुक्त होते थे; तथा उन दोनों के (अनुमानाङ्ग सम्बन्ध) को व्याप्ति शब्द का प्रयोग प्रचलित था। तथा इस समय प्रतिबन्ध, अविनाभाव आदि शब्दों की महिमा गिर चुकी थी।

अत: व्याप्ति शब्द का स्पष्ट उल्लेख गङ्गेशो-पाध्याय कृत बारहवीं शताब्दी में लिखी गयी तत्त्वचिन्तामणि के द्वारा प्रस्तुत होता है।

तत्त्वचिन्तामणि में ही सर्वप्रथम व्याप्ति का लक्षण बताते हुए अनुमान का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

अर्थात्-व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान-पक्ष के साथ साध्य-निरूपति व्याप्ति से विशिष्ट हेतु सम्बन्ध ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है; तथा अनुमिति का करण ही अनुमान है।

अब प्रश्न यह उठता है कि-अनुमिति के हेतुभूत व्याप्ति-ज्ञान का विषयभूत व्याप्ति क्या है?

इसके लिये तत्त्वचिन्तामणिकार ने व्याप्ति के अनेक लक्षणों को प्रस्तुत किया है—

जिसमें प्रथम है-१. **"साध्याभाववदवृत्तित्वम्"**-अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में आवृत्ति होना-न रहना-साध्याभावाधिकरणवृत्तित्वाभाव: जब धूम हेतु में अग्नि का अनुमान किया जाता है; तब साध्य होता है अग्नि उसके अभाव अधिकरण होता है जलाशय आदि। उसमें धूम का वृत्तित्वाभाव है; अर्थात् धूम नहीं रहता।

अत: धूम में साध्याभाववद्वृत्तित्व होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

२-''साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वम्''

साध्यवान् में भिन्न साध्याभाव के अधिकरण में आवृत्ति होना, अथवा साध्यवान् से भिन्न में रहने वाले साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ति होना।

इसका तात्पर्य यह है कि-एतद्वृक्षत्व में कपिसंयोग की व्याप्ति उपपन्न हो जाती है। यहाँ पर कपिसंयोग साध्य होता है। उसके अभाव के अधिकरण दो प्रकार के हैं-एक ऐसा अधिकरण जहाँ कपिसंयोग भाव के साथ-कपिसंयोग भी रहता है; जैसे एतद्वृक्ष में उसकी शाखा के माध्यम से कपिसंयोग और मूल के माध्यम से कपिसंयोग का अभाव।

दूसरा कपिसंयोगाभाव का वह अधिकरण जहाँ कपि संयोग नहीं रहता; जैसे-गुण कर्म आदि। इन दोनों अधिकरणों में साध्यवान्-कपिसंयोगवान् से भिन्न साध्याभाव-कपिसंयोगाभाव का अधिकरण एतद्वृक्ष नहीं; किन्तु गुण कर्म आदि ही हैं। उसमें अवृत्ति होने से एतद्वृक्षत्व कपिसंयोग का व्याप्य है।

३-''साध्यवत्प्रतियोगिकान्योऽन्याभावासामानाधिकरण्यम्''-

साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्-इसका तात्पर्य है-साध्यवद्भेद के सामानाधिकरण्य का अभाव-साध्यवद्भेदाधिकरण में अवृत्तित्व।

अर्थात् धूम में साध्यवद्भेद-वह्निमद्भेद का सामानाधिकरण्य एकाधिकरणवृत्तित्व नहीं है। दोनों भिन्न अधिकरणों में रहते हैं। वह्निमद्भेद के अधिकरण जलाशय आदि में धूम नहीं रहता। अत: साध्यवद्भेद का असामानाधिकरण्य साध्यवद्भेद के अधिकरण में अवृत्ति होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

४-''सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्''-

अर्थात् सम्पूर्ण साध्य के अभाव वाला-अथवा साध्याभाव के सब अधिकरणों में रहने वाले अभाव की प्रतियोगी होना।

साध्याभाव का तात्पर्य है कि साध्य अग्नि का अभाव जिन जिन अधिकरणों में पाया जाता है। वहाँ वहाँ धूम का अभाव रहता है। अत: सम्पूर्ण साध्याभाव के अधिकरणों में रहने वाले, अभाव का प्रतियोगी होने से धूम अग्नि का व्याप्य है।

५-साध्यवदन्यावृत्तित्वम्-

साध्यवत् से भिन्न में अवृत्तित्व-साध्यवत्- वह्नि मत् से भिन्न जलाशय आदि में अवृत्ति होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

गङ्गेश उपाध्याय जी ने अपने तत्त्व चिन्तामणि में इन पाँचों को अस्वीकृत किया है। क्यों कि इनमें किसी में साध्याभाव और किसी में साध्यवद्भेद का प्रवेश है। अतः यदि इनको व्याप्ति माना जाय तो कोई भी पदार्थ केवलान्वयी पदार्थ का व्याप्य न हो सकेगा।

जैसे-"इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्" यह वाच्य है; क्यों कि ज्ञेय है। इस प्रकार के साधु अनुमान-प्रयोग के लिये ज्ञेयत्व में वाच्यत्व की व्याप्ति अपेक्षित है। क्यों कि सम्पूर्ण जगत् ही वाच्य है-अतः वाच्यत्व केवलान्वयी है-सर्वत्र ही उसका अन्वय होगा। अभाव कभी नहीं होगा। क्योंकि-वाच्य से भिन्न कुछ होता नहीं।

किन्तु जब व्याप्ति साध्याभाव या साध्यवद्भेद से घटित होगी तो ज्ञेयत्व में वाच्यत्व की व्याप्ति न हो सकेगी। अतः कोई आश्रय न होने से साध्य-वाच्यत्व का अभाव तथा साध्यवत्-वाच्य का भेद अप्रसिद्ध है; तो फिर ऐसे स्थलों में जहाँ साध्याभाव एवं साध्यवद्भेद ही नहीं हैं; तो उससे घटित व्याप्ति के बनने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अतः पाँचों लक्षणों को अस्वीकार करते हुए तत्वचिन्तामणिकार ने अव्यभिचरितत्व के दो और लक्षणों की समीक्षा की है। जिन्हें सिंह और व्याघ्र उपनाम के विद्वानों द्वारा उद्भावित होने से सिंह-व्याघ्र लक्षण कहा जाता है। वे लक्षण इस प्रकार हैं।

(१) "साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वम्"

साध्य के असामानाधिकरण्य का अधिकरण न होना।

धूम में अग्नि का कहीं भी असामानाधिकरण्य नहीं है। ऐसा कोई स्थल नहीं है; जहाँ धूम हो और वह्नि न हो जिससे वह्नि धूम का असमानाधिकरण्य हो सके। अतः वह्नि के असमानाधिकरण्य का अधिकरण न होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

(२) साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्-

इसका अर्थ है-विभिन्नाधिकरणत्व का अधिकरण न होना-अर्थात्-ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ पर अग्नि हो परन्तु धूम न हो-अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

परन्तु तत्त्वचिन्तामणिकार ने इन दोनों लक्षणों को निकृष्ट रूप में प्रवृष्ट साध्यानाधिकरण शब्द का अर्थ साध्य के यत्किञ्चित् अधिकरण से भिन्न किया जायेगा तो व्याप्ति न हो सकेगी ऐसा कहा है।

व्याप्ति के प्रसङ्ग में उहापोह की स्थिति को देखते हुए दीधितिकार रघुनाथ ने ऐसे (१४) व्याप्ति के लक्षणों का उल्लेख किया है जो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव की मान्यता पर आधारित है। उनमें आद्य के दो (स्वोपज्ञ) हैं; और दूसरे (१२) अन्यान्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं

१-"यत्समानाधिकरणाः साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकप्रतियोगिताका यावन्तोऽभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम्"

यत्समानाधिकरण का अर्थ है-हेतु-सामानाधिकरण-हेतु के अधिकरण में वृत्ति; अतः पूरे लक्षण का तात्पर्य यह है कि-हेतु-सामानाधिकरण जितने अभावों की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदका-वच्छिन्न-साध्य की व्यापकता का अवच्छेदक हो; वे सभी अभाव यदि अपने प्रतियोगी के अभाव के अधिकरण में रहते हो तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्"

इस स्थल में धूम हेतु है-उसके अधिकरण पर्वत आदि में रहने वाले "घटत्वेन वह्न्यभाव; पटत्वेन वह्न्यभाव" आदि अभावों की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्य के व्यापकता अभावों के प्रतियोगी अग्नि का अभाव न होने से उन अभावों का प्रतियोगी व्यापक है। और प्रतियोगी में विद्यमान साध्य व्यापकता का उन अभावों का प्रतियोगित्व अवच्छेदक है; और वे सभी प्रतियोगी वह्नि के अधिकरण में विद्यमान हैं। अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः"

इस स्थल में "अग्नि" हेतु है; उसके अधिकरण जलते हुए लोहे में विद्यमान अयोगोलकभेदाभाव का अयोगोलक भेदनिष्ठ प्रतियोगित्व धूमत्वावच्छिन्न धूम की व्यापकता का अवच्छेदक है; क्योंकि धूम के अधिकरण में कहीं भी अयोगोलकभेदाभाव के प्रतियोगी अयोगोलक भेद का अभाव नहीं है। किन्तु यह अभाव अपने प्रतियोगी अयोगोलक भेद के अधिकरण में नहीं रहता।

अतः हेतु समानाधिकरण जिसके अभाव का प्रतियोगित्व साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न की व्यापकता का अवच्छेदक हो उन सभी अभावों के स्व-प्रतियोगी का समानाधिकरण न होने से अग्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

इस स्थल में ज्ञेयत्व के समानाधिकरण "समवायितया वाच्यत्वं नास्ति" "घटत्वादिना वाच्यत्वं नास्ति" इत्यादि प्रतीतियों से सिद्ध अभावों का वाच्यत्वनिष्ठ-प्रतियोगित्व वाच्यत्वत्वावच्छिन्न-वाच्यत्व की व्यापकता का अवच्छेदक है; क्योंकि-किसी वाच्यत्वाधिकरण में उन अभावों के प्रतियोगी का अभाव न होने से उन अभावों का प्रतियोगी व्यापक है। और प्रतियोगित्व साध्यव्यापकता का अवच्छेदक है; और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगी वाच्यत्व के अधिकरण में रहते हैं; अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(२) "यत्समानाधिकरणानां साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां यावतामभावानां प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं तत्त्वम्"।

हेतुसमानाधिकरण जितने अभावों की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्य की व्यापकता के अवच्छेदक रूप से अवच्छिन्न हो वे सभी अभाव यदि अपने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण में रहते हों तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्"

इस स्थल में धूम के समानाधिकरण "वह्नित्वेन घटाभाव" "वह्नित्वेन पटाभाव" आदि अभावों की प्रतियोगिता वह्नित्वावाच्छिन्न-वह्नि के व्यापकता-वच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न है; और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्वावच्छिन्न के अधिकरण महानस आदि में विद्यमान हैं; अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

यहाँ पर ज्ञेयत्व हेतु के समानाधिकरण "ज्ञेयत्वत्वेन वाच्यत्वाभाव" "वाच्यत्ववेन ज्ञेयत्वाभाव आदि अभावों की प्रतियोगिता वाच्यत्वत्वावच्छिन्ना-वाच्यत्व के व्यापकतावच्छेदकवाच्यत्वत्व ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न है;

और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्वत्व ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व, ज्ञेयत्व के अधिकरण में रहते हैं अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

दीधितिकार ने अपने इन दो लक्षणों को प्रस्तुत करने के बाद चक्रवर्ती के तीन लक्षणों को उद्धृत किया है; जैसे—

१- ''व्याप्यवृत्तिहेतुसमानाधिकरणसाध्याभावप्रतियोगिताया अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्''।

व्याप्य-वृत्ति–

देश कालरूप अवच्छेदक के बिना रहने वाले हेतु समानाधिकरण-हेतु के अधिकरण में रहने वाले साध्यभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

''वाच्यं-ज्ञेयत्वात्''

इस स्थल में व्याप्य-वृत्ति से हेतुसामानाधिकरण साध्याभाव है-घटत्वादिना वाच्यत्व का अभाव उसके प्रतियोगिता का अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक है वाच्यत्वत्व; उससे अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण घट आदि में रहने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का समानाधिकरण होने के कारण ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(२) ''व्याप्यवृत्तिहेतुसमानाधिकरणाभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येन अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्''।

हेतु समानाधिकरण व्याप्य-वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता के समानाधिकरण्येन अवच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्'' इस स्थल में हेतुसमानाधिकरण व्याप्य-वृत्ति अभाव शब्द से वाच्यत्वाभाव को नहीं लिया जा सकता; क्योंकि वाच्यत्व के केवलान्वयी होने से वह कहीं प्रसिद्ध नहीं है। वाच्यत्वत्वेन घट आदि के अभाव को भी नहीं लिया जा सकता; क्योंकि उसकी प्रतियोगिता का समानाधिकरण अवच्छेदक अप्रसिद्ध है।

अतः हेतु समानाधिकरण व्याप्य वृत्ति अभाव के रूप में घटादि का अभाव भी लिया जा सकेगा। उसकी प्रतियोगिता का अवच्छेदक

घटत्व आदि से साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व भिन्न है; ज्ञेयत्व उससे अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में रहने से वाच्यत्व का व्याप्य हैं।

३-''हेतुसमानाधिकरणप्रतियोगिव्याधिकरणाभावप्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येन अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्न-सामानाधिकरण्यम्''

अर्थात्-हेतु के अधिकरण में विद्यमान अपने प्रतियोगी के व्यधिकरण अभाव की प्रतियोगिता के समानाधिकरण अवच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

इस स्थल में हेतु के अधिकरण में विद्यमान प्रतियोगी का व्यधिकरण अभाव वाच्यत्वाभाव या वाच्यत्वत्वेन घटादि का अभाव नहीं होगा; क्योंकि वाच्यत्वाभाव कहीं प्रसिद्ध नहीं है, और वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव की प्रतियोगिता का समानाधिकरण अवच्छेदक अप्रसिद्ध है।

अतः हेतुसमानाधिकरण प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव घटादि का अभाव ही होगा; उसकी प्रतियोगिता के समानाधिकरण अवच्छेदक घटत्व आदि से भिन्न साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वंत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में रहने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

चक्रवर्ती के लक्षणों को प्रस्तुत करने के पश्चात् दीधितिकार ने प्रगल्भ के तीन लक्षणों को प्रस्तुत किया है। जो निम्नलिखित हैं—

१-''साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसमानाधिकरण्यावच्छेदक-स्वसमानाधिकरणसाध्यभावकत्वम्''।

इस पूरे लक्षण का मन्तव्य है-हेतु के अधिकरण में वृत्ति-अर्थात्-यदि सभी साध्यभाव साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न साध्य के अधिकरण में विद्यमान हों, तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है। क्यों कि-''स्वसमानाधिकरण'' का अर्थ होता है-''हेतुसमानाधिकरण''।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

यहाँ पर ज्ञेयत्व हेतु के अधिकरण घट आदि में वृत्ति वाच्यत्वत्वेन घटाभाव आदि सभी साध्यभाव साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में वृत्ति होने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

२-''यत्समानाधिकरणसाध्याभावप्रमायां साध्यवत्ताज्ञानप्रतिवन्धकत्वं नास्ति तत्त्वम्''।

इस लक्षण का तात्पर्य है कि-हेतुमान में साध्याभाव की जितनी प्रमा हो; उन सब में यदि साध्य प्रकारक ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अभाव हो; तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

क्योंकि-यत्समानाधिकरण का अर्थ होता है-हेतु समानाधिकरण-यह प्रमा का विशेषण है। जिसका अभिष्ट अर्थ होता है-हेतुमद्‌विशेष्यक।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

इस लक्षण के अनुसार ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है। क्योंकि-इस स्थल में हेतुमान घटादि में वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव रूप साध्याभाव की जितनी प्रमा है; उन सभी में ''वाच्यत्ववान् घटादिः'' इस साध्यप्रकारक ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अभाव है;-क्यों कि वाच्यत्व के साथ वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव का कोई विरोध नहीं है।

३-''साध्याभाववति यद्‌वृत्तौ प्रकृतानुमितिविरोधित्वं नास्तितत्त्वम्''।

अर्थात् हेतु में जितनी साध्याभावन्निरूपित वृत्तिता हो उस सभी में प्रकृत अनुमिति के विरोधित्व का अभाव हो तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

क्योंकि-यद्-वृत्ति शब्द का अर्थ है-हेतुनिष्ठवृत्तित्वसामान्य। वृत्तित्व में साध्याभाववति शब्द के अर्थ-साध्याभावन्नि रूपित्व का अन्वय है।

अतः हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

इसका आशय यह है कि-हेतु में साध्याभाववन्निरूपित वृत्तित्व हेतुगत साध्य का व्यभिचार है।

व्यभिचार ज्ञान अनुमिति के जनक व्याप्य ज्ञान विरोधी होने से प्रकृति अनुमिति का विरोधी होता है।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

यहाँ पर साध्य-सामान्याभाव के अप्रसिद्ध होने से हेतुनिष्ठ-साध्याभाववन्निरूपित वृत्तित्व के रूप में साध्यसामान्यभाववन्निरूपित वृत्तित्व न मिलकर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-साध्याभाव-वन्निरूपित-वृत्तित्व मिलेगा; जो व्यभिचार रूप न होने से व्याप्ति ज्ञान

के प्रतिबन्धक ज्ञान का विषय न होने से प्रकृतानुमिति का विरोधी नहीं है।

अतः ज्ञेयत्वनिष्ठ साध्याभाववन्निरूपित-वृत्तित्व-सामान्य में प्रकृतानुमिति के विरोधित्व का अभाव होने से प्रकृत लक्षण के अनुसार ज्ञेयत्व में साध्य की व्याप्ति सुघट है।

प्रगल्भ के उक्त लक्षणों की प्रस्तुति के बाद मिश्र के तीन लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। जो इस प्रकार हैं—

१-"यावन्तः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीया ये तत्तदधिकरणवृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं तत्त्वम्"।

जितने साध्याभाव-साध्यव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव हों; उनमें प्रत्येक तत्तद् अभाव के सजातीय तत्तदभावाधिकरण-निरूपित-वृत्तित्वाभाव का आश्रय होना व्याप्ति है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

इस स्थल में जितने साध्याभाव संभव है; उनमें अप्रसिद्ध होने के कारण वाच्यत्वाभाव नहीं लिया जा सकता किन्तु वाच्यत्वेन घट आदि का अभाव ही लिया जायेगा-यह अभाव (व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव है।

अतः इसका सजातीय वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व का व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही होगा; और वह ज्ञेयत्व हेतु में रहता है। अतः ज्ञेयत्व में उक्त व्याप्ति का समन्वय सुकर है।

"धूमवान् वह्नेः"

यहाँ पर सम्भावित साध्याभावों में धूम सामान्याभाव और अयोगोलक भेदाभाव भी आयेगा। वह समानाधिकरण धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक है; उसका सजातीय उसके अधिकरण से निरूपित वृत्तिता का समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव ही होगा; जैसे-धूमाभावाधिकरणवृत्तित्वसामान्याभाव, अयोगोलक भेदाभावाधिकरण-वृत्तित्व-सामान्याभाव। यह अभाव वह्नि में नहीं है; अतः वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं होगी।

२-"यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तेषां सजातीयस्य

व्यापकीभूतस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितावच्छेदको धर्मो यद्रूपावच्छिन्नस्य व्यापकताया अवच्छेदकस्तद्रूपवत्त्वं तत्त्वम्''।

साध्याभाव-साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव जितने हों; उनमें प्रत्येक वा प्रतियोगितावच्छेदक धर्म यद्रूपावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक हो, तद्रूप का आश्रय होना।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

इस स्थल में साध्याभाव है ''वाच्यत्वेन घटाभाव ''वाच्यत्वत्वेन पटाभाव'' आदि। उनमें प्रत्येक वा प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्वत्व हेतुतावच्छेदक ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न ज्ञेयत्व का व्यापकतावच्छेदक है।

अतः ज्ञेयत्वत्व का आश्रय ज्ञेयत्व, वाच्यत्व का व्याप्य है।

''धूमवान् वह्नेः''

यहाँ पर धूमाभाव भी साध्याभाव है-उसका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म धूमत्व वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का व्यापकतावच्छेदक नहीं है; अतः वह्नित्व का आश्रय वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

१-''वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभाववद्वृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः''।

अर्थात्-साध्याभावधिकरण-निरूपति हेतुतावच्छेदक सम्बन्धा वच्छिन्न-वृत्तिता के जितने अभाव हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से वृत्तिमान में रहते हो; उन सभी का आश्रय होना व्याप्ति है।

''वाच्यं ज्ञेयत्वात्''

इस स्थल में हेतु है ज्ञेयत्व-हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध है-स्वरूप साध्याभाव है-वाच्यत्वत्वेन घटादि का अभाव-इसके अनुसार हेतुतावच्छेदक-स्वरूप सम्बन्ध से रहने वाला वाच्यत्व आदि में विद्यमान साध्याभावाधिकरण निरूपित-हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभाव है-वाच्यत्वत्वेन घटाभावाधिकरण निरूपित स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तित्वाभाव है-वाच्यत्वत्वेन घटाभावाधिकरण-निरूपित-स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता का घटत्वादि रूप से अभाव-वह ज्ञेयत्व में है।

अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

''धूमवान् वह्नेः''

यहाँ पर हेतुतावच्छेदक-संयोग सम्बन्ध से रहने वाले धूम में वृत्ति

साध्याभावाधिकरण निरूपित संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभाव है धूमाभावाधिकरण निरूपित-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता का सामान्याभाव-वह वह्नि में नहीं है; क्यों कि-उसमें धूमाभावाधिकरण तप्त अयः पिण्ड निरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता है; अतः वह वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

(२) "वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभावसमुदायाधिकरण वृत्तित्वा-भावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः"।

अर्थात् साध्याभाव समुदाय के अधिकरण से निरूपित वृत्तिता के जितने अभाव हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से वृत्तिमान् में वृत्ति हों; उन सबका आश्रय होना व्याप्ति है।

साध्याभाव का अर्थ है-"साध्यतावच्छेदक समनियत प्रतियोगिताक" अभाव।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

अर्थात्-हेतुतावच्छेदक-स्वरूप सम्बन्ध से वृत्तिमान् वाच्यत्व आदि में वृत्ति-साध्याभावसमुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव के मध्य घटत्वादि-रूप से वाच्यत्व के अभाव समुदाय के अधिकरण घटादि से निरूपित वृत्तिता का सामान्याभाव नहीं आता; क्योंकि घटत्वादिना वाच्यत्वाभाव-समुदाय के अधिकरण की वृत्तिता ही सभी वृत्तिमान् में विद्यमान है; किन्तु घटत्वादिना वाच्यत्वाभाव-समुदाय के अधिकरण से निरूपित वृत्तिता का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव ही वृत्तिमद्वृत्ति साध्याभाव-समुदायाधिकरण वृत्तित्वाभाव के मध्य में आता है।

अतः इसका आश्रय होने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः"

इस स्थल में वृत्तिमान् में वृत्ति साध्याभाव समुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव के मध्य धूमसामान्याभावाधिकरण-वृत्तित्व-सामान्याभाव भी आता है।

अतः अग्नि में उसके न होने से अग्नि धूम का व्याप्य नहीं होता।

(३) "साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्न प्रतियोगिताकव्याप्यवृत्तिस्वसमानाधिकरणयावदभावाधिकरणवृत्तित्वाभावा यावन्तो वृत्तिमद्वृत्तियस्तद्वत्त्वं व्याप्तिः।"

यहाँ स्वसमानाधिकरण का अर्थ है; हेतु समानाधिकरण; इसलिये पूरे लक्षण का स्वरूप है-

साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न के व्यापकतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक जितने अभाव हेतुसमानाधिकरण और व्याप्य वृत्ति हो; उन सभी अभावों के अधिकरण की वृत्तिता के जितने अभाव वृत्तिमान् में वृत्ति हों; उन सभी का आश्रय होना व्याप्ति है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

यहाँ पर हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपक अभाव के मध्य में "वाच्यत्वत्वेन घटाभाव" "वाच्यत्वत्वेन पटाभाव" आदि जितने अभाव आते हैं; उन सभी के अधिकरण घटादिनिरूपितवृत्तिता के वृत्तिमद्वृत्ति अभावों में "वाच्यत्वत्वेन घटाभावदि के अधिकरण घटादि निरूपित-वृत्तिता का सामान्याभाव नहीं आ सकता; क्योंकि सभी वृत्तिमान् में वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण-वृत्तिता के रहने से उसका सामान्याभाव वृत्तिमान् में वृत्ति नहीं होती; किन्तु उक्त वृत्तित्वाभाव के मध्य में वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण-निरूपित वृत्तिता का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्ना भाव ही आता है; ज्ञेयत्व उसका आश्रय होने से वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः"

इस स्थल से हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति साध्य व्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव के मध्य में धूम सामान्याभाव भी आता हैं। अतः धूमाभावाधिकरण ही हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति यावत्साध्याभाव का अधिकरण होता है। परिणाम यह होता है; तन्निरूपित वृत्तिता का सामान्याभाव भी वृत्तिमान धूम आदि में वृत्ति होने से उक्त वृत्तित्वाभाव के मध्य में आता है। उसका आश्रय न होने से अग्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

परन्तु इसे अस्वीकार करते हुए तत्त्व-चिन्तामणिकार ने कहा कि-जब व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न व्याप्ति ही अप्रामाणिक है तो उसके आधार पर जो व्याप्ति का लक्षण दिया गया है; वह भी अप्रामाणिक है।

अतः व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न जितनी भी व्याप्तियाँ दीधितिकार अथवा अन्यों द्वारा दी गयी हैं; सब अप्रामाणिक हैं।

परन्तु इसे उल्लिखित करने का अभिप्राय यह है कि-किसी चीज को खण्डित करके ही हम उसे मण्डितकर एक सिद्धान्त रूप दे सकते हैं। अच्छाइयों को लाने के लिये बुराइयों पर दृष्टिपात अथवा यों कहिये कि प्रकाश की आवश्यकता अन्धकार आने पर ही होता है। यही कारण है व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न व्याप्ति पर पहले दृष्टिपात किया गया है। क्योंकि-साधक-प्रमाणभूत-प्रतीति के अभाव में व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव अप्रसिद्ध होता है। जिसे निम्न रूप में हम जान सकते हैं—

"गवि शशश्रृङ्गं नास्ति"

यह किसी को मान्य नहीं हो सकता-क्योंकि-गो में शशिवृत्तित्व रूप प्रतियोगिता के व्यधिकरण धर्म से श्रृङ्ग का अभाव नहीं मान्य होता है।

बल्कि "शशश्रृङ्गं नास्ति" यह प्रतीति लोकमान्य हो सकती है; परन्तु इसकी उपपत्ति शश में श्रृङ्गाभाव का विषय करने से भी हो जाती है।

इस प्रकार चिन्तामणिकार ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न पर आश्रित जितनी भी व्याप्तियाँ थीं उसको खण्डित कर अपने समय तक प्रचलित अन्य विद्वानों द्वारा उद्‌भावित अनेक व्याप्ति लक्षणों को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उसकी समीक्षा की है।

जैसे-"साध्यासमानाधिकरण्यानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वं व्याप्तिः।"

अर्थात् जिसमें साध्य का असामानाधिकरण्य हो-इस बहुव्रीहिमूलक व्युत्पत्ति के अनुसार साध्यासमानाधिकरण्य का अर्थ है; साध्य का असमानाधिकरण-साध्याधिकरणत्व शब्द में लगी सप्तमी का अर्थ है-अन्यनुवृत्तित्व; इसलिये पूरे लक्षण का अर्थ है-साध्याधिकरण में अवृत्ति पदार्थ की अनधिकरणता जिस हेतु की अधिकरणता से न्युन वृत्ति न हो वह हेतु साध्य का व्याप्य है।

"अधिकरणत्वेन सह" इस व्युत्पत्ति से साधिकरणत्व शब्द का अधिकरणता-युक्त-हेतु अर्थ होने से यह अर्थ लब्ध होता है।

"वह्निमान् धूमात्"

यहाँ पर रसोई घर में-जो साध्य अग्नि का अधिकरण है वहाँ पर

अग्नि के अभाव की वृत्तिता नहीं है-उसकी अनधिकरणता धूम के अधिकरणता की न्युन वृत्ति नहीं है-क्योंकि सभी धूमाधिकरण वह्न्य-भाव के अनधिकरण है; अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"

यहाँ पर ज्ञेयत्व भी वाच्यत्व का व्याप्य है-क्योंकि-साध्यधिकरण घटादि में-आकाश आदि नित्यद्रव्य की अवृत्ति है अर्थात्-अधिकरणता सम्बन्ध से उसका सर्वत्र अभाव है। अतः वह भी ज्ञेयत्व की अधिकरणता की न्युन वृत्ति नहीं है।

"धूमवान् वह्नेः"

यहाँ पर अग्नि धूम का व्याप्य नहीं हो सकता-क्योंकि-धूमाधिकरण में आवृत्ति धूमाभाव का अनधिकरणत्व वह्नि के अधिकरणता की न्युन वृत्ति है-अतः अग्नि का अधिकरण अर्थात् जलते हुए लोहे में अग्नि है; परन्तु धूम नहीं है।

अतः चिन्तामणिकार ने-साध्यासामाधिकरण्य का साध्याधिकरणावृत्ति उचित नहीं समझा।

उन्होनें उसके दो अर्थों की सम्भावना मानी। **१-साध्यानधिकरणत्व २-साध्याधिकरणानधिकरणकत्व।**

पहले का अर्थ है-साध्य का अनधिकरण जिसका अधिकरण न हो।

दूसरे का अर्थ है-साध्याधिकरण जिसका अनधिकरण हो

१-उदाहरण-

"साध्य का अनधिकरण जिसका अधिकरण न हो अर्थात्-साध्य अग्नि का अनधिकरण जलाशय वह्न्यभाव का अधिकरण है; अतः वह्न्यभाव साध्यानधिकरणाधिकरणक है।

२-उदाहरण-

जैसे-साध्य अग्नि का अधिकरण रसोईघर अग्नि के अभाव का अनधिकरण है।

अतः अग्नि का अभाव (साध्याधिकरणानधिकरणक है) परन्तु चिन्तामणिकार के दृष्टिकोण से दोनों ही अग्राह्य है; क्योंकि-पहले में-**"वाच्यं ज्ञेयत्वात्"** यहाँ पर साध्य वाच्यत्व का अनधिकरण अप्रसिद्ध

है; और दसरे में यह दोष है कि कोई न कोई साध्याधिकरण किसी न किसी धूम का अनधिकरण है; वह्नि का अधिकरण पर्वत-महानसीय धूम का अनधिकरण है।

अतः धूम भी साध्यासामानाधिकरण्य शब्द से गृहीत होगा और उकसा अनधिकरणत्व धूम के अधिकरणता की न्युन वृत्ति है। इसलिये धूम वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा।

"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसमानाधिकरण्यं व्याप्तिः"

इसका तात्पर्य यह है कि-जिस धूमाधिकरण में जो वह्नि नहीं रहता-उसमें उकसा अभाव है; इसलिये साध्य में हेतुसमानाधिकरण अभाव का अप्रतियोगित्व न होने से धूम में वह्नि की उक्त व्याप्ति नहीं उपपन्न हो सकती।

अतः यह लक्षण भी ठीक नहीं है; क्योंकि सभी वह्नि चालनीय-न्याय से धूमाधिकरण में विद्यमान अभाव का प्रतियोगी है।

"साधनवन्निष्ठान्योऽन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कवत्वं व्याप्तिः"

चिन्तामणिकार के दृष्टि में यह भी ठीक नहीं है—

"वह्निमान् धूमात्"

यहाँ पर भी धूमाधिकरण महानस में वह्निमत पर्वत का भेद है- अतः भेद रहने से सभी वह्निमान धूमवन्निष्ट भेद का प्रतियोगी बन जायेगा। इसलिये वह्निमान में धूमवन्निष्ठ अन्योन्याभाव का अप्रतियोगित्व न होने से धूम वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा।

"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरण समानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

यहॉ पर यह कहा गया है कि-ऐसे साध्य का समानाधिकरण्य व्याप्ति है; जो हतु समानाधिकरण धमो मे किसी का व्यधिकरण न हो।

अर्थात् धूम के अधिकरण मे जितने भी धर्म है; साध्य वह्नि उसमे किसी का व्यधिकरण नही है; क्योकि जितने भीं धूम के अधिकरण रहते है-सब जगह अग्नि रहती है-इसलिये धूम मे अग्नि का समानाधिकरण सभी धर्मो का समानाधिकरण्य ही रहता है।

अतः धूम मे अग्नि का समानाधिकरण्य धूम निष्ठ वह्नि की व्याप्ति है।

"धूमवान् वह्नेः"

यहाँ पर अग्नि के अधिकरण जलते हुए लोहे में साध्य धूम का व्यधिकरण होने से "वह्निनिष्ठ-धूम समानाधिकरण्य वह्नि में" धूम की व्याप्ति नहीं है।

तत्त्वचिन्तामणिकार के दृष्टि में यह लक्षण भी ठीक नहीं है-क्योंकि-साधनसमानाधिकरण धर्मी में प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म भी आते हैं-अतः सभी धर्मों से वैयधिकरण्य की अप्रसिद्धि होने से सद्धेतु मात्र अव्याप्ति होगी।

"अनौपाधिक सम्बन्धो व्याप्तिः"

अर्थात् "उपाध्यभाव से विशिष्ट हेतु के साथ साध्य का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है" यह स्वीकार किया गया।

इसके लिये "वह्निमान् धूमात्"—

इस स्थल में धूम में उपाधि का अभाव है; अतः धूम में विद्यमान वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में अग्नि की व्याप्ति स्वीकार की गई। इसके अतिरिक्त "धूमवान् वह्नेः" भी उदाहरण स्वरूप रखा गया।

यहाँ पर गीली लकड़ी उपाधि है। अतः वह्नि निष्ठ-धूम सामानाधिकरण्य उपाध्यभाव से विशिष्ट न होने के कारण अग्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

यह लक्षण भी चिन्तामणिकार को अभिष्ट नहीं है-क्योंकि-"साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः"।

यदि उपाध्यभाव के द्वारा-साधन के यावद्-अव्यापक को साध्य का अव्यापक स्वीकार करें तो-यह भी ठीक नहीं है-क्यों कि यह सोपाधि हेतु में भी है; जैसे-"धूमवान् वह्नेः" यहाँ पर अग्नि आर्द्र इन्धन उपाधि से ग्रस्त है। किन्तु फिर भी साधन अग्नि का अव्यापक यावद् आर्द इन्धन प्रत्येक धूम का अव्यापक हैं। एवं साध्य धूम का व्यापक आर्द्र इन्धन वह्नित्व रूप से साधन महानसीय वह्नि का व्यापक है।

"कार्त्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः"

व्याप्ति का यह लक्षण भी ठीक नहीं है-क्योंकि कृत्स्न शब्द अनेक की अशेषता बताता है; अतः जहाँ साधन एक ही व्यक्ति होगा वहाँ व्याप्ति न हो सकेगी।

जैसे-"सत्तावान् द्रव्यत्वात्"

साध्य के "कात्स्र्न्येन सम्बन्ध" को अर्थात् हेतु में साध्य के सामनैयत्य को भी व्याप्ति स्वीकार नहीं की जा सकती-

क्योंकि-विषम व्याप्त-साध्य से न्युन वृत्ति हेतु में-सत्ता साध्य के द्रव्यत्व हेतु में व्याप्ति की अनुपपत्ति होगी।

"यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धो व्याप्तिः"।

"साधन के सभी आश्रयों में आश्रित साध्य का सम्बन्ध व्याप्ति है।"

परन्तु चिन्तामणिकार को यह व्याप्ति भी अभिष्ट नहीं है-क्योंकि- "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में साधन धूम के सब आश्रयों से साध्य कोई भी वह्नि आश्रित नहीं है।

"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसमानाधिकरण्यं व्याप्तिः"

अर्थात् हेतु-समानाधिकरण समस्त धर्मो के अधिकरण में विद्यमान साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना व्याप्ति है परन्तु "वह्निमान् धूमात्"-इस स्थल पर धूम समानाधिकरण पर्वतत्व, महानसत्व आदि सभी धर्मों का एक ही आश्रय होने से यह भी अप्रसिद्ध है।

"स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः"

अर्थात् हेतु के साथ साध्य का जो स्वाभाविक सम्बन्ध है; वह व्याप्ति स्वीकार किया गया है।

परन्तु व्याप्ति का यह लक्षण भी ठीक नहीं है क्योंकि-यदि स्वाभाविक शब्द का स्वभाव जन्यता हो और स्वाभाविक शब्द का अर्थ स्वभावनिरूपित हो-तथा स्वाभाविक का अर्थ अनौपधिक किया जायेगा- तो "अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः" में बताये गये दोष से ग्रस्त हो जायेगा।

"अविनाभावो व्याप्तिः"

यह व्याप्ति भी अस्वीकृत है-क्योंकि अविनाभाव शब्द के दो अर्थ हैं—

एक है विना-साध्यं विना-साध्याभाववति; अभावस्त्र:-भावस्य वृत्तित्वस्य अभाव:-साध्याभाववन्निरूपित वृत्तित्वाभाव। दूसरों अर्थ है-साध्याभाव व्यापका भाव का प्रतियोगित्व। परन्तु दोनों ही अर्थों से व्याप्ति असिद्ध है।

"सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः"

परन्तु व्याप्ति का यह भी लक्षण ठीक नहीं है; क्योंकि-"अनुमिति-हेतुव्याप्तिज्ञाने व्याप्तिः-" क्योंकि सम्बन्ध मात्र का ज्ञान हेतु में साध्य का व्यभिचार ज्ञान रहने पर भी हो जाता है। जब कि अनुमिति का होना किसी को अभिष्ट नहीं है।

इसे प्रवृत्ति-निमित्त का भी लक्षण नहीं माना जा सकता-क्योंकि सम्बन्ध मात्र का ज्ञान होने पर सम्बन्ध को व्याप्ति पद से तथा सम्बन्ध के आश्रय को व्याप्य-पद से व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

चिन्तामणिकार ने एक इस पक्ष की भी आलोचना की है कि केवलान्वयिसाधक "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इत्यादि स्थलों के लिये हेतु में केवलान्वयी धर्म का सम्बन्ध मात्र व्याप्ति है; और व्यतिरेकी अग्नि आदि साध्यक स्थल में "साध्यवदन्यावृत्तित्व" व्याप्ति है। पूर्व व्याप्ति का ज्ञान केवलान्वयि साध्य की अनुमिति के प्रति कारण है और दूसरी व्याप्ति का ज्ञान व्यतिरेकी अग्नि आदि साध्यक अनुमिति का कारण है; अत: केवलान्वयिसाध्यक स्थल में साध्यवदन्यत्व की प्रसिद्धि न होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

अत: व्याप्ति के द्वादश लक्षणों को अस्वीकार करते हुए नव्य नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय ने यह समीक्षा प्रस्तुत की कि व्याप्ति-लक्षण को सभी स्थलों में अनुगत बनाने की दृष्टि से उसमें साध्यत्व साधनत्व रूप सें ही प्रवेश करना होगा।

क्योंकि-अग्नित्व, घूमत्व आदि विशेष रूप से साध्य, साधन का प्रवेश करने पर साध्य, साधन भेद से लक्षण अननुगत हो जायेगा और साध्यत्व साधनत्व रूप से साध्य साधन का प्रवेश करने पर यह संकट होगा कि यत: साध्यत्व अनुमिति विधेयत्व रूप है। और साधनतव अनुमिति करणत्व रूप है। तथा अनुमिति के लक्षण में व्याप्ति का प्रवेश है।

अतः व्याप्ति के ज्ञान में व्याप्ति-ज्ञान की ही अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष है।

उपर्युक्त लक्षणों को दोषपूर्ण बताते हुए चिन्तामणिकार ने व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण प्रस्तुत किया-क्योंकि किसी भी सत्य की प्राप्ति तर्क रूपी कसौटी के आधार पर हां हो सकता है; जैसे एक आभूषण के निर्माण में सुनार को विभिन्न कसौटियों पर कसना पड़ता है। इसी प्रकार व्याप्ति का कौन सा लक्षण निर्दोष है; इसको जानने के लिए दोषपूर्ण व्याप्ति को परखा गया है; तथा उसे परिक्षित करने के बाद ही सिद्धान्त व्याप्ति को प्रस्तुत किया गया है; जो निम्नलिखित है-

"प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो यन्न भवति तेन समं तस्य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः।"

उक्त वाक्य का अर्थ है-

स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण; हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न से भिन्न साध्य का हेतुनिष्ठ समानाधिरकण्य हेतु में साध्य की व्याप्ति है।

क्योंकि-यहाँ पर (तेन) और (तस्य) इन दो शब्दों का सम्बन्ध समानाधिकरण्य के साथ तो है ही व्याप्ति पद के साथ भी है। अतः "तेन तस्य व्याप्तिः" इतना भाग लक्ष्य का बोधक है-और शेष पूरा जिसमें "तेन" "तस्य" ये दोनों शब्द हैं; वह भी लक्षण का बोधक है।

"यत्समानाधिकरण" का अर्थ है-"हेतुसमानाधिकरण" "यन्न" में "यत्" पद का अर्थ है-साध्य; उसके बाद सुन पड़ने वाला (न) पद का "यत्" पद के पूर्व में होना अभिष्ट है। "तेन" का अर्थ है "साध्येन"-"तस्य" का अर्थ है "साध्यस्य"।

अर्थात्-तेन का अर्थ है-तत्साध्यक और 'तस्य' का अर्थ है-"तद्धेतुक" ऐसा तब होता है; जब लक्ष्य-बोधक भाग की स्थिति रहती है।

परन्तु लक्षण बोधक भाग की स्थिति में-"तेन" का अर्थ "तन्निरूपित"-"साध्यनिरूपित" और तस्य का अर्थ "तन्निष्ट", हेतुनिष्ट; दोनों का अन्वय समानाधिकरण का अर्थ है-स्वप्रतियोगी का असमानाधिकरण।

"वह्निमान्" "धूमात्"

यहाँ पर हेतु धूम का अधिकरण अग्नि है; अग्नि के अभाव अपने प्रतियोगी वह्नि के असमानाधिकरण होकर नहीं रहते; किन्तु घट, पट आदि के अभाव रहते हैं। अत: स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतु-समानाधिकरण घटाद्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि से अवच्छिन्न घटादि से भिन्न अग्नि का धूमनिष्ठ समानाधिकरण्य धूम में अग्नि की व्याप्ति है।

इस व्याप्ति से विशिष्ट धूम का ज्ञान पर्वत में होने पर "पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार पर्वत में वह्नि की अनुमिति होती है।

इस लक्षण में साध्याभाव, साध्यवद्भेद साध्यानधिकरणत्व आदि का प्रवेश न होने से "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" आदि केवलान्वयी साध्यों की व्याप्ति में कोई बाधा नहीं है।

परन्तु "धूमवान् वह्नेः" में व्याप्ति नहीं स्वीकार की जा सकती।

व्याप्ति के सिद्धान्त लक्षण को प्रस्तुत करने के पश्चात गङ्गेश ने तत्त्व चिन्तामणि ग्रन्थ में व्याप्ति-ज्ञान के उपायों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है; जो इस प्रकार है- अर्थात्- साध्य-सहचार के भूयोदर्शन से व्याप्ति का ज्ञान होता है। "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" इसे केवल एक बार देखने से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता; वरन् सहचार दर्शन से व्याप्ति ज्ञान होता है। अत: व्याप्ति ज्ञान का कारण सहचार दर्शन है।

परन्तु गङ्गेश जी ने इसको खण्डित करते हुए बताया है कि इसमें तीन पक्ष दिखलाई देते हैं—

प्रथम पक्ष-भूयोदर्शन का एक-एक व्यक्ति व्याप्ति-ज्ञान का कारण है।

द्वितीय पक्ष-अथवा सभी व्यक्ति मिलकर व्याप्ति ज्ञान के कारण है।

तृतीय पक्ष-किं वा भूयोदर्शन के सभी व्यक्तियों से उत्पन्न संस्कार मिलकर व्याप्ति-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।

इन तीनों पक्षो से प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नही है-क्योंकि केवल एक सहचार-दर्शन से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता और यदि एक सहचार दर्शन से व्याप्ति सिद्ध हो जाती है तो दूसरे, तीसरे सहचार दर्शन की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

इसलिये भूयोदर्शन व्याप्ति ज्ञान का कारण नहीं बन सकता।

द्वितीय पक्ष- यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सभी सहचार दर्शन क्षणिक होते हैं-अतः किसी एक समय उन सभी का रह सकना असंभव है।

तृतीय पक्ष- यह भी उचित नहीं है-क्योंकि जिस विषय का जो संस्कार उत्पन्न होता है; उससे उसी विषय की प्रत्यभिज्ञा या स्मरण होता है। ऐसी स्थिति में सहचार दर्शन जन्य संस्कार और इन्द्रिय से व्याप्ति-ज्ञान के जन्म की सम्भावना कैसे की जा सकती है।

क्योंकि उत्पादक संस्कार और उत्पाद्य ज्ञान के विषय सहचार और व्याप्ति में भेद स्पष्ट है।

इसको विभिनन विधाओं से खण्डित करते हुए गङ्गेश ने अपना निर्णय दिया है-"व्यभिचारज्ञानाभावसहकृत सहचार दर्शन व्याप्ति ज्ञान का कारण है"।

व्याप्ति की सर्वोपसंहारिता–

नैयायिकों का कहना है कि-किसी एक स्थान और एक काल में सभी धूम, वह्नि की उपस्थिति न होने से सम्पूर्ण धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से; सम्पूर्ण धूम और अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

किन्तु यह बात चक्षु के लौकिक सन्निकर्ष चक्षु के संयोग से होने वाले प्रत्यक्ष में ही लागू हो सकते हैं; किन्तु लौकिक सन्निकर्ष से भिन्न भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। जिसके लिये सन्निकृष्यमाण की उपस्थिति आवश्यक नहीं होती।

ऐसे सन्निकर्ष तीन माने गये हैं-**१-सामान्य-लक्षणा २-ज्ञान लक्षणा** और **३-योगज धर्म।**

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी एक व्यक्ति में जब किसी सामान्य का किसी इन्द्रिय से लौकिक प्रत्यक्ष होता है; तब वह सामान्य अपने सभी आश्रयों के साथ उस इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता है-और उसके द्वारा उसके सभी आश्रय इन्द्रिय-सन्निकृष्ट हो जाते हैं; अतः सन्निकर्ष भूत सामान्य के सभी आश्रयों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है।

अत: समग्र धूम में समग्र वह्नि के व्याप्ति का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार जब रसोईघर में धूम और अग्नि के व्याप्ति का ज्ञान होते समय सम्पूर्ण धूम में सम्पूर्ण अग्नि के व्याप्ति का ज्ञान हो जाने से- पर्वत में धूमत्व वह्नित्व रूप से पर्वतीय धूम और पर्वतीय अग्नि को विषय करने वाले वह्नि-व्याप्य-धूम के निश्चय का जन्म होने में कोई कठिनाई नहीं है।

व्याप्ति का अनुगम–

अब प्रश्न यह उठता है कि सिद्धान्त व्याप्ति में जितने भी व्याप्ति हैं; क्या सभी अनुमिति ज्ञान के साधक हैं; अथवा कोई एक व्याप्ति?

इसका उत्तर श्री गङ्गेश जी ने प्रस्तुत किया कि-

केवल अन्योन्याभाव से घटित व्याप्ति ही अनुमिति का कारण बन सकता है-

अर्थात् "स्वप्रतियोगी में अवृत्ति; हेत्वधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्य का सामानाधिकरण्य" जैसे-"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में स्वप्रतियोगी में अवृत्ति तथा हेत्वधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव है। "घटवान् न, पटवान् न" इत्यादि; उसकी प्रतियोगिता का अवच्छेदक है घट, पट आदि अनवच्छेदक है वह्नि, क्यों कि धूमाधिकरण में "वह्निमान् न" यह अन्योन्याभाव नहीं रहता, उस वह्नि का सामानाधिकरण धूम में है।

परन्तु यह भी सदोष हैं। क्योंकि-अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश है; अत: उसका ज्ञान रहने पर ही उक्त व्याप्ति का ज्ञान सम्भव होने से स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व के अज्ञान दशा में अनुमिति न हो सकेगी; किन्तु अनुभव यह है कि उनके अज्ञान-दशा में भी साध्य में हेतुसमानाधिकरण अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व को विषय करने वाले ज्ञान से भी अनुमिति होती है।

दीधिति के इस त्रुटि का निराकरण रघुनाथ ने यह कह कर किया कि-साध्य में हेतु समानाधिकरण अन्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व तथा स्वप्रतियोग्यवृत्ति हेतुसमानाधिकरण अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदकत्व को विषय करने वाले ज्ञानों का साध्य में स्वप्रतियोग्यवृत्ति

हेत्वधिकरण अन्योन्याभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व ज्ञान विरोधीज्ञानत्व रूप में अनुगम करके उक्त दोनों को कारण माना जा सकता है।

अब हम विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा व्याप्ति का क्या स्वरूप है; इस पर दृष्टिपात करेंगे—

वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति-चर्चा–

वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि-समय और साहचर्य शब्द ही-हेतु निष्ठ साध्य व्याप्ति है।

आगे चलकर अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा प्रशस्तपाद ने व्याप्ति को निर्देशित किया है। पुनः व्याप्ति को प्रसिद्धि शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है।

बौद्धों ने अविनाभाव का अर्थ-अव्यभिचार बतलाया है। जिसका निश्चय उत्पत्ति और तादात्म्य से होता है।

अर्थात् जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है-उसमें उसका अव्यभिचार होता है; एवं जिसमें जिसका तादात्म्य होता है-उसमें भी उसका अव्यभिचार होता है।

यथा-अग्नि से धूम की उत्पत्ति होती है;-अतः धूम में अग्नि का अव्यभिचार है-एवं शिंशपा में वृक्ष का तादात्म्य है। अतः शिंशपा में वृक्ष का अव्यभिचार है।

इसका ज्ञान कार्य-कारण भाव अथवा स्वभाव से होता है। (सपक्ष)- साध्य के आश्रय में साधन के दर्शन और (विपक्ष) साध्याभाव के आश्रय में साधन के अदर्शन से नहीं होता।

इसका खण्डन कन्दलीकार ने इस प्रकार किया है कि-यदि शिंशपा में वृक्ष का तादात्म्य है; तो शिंशपा का ज्ञान होते ही उसकी वृक्षात्मकता भी ज्ञात हो जायेगी। अतः शिंशपा से वृक्ष तादात्म्य का अनुमान नहीं हो सकता।

कन्दलीकार ने-व्याप्ति के लिये-अविनाभाव, अव्यभिचार नियम, व्याप्ति आदि पदों का प्रयोग किया है; तथा सिद्धान्त पक्ष से व्याप्ति का निरूपण करते हुए स्वभाव-नियत सम्बन्ध एवं स्वभाव मात्राधीन सहभाव नियम को व्याप्ति बताया है;-तथा उपाध्य भाव से ग्राहय बतलाया है।

क्यों कि-किसी के साथ किसी का सम्बन्ध स्वभाव से ही होता है। जो उपाधि के अभाव से ज्ञात होता है।

स्वभावाधीन-सहभाव के निश्चय हो जाने पर ही (धूम अग्नि नियत है) इस नियम के आधार पर ही व्याप्ति का निश्चय होता है।

नियम ग्रहण के लिये उपाधियुक्त सहभाव के ग्रहण की अपेक्षा होती है; निरूपाधिकत्व के ग्रहण के लिये भूयोदर्शन-सहभाव का पुन: दर्शन वाञ्छनीय होता है। उसके व्यवस्थित हो जाने पर-सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही उपाध्य भाव का निश्चय होता है।

व्याप्ति शब्द के लिये "प्रसिद्धि" शब्द भी कन्दली में उपास्थित है।

इसके लिये अव्यभिचार शब्द भी कन्दलीकार ने प्रस्तुत किया है।

न्याय लीलावती में व्याप्ति का स्वरूप–

वल्लभाचार्य ने न्याय लीलावती में व्याप्ति के लिये-नियम, प्रतिबन्ध और व्याप्ति इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया है।
जैसे-अनुमान के प्रसङ्ग में "तत्प्रतिबन्ध सिद्धि सापेक्षम" कहते हुए उसके लिये प्रतिबन्ध की सिद्धि को आवश्यक बताया है।

फिर उसी सन्दर्भ में "स च न सामान्ययो: यत्र धूमत्वं यद् धूमत्वमिति वा नियमायोगात्"

यहाँ पर प्रतिबन्ध को नियम शब्द से अभिहित होने की बात कही गयी है। उसी के आगे पुन: "व्यक्त्यन्तरभावेन नियतत्वे कतिपयान्तर्भावेन सर्वोपसंहारवती व्याप्ति:"

यहाँ पर प्रतिबन्ध शब्द को व्याप्ति शब्द से भी अभिहित किया गया है।

अनुमान को प्रतिष्ठित कर देने के पश्चात् वल्लभाचार्य ने "का व्याप्ति:" इस प्रकार व्याप्ति शब्द के उल्लेख के साथ ही व्याप्ति की चर्चा की है। जिसे निम्न रूप दिया है "साधनस्य साध्यसाहित्यं कार्त्स्येन"-अर्थात् साधन हेतु में साध्य के समग्र साहचर्य को व्याप्ति माना है-साथ ही अनौपाधित्व-उपाधि राहित्य के व्याप्तित्व का खण्डन किया है।

शङ्कर मिश्र ने लीलावती के कण्ठाभरण व्याख्या में उक्त व्याप्ति

की व्याख्या करते हुए कहा है कि-"समग्र साधन में साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति स्वीकार किया है।

क्यों कि "अग्नि में धूम के व्याप्ति का अभाव है" जैसे-जलता हुआ लोहा, हीटर इत्यादि। इसीलिये समग्र शब्द का उल्लेख किया गया है।

वर्धमान ने लीलावती के प्रकाश नामक टीका में व्याप्ति के दो निम्न लक्षणों की मान्यता दी है—

१-"यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः"

अर्थात् वह्नि सामानाधिकरण का अवच्छेदक-अनतिरिक्तवृत्ति होने से धूम में वह्नि की व्याप्ति है और वह्नित्व के तप्त अयोगोलक में विद्यमान वह्नि में धूम सामानाधिकरण्य का अतिप्रसङ्ग होने से वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

२-"यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगि यद्वन्न भवति तेन समं सामानाधिकरण्यम्"

अर्थात् जिसके अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी जिसका अधिकरण न हो उसके अधिकरण में रहना।

अर्थात् धूम के अधिकरण में वह्नि के अधिकरण का अन्योन्याभाव नहीं है। क्यों कि सभी धूमाधिकरण वह्नि का भी अधिकरण है। अतः धूम के अधिकरण में विद्यमान घटादि के अधिकरण के अन्योन्याभाव का वह्नि अधिकरण का प्रतियोगी न होने से धूम में वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है।

वह्नि के अधिकरण तप्त अयोगोलक में धूमाधिकरण का अन्योन्याभाव होने से वह्नि भी धूमाधिकरण वह्नि अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी ही है; अतः वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

यद्यपि धूम के अधिकरण महानस में वह्नि के अधिकरण पर्वत का अन्योन्याभाव होने से वह्नि भी धूमाधिकरण मे विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी हो जाता है-तथापि इससे धूम में वह्नि की व्याप्ति बाधित नहीं होती-क्योंकि जो धूम और अग्नि समानाधिकरण्य होते हैं उन्हीं मे व्याप्य-व्यापक भाव मान्य होता है। महानसीय धूम और पर्वतीय वह्नि

में व्याप्य-व्यापक भाव मान्य ही नहीं है; यतः कोई ऐसा धूम नहीं है; जो वह्नि का समानाधिकरण्य न हो-अतः धूम सामान्य को वह्नि सामान्य का व्याप्य कहा जाता है। किन्तु अयोगोलकीय वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य नहीं है। अतः वह्नि-सामान्य को धूम का व्याप्य नहीं कहा जाता।

अन्य वैदिक दर्शनों में व्याप्ति का स्वरूप–

प्रमाण का विचार मुख्य रूप से न्याय-वैशेषिक दर्शन में ही किया गया है; अन्य दर्शनों में यह गौण है- अतः स्वाभाविक रूप से अन्य वैदिक दर्शनों में प्रमाण से प्रधानतया सम्बद्ध विषयों का विवरण भी संक्षिप्त ही होगा। फलतः अन्य दर्शनों में व्याप्ति भी अल्पचर्चित विषय है। फिर भी जो कुछ अन्यत्र प्राप्त है; उसकी चर्चा यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

२-सांख्य-योग में व्याप्ति का स्वरूप–

सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं-१-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-शब्द।

इसमें अनुमान व्याप्ति सापेक्ष है। अतः अनुमान के सन्दर्भ में इसकी संक्षिप्त चर्चा की गयी है-

अनुमान के दो भेद सांख्य-दर्शन में स्वीकार किये गये हैं। १-वीत २- अवीत।

"वीत" का अर्थ है-अन्वयमूलक-हेतु में साध्य सहचारमूलक और "अवीत" का अर्थ है-व्यतिरेक-मूलक-साध्याभाव में हेत्वाभाव का सहचारमूलक। इनमें "अवीत" केवल एक है-शेषवत्। "वीत" अनुमान के दो भेद हैं:- १-पूर्ववत् और २-सामान्यतोदृष्ट।

यहाँ पर अनुमान के लक्षण में प्रविष्ट अन्वय तथा व्यतिरेक की समीक्षा करने से व्याप्ति के संक्षिप्त स्वरूप और भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि-हेतु के साथ साध्य का स्वाभाविक प्रतिबन्ध-किं वा हेतु-साध्य का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध ही व्याप्ति है। जो कहीं हेतु में अन्वय सहचार से; कहीं साध्याभाव में हेत्वाभाव के सहचार से और कहीं दोनों सहचार से गृहीत होती है। तथा

गृह्यमाण सम्बन्ध की स्वभावमूलकता उपाधि के निराकरण से गृहीत होती है।

२- पूर्व मीमांसा के दृष्टिकोंण से व्याप्ति का स्वरूप--

पूर्व मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म; यह वेदों की धर्मपरक व्याख्या ही अपना लक्ष्य मानता है। पूर्वमीमांसा में प्रमाण का विचार करते हुए उसके छः भेद बताये गये हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलाब्धि।

नारायण के "मानमेयोदय" ग्रन्थ में इन प्रमाणों के निरूपण-प्रकरण में अनुमान के सम्बन्ध में निम्न चर्चा उपलब्ध होती है-

अर्थात्-व्याप्य के दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थ का जो ज्ञान होता है; वह अनुमान है।

जैसे-पर्वत में दूर से धूम का दर्शन होने पर उत्पन्न होने वाला असन्निकृष्ट अर्थ अग्नि का अनुमान है।

व्याप्य के दो भेद हैं- १-विषय व्याप्त और २-सम व्याप्त। धूम अग्नि का विषय व्याप्त हैं-क्योंकि धूम ही वह्नि का व्याप्य है-वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है। जिसके कारण अङ्गार अवस्था में धूम का अभाव होने पर भी रहता है। कृतकत्व-कार्यत्व;- अनित्यत्व-नश्वरत्व का सम-व्याप्त है।

क्योंकि कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों एक दूसरे के व्याप्य हैं। पूर्वमीमांसा में-स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति स्वीकार की गयी है। एवं स्वाभाविकत्व का अर्थ उपाधिराहित्य किया गया है। उपाधि का लक्षण है-साधनाव्यापकत्वे सति साध्य-समव्याप्तत्व अर्थात्-जो साधन का अव्यापक तथा साध्य का समव्याप्त हो वह उपाधि है।

व्याप्ति के नामान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धोऽव्यभिचारस्तथाऽविना भावः ।
व्याप्यं पुनर्नियम्यं गमकं लिङ्गं च साधनं हेतुः ।।

व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार और अभिनाभाव ये सब व्याप्ति के ही नाम है; एवं व्याप्य, नियम्य, गमक, लिङ्ग, साधन और हेतु ये सब व्याप्य के नाम है।

३- वेदान्त के दृष्टिकोंण से व्याप्ति का स्वरूप-

वेदान्त परिभाषा अद्वैत वेदान्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; उसके अनुमान प्रकरण में निम्न चर्चा उपलब्ध है—अनुमिति के करण को अनुमान स्वीकार करते हुए व्याप्तिज्ञान मूलक अनुभव को अनुमिति के रूप में व्यवास्थित किया। व्याप्ति-ज्ञान करण है; व्याप्ति-ज्ञान से जन्य संस्कार उसका व्यापार है। तृतीय लिङ्ग-परामर्श-पक्ष में साध्य व्याप्य-हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है।

महानस आदि में धूम में वह्नि व्याप्ति का पूर्वानुभव रहने पर पर्वत में धूम के दर्शन से व्याप्ति के पूर्वानुभवजन्य संस्कार का उद्‌बोध होने पर पर्वत में अग्नि की अनुमिति उत्पन्न होती है। पक्ष में हेतु दर्शन और अनुमिति के बीच व्याप्ति-स्मरण किं वा तृतीय लिङ्ग परामर्श की अपेक्षा नहीं होती।

'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति पर्वतेन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने कारण पर्वत अंश में प्रत्यक्ष और वह्नि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने पर भी अग्नि की व्याप्ति के ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण वह्नि अंश में परोक्ष रूप होती है।

पर्वतेन्द्रिय सन्निकर्ष और वह्नि-व्याप्ति-ज्ञान दोनों से "पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार अन्तःकरण की एक वृत्ति जिसे अनुमिति कहा जाता है-उत्पन्न होती है।

वही वृत्ति सन्निकृष्ट पर्वताकार होने से विषय देशस्थ और असन्निकृष्ट वह्न्याकार होने से अन्तःस्थ होती है; अतः उस एक ही वृत्ति में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं होती।

व्याप्ति के विषय में कहा गया है कि—

"व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामान्याधिकरण्यरूपा; सा च व्यभिचारा दर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते"।

अशेष-समग्र साधनाश्रय-हेत्वधिकरण में आश्रित वर्तमान साध्य का हेतु-निष्ट-सम्बन्ध व्याप्ति है; और वह हेतु में साध्य के व्यभिचार का ज्ञान न रहने पर हेतु में साध्य के सहचार ज्ञान से ज्ञात होती है।

विशिष्टाद्वैत के यतीन्द्रमतदीपिका में व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

व्याप्य-रूप से व्याप्य के अनुसन्धान से होने वाली व्याप्य विशेष की प्रमा अनुमिति कहलाती है। अनुमिति का कारण अनुमान है। व्यापक की अपेक्षा; जो अनधिक देशकाल में अर्थात् अल्पदेश और अल्पकाल में नियत हो वह व्याप्य हैं; और व्याप्य की अपेक्षा अन्यून देश काल में अर्थात् अधिक देश और काल में नियत हो वह व्यापक है।

निरूपाधिक नियत सम्बन्ध व्याप्ति है। उसके दो भेद हैं-अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेकी व्याप्ति।

१- अन्वय-व्याप्ति-जहाँ पर हेतु के सम्बन्ध से साध्य का सम्बन्ध होता है; वहाँ पर अन्वय-व्याप्ति होती है।

२-व्यतिरेक-व्याप्ति-साध्य के व्यतिरेक से हेतु के व्यतिरेक के आधार पर साध्य का बोधक व्याप्ति व्यतिरेक-व्याप्ति है।

४- जैन दर्शन में व्याप्तिं का स्वरूप-

वादिदेव सूरि का "प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार" और उसकी व्याख्या "स्याद्वादरत्नाकर" जैन दर्शन का महनीय ग्रन्थ है; अतः उसके आधार पर व्याप्ति का जैन-सम्मत-स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है:—

जैन मत के अनुसार जो ज्ञान "स्व" और "पर" दोनों को ग्रहण करता है; वह प्रमाण है। जैन मत में ज्ञान को अपने स्वरूप और विषय दोनों का ग्राहक बताया गया है। अतः ज्ञानात्मक प्रमाण के लक्षण की उपपत्ति निम्न प्रकार से की गयी है—

प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये गये हैं-१-प्रत्यक्ष और २-परोक्ष।

जो ज्ञान स्पष्ट और विशद होता हैं; उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्पष्टता और विशदता ज्ञान में भासित होने वाले अर्थ में रहने वाली विशेष प्रकार की विषयता है।

प्रत्यक्ष को इस विषयता का निरूपक होने से स्पष्ट या विशद कहा जाता है।

प्रमाणभूत प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं-१-सांव्यवहारिक और २-पारमार्थिक।

जिस प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप लोक व्यवहार सम्पादित होता है; वह सांव्यवहारिक और जो प्रत्यक्ष आत्मा की ग्रहण-योग्यता मात्र से सम्पन्न होता है; वह पारमार्थिक है।

वास्तव में पारमार्थिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। सांव्यवहारिक यथार्थतः परोक्ष ही है। पारमार्थिक के स्पष्टता मूलक सादृश्य के कारण उसे भी प्रत्यक्ष पद से व्यवहृत किया जाता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-इन्द्रिय चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से जन्य तथा अनिन्द्रिय मन से जन्य। इन दोनों प्रत्यक्षों के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

विषय-द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के साथ विषयी-इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न, वस्तु के सत्तामात्र को ग्रहण करने वाले बोध का नाम है-दर्शन।

इस दर्शन के आधार पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है तथा सत्ता से न्यूनदेशवृत्ति मनुष्यत्व आदि सामान्य द्वारा वस्तु को विषय करता है वह अवग्रह कहलाता है।

ईहा– जो ज्ञान अवग्रह से ग्रहीत आदि के वङ्गीय, उत्कलीय, मैथिल आदि विशेष रूप को सम्भाव्य रूप से ग्रहण करता है; वह ईहा है।

अवाय– ईहा से गृहीत मनुष्य आदि के उक्त विशेष रूप को निश्चित करने वाला ज्ञान "अवाय" है। सम्पुष्ट अवाय ही "धारणा" है।

इन चार स्तरों से वस्तु का प्रत्यक्षात्मक निश्चय सम्पन्न होता है; इस तथ्य का वर्णन महाकवि माघ के "शिशुपाल बधं" में श्रीकृष्ण द्वारा नारद मुनि के पहचान के प्रसङ्ग में निम्नरूप से उपलब्ध होता है:—

"चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ।।"

अर्थात् जब नारद जी आकाश से उतर रहे हैं; तो श्रीकृष्ण जी उन्हें सहसा नहीं पहचान पाते-सर्वप्रथम-उन्हों ने उतरने वाले को तेजपुञ्ज समझा-तथा जब कुछ निकट आये तो शरीर धारी समझा; थोड़ा और करीब आने पर जब अङ्ग इत्यादि को देखा तो कोई पुरुष समझा-तथा जब वे अत्यन्त ही समीप आये तो उसी उतरने वाले को (नारद) समझा।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१-विकल २-सकल।

जो किसी विषय को समग्र रूप में न ग्रहण कर कतिपय अंश को ग्रहण करता है; वह "विकल" कहलाता है।

तथा जो समग्र अंश को ग्रहण करता है; उस पारमार्थिक प्रत्यक्ष को सकल कहा जाता है।

विकल के दो भेद हैं— अवधि और मन: पर्याय।

जो विकल अवधि ज्ञान के अदृष्ट विशेषरूप आवरण के क्षयोपशम से देव, नारक आदि जीवों को किं वा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को उत्पन्न होता है तथा रूपी द्रव्य मूर्त्त द्रव्य को विषय करता है वह "अवधि" है।

जो ज्ञान निर्मल चरित्र के व्यक्तियों को (मन: पर्याय ज्ञान) के आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है; तथा मनोद्रव्य और उसके पर्यायों को विषय करता है; वह "मन: पर्याय" है।

जो ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरणों के क्षय से उत्पन्न हो समग्र द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करता है; वह (सकल) है। इसे ही केवल-ज्ञान कहा जाता हैं। इसे प्राप्त करने में ही मानव जन्म की सार्थकता समझी जाती है। इस ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही अर्हत होता है।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद होते हैं-

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पूर्वानुभूत-जन्य-संस्कार के उद्बुद्ध होने पर पूर्वानुभूत अर्थ की विषय करने वाला (तत्) शब्द अभिलभ्य ज्ञान-स्मरण है-जैसे-घट के दर्शन से उत्पन्न घट-विषयक संस्कार जब घट का कार्य उपस्थित होने पर उद्बुद्ध होता हैं; तब पूर्वदृष्ट घट को विषय करने वाला "स घट:" इस प्रकार घट का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही ज्ञान स्मरण है।

इसका बोध न होने से यह भी एक परोक्ष प्रमाण है। अनुभव और स्मृति दोनों के सहयोग से उत्पन्न होने वाला पूर्वानुभूत तथा अननुभूत पूर्व अर्थों का संकलनात्मक ज्ञान जो तिर्यक् सामान्य सदृश परिणाम अथवा उर्ध्वता सामान्य-पूर्वापर पर्यायों में अनुवर्तमान द्रव्य आदि धर्म-समूह को विषय करता है वह "प्रत्यभिज्ञान" नामक परोक्ष प्रमाण है; जैसे-एक गोपिण्ड जो पाँच वर्ष पूर्व देखा गया था; जब पाँच वर्ष बाद आँख के समाने आता है; तब वर्तमान में उस पिण्ड के चक्षुर्जन्य अनुभव और पाँच वर्ष पूर्व उसके दर्शन से उद्भूत संस्कार से उत्पन्न उसकी स्मृति से दोनों समयों के गोपिण्ड़ों का एक संकलनात्मक ज्ञान

"स एव अयं गोपिण्ड:"-यह वही गोपिण्ड है इस रूप से उत्पन्न होता है।

यह ज्ञान गोपिण्ड के सदृश परिणामात्मक तिर्यक-सामान्य को ग्रहण करता है; यत: वर्तमान गोपिण्ड पाँच वर्ष पूर्व देखे गये गोपिण्ड का ही उपचित या अपचित सदृश परिणाम है। दोनों समय के गोपिण्ड में जो एक स्थायी द्रव्य गृहीत होता है; वह उर्ध्वता सामान्य है।

साध्य सामान्य के उपलम्भ तथा अनुपलम्भ से उत्पन्न त्रैकालिक साध्य-साधन के सम्बन्ध-व्याप्ति आदि को विषय करने वाला अमुक के होने पर ही अमुक होता है अथवा अमुक के न होने पर अमुक नहीं होता; इस प्रकार का ज्ञान "तर्क" है। इसका दूसरा नाम "ऊह" है। यह भी एक परोक्ष-प्रमाण है; इसी से व्याप्ति का ग्रहण होता है।

अनुमान में 'अनु' का अर्थ है पश्चात् और 'मान' का अर्थ ज्ञान; जो ज्ञान लिङ्ग-ग्रहण तथा सम्बन्ध-स्मरण व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् उत्पन्न होता है; वह अनुमान है। जिसके दो भेद हैं। १-स्वार्थानुमान २-परार्थानुमान। हेतुग्रहण और सम्बन्ध स्मरण से उत्पन्न साध्य-ज्ञान स्वार्थानुमान है। पक्ष हेतु का बोधक-वचन परार्थानुमान है। इन दोनों ही अनुमान का प्राण व्याप्ति है।

क्योंकि-साध्य का कोई भी अनुमान तब तक स्वार्थ या परार्थ नहीं उत्पंन्न हो सकता-जब तक कि हेतु में साध्य का अविनाभाव रूप प्रतिबन्ध न हो। अर्थात् व्याप्ति न हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि-हम व्याप्ति को कैसे जानते हैं?-इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति को हम दृष्टान्त के आधार पर जानते हैं। यह दृष्टान्त दो प्रकार का होता है। १-साधर्म्य-दृष्टान्त २-वैधर्म्य-दृष्टान्त।

साधर्म्य-दृष्टान्त-इसका ज्ञान हमें तब होता है; जब धूम में वह्नि की व्याप्ति होती है।

और महानस जहाँ "यत्र धूमस्तत्र वह्नि:" इस प्रकार अन्वय व्याप्ति का ग्रहण जहाँ होता है; वहाँ पर वैधर्म्य दृष्टान्त होता है। जलाशय, जहाँ "यत्र वह्निर्नास्तिं तत्र धूमो नास्ति" इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि-जैन दर्शन में व्याप्ति उसे

स्वीकार किया गया है; जहाँ पर हेतु में साध्य का अविनाभाव-साध्य के विना हेतु का न होना पाया जाय वही व्याप्ति है।

जब यह पक्ष में गृहीत होती है; तो-अन्तर्व्याप्ति कही जाती है; तथा पक्ष भिन्न-धर्मों में गृहीत होने पर वही व्याप्ति कही जाती है। इसका ग्रहण "ऊह" नामक परोक्ष प्रमाण के द्वारा होता है।

५- बौद्ध दर्शन में व्याप्ति का स्वरूप-

बौद्ध-दर्शन अविनाभाव को व्याप्ति स्वीकार करता है। जिसका अर्थ होता है-अव्यभिचार-अर्थात् हेतु में साध्य के व्यभिचार का अभाव। इसका निश्चय तादात्म्य और तदुत्पत्ति से होता है।

तादात्म्य वहाँ पर होता है; जहाँ पर एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं होता। जैसे- सीसम में वृक्ष का तादात्म्य होता है। अत: शिंशपा में वृक्ष का अविनाभाव है। अर्थात्-वृक्ष हुए विना शिंशपा शिंशपा ही नहीं है। अर्थात् शिंशपा वृक्ष का ही एक भेद है। इसलिये वृक्ष होना उसका स्वभाव है। यदि वह इस स्वभाव का त्याग करेगा तो अपने अपनत्व का ही त्याग करेगा। क्योंकि-नि:स्वभाव वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता।

अत: तादात्म्यस्वरूप स्वभाव से अविनाभाव-अव्यभिचार रूप व्याप्ति का निर्धारण सर्वथा तर्क सङ्गत ही है।

इसी प्रकार तदुत्पत्ति भी अविनाभाव का निश्चायक होता है। अर्थात् जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है; उस वस्तु में उसका अविनाभाव-अव्यभिचार होता है। क्यों कि कोई भी वस्तु किसी ऐसे पदार्थ से उत्पन्न नहीं होती; जिसका वह व्यभिचारी हो। जिसके बिना भी वह हो जाती है। जैसे-अग्नि से उत्पन्न धूम में अग्नि का अव्यभिचार स्पष्ट है। अग्नि के विना धूम कभी नहीं होता यदि अग्नि के बिना भी धूम सम्भव हो तो वह्नि से उत्पाद्य ही नहीं हो सकता।

बौद्ध विद्वानों का यह अकाट्य सिद्धान्त है कि हेतु में साध्य के अविनाभाव का नियम सपक्ष-अर्थात्-साध्य निश्चय के धर्मी में हेतु के दर्शन तथा विपक्ष-साध्याभाव निश्चय के धर्मी में हेतु के अदर्शन से नहीं निर्णीत हो सकता। क्योंकि- लोह लेख्यत्व के अविनाभाव का निर्णय नहीं होता; क्योंकि वज्र आदि में पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व के व्यभिचार

की उपलब्धि होती है। अतः अविनाभाव के नियम का निर्णय एक मात्र कार्य-कारणभाव अथवा स्वभाव तादात्म्य से ही होता है; यही बात मान्य है यह तथ्य—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियमाकम्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्"।।

यह प्रसिद्ध कारिका अनुमोदित करती है कि-बौद्धों का यह सिद्धान्त ध्यान में रखने योग्य है कि अनुमान के दो ही हेतु हैं। **१-कार्य २-स्वभाव।** अर्थात्-जो कार्य अथवा स्वभाव नहीं है; वह अनुमापक नहीं हो सकता। रस से रूप का अनुमान होता है; वह केवल इसलिये कि बौद्ध मत में रस रूप आदि से भिन्न उसके आश्रय द्रव्य का अस्तित्व अप्रामाणिक है; क्षणिक रूप, रस आदि की समष्टि ही रूप आदि के आश्रय द्रव्य के रूप में व्यवहृत होती है। रूप रस आदि की पूर्वसमष्टि ही उनकी अग्रिम समष्टि को उत्पन्न करती है। अतः पूर्ववर्त्ती रूपादि समष्टि के उत्तरवर्ती समष्टि का कारण होने से पूर्वरूप-क्षणमात्र में उत्तररूप-क्षणमात्र की कारणता न होकर रस आदि की भी कारणता होती है; फलतः रस के रूप का भी कार्य हो जाने से रस से रूप का अनुभव भी कार्यहेतुक कारणानुमान हो जाता है।

इसी प्रकार पृथिवीत्व से द्रव्यत्व का अनुमान भी स्वभाव-हेतुक अनुमान है; क्योंकि द्रव्य होना पृथ्वी का स्वभाव है; अतः कोई भी पार्थिव पदार्थ द्रव्य हुए विना अस्तित्व में ही नहीं आ सकता। इसीलिये जैसे-शिंशपा से वृक्षानुमान स्वभावन्हेतुक है। वैसे ही पृथिवीत्व से द्रव्यत्वानुमान अर्थात् पृथिवी होने से द्रव्य होने का अनुमान भी स्वभाव हेतुक अनुमान है।

व्याप्ति की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् उनके पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी जानना अति आवश्यक है-क्योंकि-जब तक उनके अर्थावबोध को हम नहीं जानेंगे-तब तक हम उसे समझ नहीं पायेंगे। अतः अर्थावबोध को जानना अति आवश्यक है।

अविनाभाव-व्याप्ति–

किसी के विना किसी का अभाव-जैसे-अग्नि के बिना धूम का अभाव। द्रव्यत्व के बिना पृथिवीत्यादि का अभाव। अन्य शब्द में इसे

इस प्रकार कहा जा सकता है-अमुक के अभावाधिकरण में अमुक का अवृत्तित्व-अमुक का न होना वह्न्यभाव के अधिकरण जलाशय आदि में धूम्र का न होना द्रव्यत्व के अभावाधिकरण गुण आदि में पृथिवीत्व आदि का न होना। इस प्रकार के धूम के साथ अग्नि का एवं पृथिवित्व के साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध है। अविनाभाव वह्नि के विना धूमाभाव के बिना पृथिवीत्वाभाव-अर्थात् धूम के साथ अग्नि का और पृथिवीत्व आदि के साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध स्वभावाधिकरण-वृत्तित्वाभाव। यही व्याप्ति है।

व्यभिचारित्व–

यह भी एक सम्बन्ध है। अर्थात् जो किसी वस्तु के बिना भी रहती है-जैसे-हीटर इत्यादि में अग्नि तो रहती है; परन्तु धूम नहीं रहता। एवं गुण आदि में पृथिवीत्व के बिना रहने वाले द्रव्यत्व के साथ पृथिवीत्व का तदभावाधिकरण-वृत्तित्वरूप-सम्बन्ध। इसी का नाम है-व्यभिचारित्व-व्यभिचार अनैकान्तिकत्व।

वह्नि से धूम का अनुमान करने पर वह्नि-हेतु में गीली लकड़ी संयोग उपाधि है। किन्तु धूम से अग्नि का अनुमान करने पर धूम में नहीं है। इस प्रतीति से वह्नि हेतु में आर्द्र-इन्धन संयोग उपाधि की आश्रयता के नियामक सम्बन्ध के रूप में तदभावाधिकरण-वृत्तित्व रूप व्यभिचारित्व सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

तादात्म्य–

यह भी एक सम्बन्ध है "स आत्मा स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्य भावः (तादात्म्यम्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार तादात्म्य का अर्थ है-तद्-किसी वस्तु का असाधारण धर्म। फलतः जिस वस्तु का जो असाधारण धर्म है; जो एकमात्र उसी में रहता है; वही उसका तादात्म्य है। इसलिये उस वस्तु का तादात्म्य उसी वस्तु के साथ होता है। अन्य के साथ नहीं। सभी तादात्म्य का अनुगत रूप है-भेद विशिष्टान्यधर्मत्व। भेद का वैशिष्ट्य है-स्वाश्रयवृत्तित्व और स्वप्रतियोगिवृत्तित्व, यह उभय-इसके अनुसार जो धर्म किसी भेद के आश्रय और प्रतियोगी दोनों में रहेगा वह स्वाश्रयवृत्तित्व और स्वप्रतियोगिवृत्तित्व इस उभय-सम्बन्ध से विशिष्ट हो जायेगा, जैसे-घटत्व पटत्व आदि नीलघटादि भेद के आश्रय पीत घट

आदि में रहने तथा प्रतियोगी नील घट आदि में भी रहने से उक्त भेद से विशिष्ट है; किन्तु जो धर्म एकमात्र में रहता है; वह किसी भेद के आश्रय और प्रतियोगी दोनों में न रहने से भेद विशिष्ट न होकर भेद विशिष्टान्य हो जाता है। जैसे-तदघट का रूप केवल तद्घट में रहने से तद्घट भेद के प्रतियोगी मे तो रहता है; उसके आश्रय अन्य घट आदि में नहीं रहता। इसी प्रकार वह अन्य घट आदि के भेद के आश्रय तद्घट में तो रहता है पर उसके प्रतियोगी अन्य घट आदि में नहीं रहता। अतः तद्घट-गत रूप भेद विशिष्टान्य-धर्म होने से तद्घट का तादात्म्य है। ऐसे सभी धर्मरूप तादात्म्य भेदविशिष्टान्य-धर्मत्व-रूप से एक अनुगत-सम्बन्ध कहे जाते हैं।

प्रतियोगिता–

अभाव के सम्बन्ध में प्रतियोगिता शब्द का अर्थ विरोधिता-इस दृष्टिकोण से अभाव के विरोधी को अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है; जेसे-घट घटाभाव का विरोधी है। घट के अधिकरण में घटाभाव नहीं रहता। इस प्रकार इन दोनों में असामानाधिकरण्य, एकाधिकरण में अवृत्तित्व रूप विरोध है। इस विरोध के कारण ही घट घटाभाव का विरोधी कहा जाता है।

इस प्रकार घट घटाभाव का प्रतियोगी है। इसका अर्थ होता है कि घट घटाभाव का विरोधी है।

यद्यपि जैसे-घट में घटाभाव का विरोध है; उसी प्रकार घटाभाव में भी घट का विरोध है-किन्तु घटाभाव घट का प्रतियोगी है-यह व्यवहार नहीं होता-किन्तु वह घट घटाभाव का प्रतियोगी है-यही व्यवहार होता है। इसका कारण यह है कि-अभाव शब्द स्वयं भावविरोधी अर्थ प्रकट करता है। किन्तु भाव शब्द विरोधी अर्थ को प्रकट नहीं करता। इसलिये घट को ही घटाभाव के विरोधी अर्थ में घटाभाव का प्रतियोगी कहा जायेगा।

उदयनाचार्य ने प्रतियोगिता को अभावाभावात्मक रूप माना है। अतः घटाभावाभावत्व रूप ही घट में घटाभाव की प्रतियोगिता है।

अवच्छेदकता–

इसका अर्थ परिच्छेदकता है। इसे नियामकता अथवा नियन्त्रकता भी कहा जाता है।

आशय यह है कि-जो किसी को परिच्छिन्न, नियमित अथवा नियन्त्रित करे वह अवच्छेदक होता है।

अवच्छेदकता के आश्रय को अवच्छेदक कहा जाता है। इसके मुख्य रूप से छः भेद हैं- देश, काल, धर्म, सम्बन्ध विषयता और विषयिता। "पर्वतस्य मध्ये वह्निः न शिखरे- अर्थात् पर्वत के मध्य देश में अग्नि है; शिखर में नहीं है। इस प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि जब जिस पर्वत में अग्नि होता है; तब उस पर्वत में अग्नि और अग्नि का अभाव दोनों रहता है। अग्नि पर्वत के मध्य देश में रहता है और अग्नि का अभाव पर्वत के शिखर देश में रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्य देश अग्नि का और शिखर देश अग्नि के अभाव का अवच्छेदक होता है। इसी प्रकार "घटस्य जन्मकाले घटे गुणो नास्ति" अर्थात् घट के जन्म के समय घट में गुण का अभाव होता है- इस प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि घट का जन्म-काल घट में गुणाभाव का अवच्छेदक है। धर्म-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदक को प्रतियोगितावच्छेदक के प्रसङ्ग में किया जायेगा।

गदाधर भट्टाचार्य जी ने विषयता को भी अवच्छेदक स्वीकार करते हुए कहा कि-एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है। क्योंकि इसमें निरूप्य-निरूपक भाव होता है। जैसे-"नीलो घटः" इस ज्ञान की नील-निष्ठ-प्रकारता और घटनिष्ठ विशेष्यता में निरूप्य निरूपक भाव होने से नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित प्रकारिता रूप-विषयिता और घटनिष्ठ विशेष्यता निरूपित-विशेष्यता रूप विषयिता एक दूसरे का अवच्छेदक है। इसलिये इस ज्ञान को नीलनिरूपित प्रकारत्वावच्छिन्न घट निरूपित-विशेष्यतावद् के रूप में वर्णित किया जाता है।

गदाधर और जगदीश के पूर्व एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव या अभेद नहीं माना जाता था; किन्तु समानाधिकरण्यमात्र माना जाता था।

अतः उस समय "नीलघटवद् भूतलम्" को नीलनिष्ट प्रकारता-निरूपित घटनिष्ट विशेष्यता समानाधिकरण प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ट विशेष्यता शाली ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता था।

परन्तु समूहावलम्बन ज्ञान का व्यावर्तक न होने से बाद में अमान्य कर दिया गया।

प्रतियोगितावच्छेदक–

धर्म और सम्बन्ध के दृष्टि से प्रतियोगिता के दो अवच्छेदक होते हैं।

जिस रूप में प्रतियोगी अभाव का विरोधी होता हैं-वह प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होता है-और जिस सम्बन्ध से वह विरोधी होता है; वह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध होता है।

इसलिये घटत्व-घटाभाव के प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म और संयोग घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है-तथा जो जिसका अवच्छेदक होता है; वह उससे अवच्छिन्न होता है। इसलिये घटाभाव का अर्थ हुआ-संयोगसम्बन्धवच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न घटनिष्ट प्रतियोगिताका निरूपक अभाव।

सम्बन्ध की प्रतियोगिता एवं अनुयोगिता–

जो समय सम्बन्ध से कही आश्रित अथवा सम्बद्ध होता है-वह सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है। तथा जहाँ आश्रित या सम्बद्ध होता है; वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है।

जैसे-घट संयोग सम्बन्ध से घट का प्रतियोगी होता है-और जहाँ आश्रित या सम्बद्ध होता है; वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है।

भूतले घटस्य संयोगसम्बन्धः-यहाँ पर भूतल शब्द में लगी सप्तमी विभक्ति का अर्थ है-अनुयोगिता और घट शब्द में लगी षष्ठी का अर्थ है-प्रतियोगिता। संयोग की प्रतियोगिता संयोगसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता रूप है; और अनुयोगिता संयोग सम्बन्धावच्छिन्न आधारता रूप हैं।

सम्बन्ध–

जिसके द्वारा दो वस्तुओं में आधाराधेयभाव, कार्य-कारणभाव विशेष्य-विशेषण-भाव, व्याप्य-व्यापक-भाव, साध्य-साधक भाव, विरोध्य और विरोधी भाव होता है; वह सम्बन्ध है।

जैसे-घट भूतल के संयोग से आधाराधेय भाव सम्बन्ध होता है। पट और तन्तु में समवाय अथवा कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होता है। घट और रूप में-समवाय से विशेष्य विशेषण भाव होता है। धूम और

अग्नि में संयोग सम्बन्ध से व्याप्य-व्यापक भाव होता है। संयोग से अग्नि और धूम में साध्य साधकं भाव होता है; गोत्व और अश्वत्व में समवाय से विरोध्य-विरोधी भाव होता है।

सम्बन्ध का दूसरा लक्षण हैं संसर्गताख्य-विषयता। यह विषयता जिसमें हो उसे सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे-"दण्डी पुरुषः यहाँ पर संसर्गता का आश्रय होने से समवाय सम्बन्ध है। सम्बन्ध का एक तीसरा लक्षण है-जिससे दो वस्तुओं में विशिष्ट प्रत्यय हो; वह सम्बन्ध है। जैसे-घट भूतल का सम्बन्ध।

सम्बन्ध के छः मुख्य भेद हैं, जैसे-साक्षात्-सम्बन्ध, परम्परा-सम्बन्ध वृत्ति-नियामक सम्बन्ध, वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध, सामान्य-सम्बन्ध और विशेष्य सम्बन्ध।

१-वृत्ति-नियामक सम्बन्ध-एवं २-वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध

यह वह सम्बन्ध होता है; जिससे कोई पदार्थ वृत्ति आश्रित होता है; जैसे-संयोग, समवाय और विशेषणता। घट, भूतल आदि में संयोग सम्बन्ध से; और कपाल आदि में समवाय सम्बन्ध से, काल में विशेषणता (कालिक); दिशा में विशेषणता (दिक्कृत) सम्बन्ध से आश्रित होता है।

एवं घटाभाव आदि अभाव पर्वत आदि में विशेषणता अभावीय स्वरूप सम्बन्ध से आश्रित होते हैं; अतः संयोग आदि उक्त चार सम्बन्ध वृत्ति-नियामक हैं।

उक्त सम्बन्धों से भिन्न सभी सम्बन्ध वृत्ति के अनियामक होते हैं। अतः तादात्म्य को छोड़कर वृत्ति का अनियामक कोई भी सम्बन्ध अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता।

३-साक्षात्-सम्बन्ध-जिसमें एक ही संसर्गता होती है उसे साक्षात्-सम्बन्ध कहा जाता है।

४-परम्परा-सम्बन्ध-इसमें दो संसर्गतायें होती हैं।

जैसे-"घटवत् भूतलम्" यहाँ पर संयोगत्वावच्छिन्न एवं समवायत्वावच्छिन्न एक ही संसर्गता होने से संयोग और समवाय साक्षात्-सम्बन्ध है। इसी प्रकार कालिक दैशिक आदि साक्षात सम्बन्ध के अन्तर्गत अनुभूत होते हैं।

अतः एक संसर्गता पूर्वभाग में तथा दूसरी संसर्गता उत्तरभाग में होती है।

इसलिये दो संसर्गताओं के आश्रय से घटित होने के कारण ऐसे संसर्ग को परम्परा सम्बन्ध कहते हैं।

एवं सबसे अन्तिम सम्बन्ध किञ्चित्प्रतियोगित्व अथवा किञ्चित् अनुयोगित्व से विशिष्ट होने पर विशेष सम्बन्ध हो जाते हैं। सामान्य-संयोग द्रव्यमात्र का सम्बन्ध होता है; किन्तु घट प्रतियोगी-सम्बन्ध घट का ही होता है। और भूतलानुयोगिक-संयोग भूतल में ही आश्रित होता है।

इस प्रकार सर्वप्रथम सभी दार्शनिकों के दृष्टि से प्रमाण व्यवस्थापन करने के अनन्तर व्याप्तिवाद के विषय में अध्याहार किया गया। क्योंकि-चार्वाक् को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिक अनुमान की प्रामाणिकता अपने अपने दृष्टिकोंण से स्वीकार करते हैं। जिसका मुख्य आधार व्याप्ति स्वीकार करते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों से उसे व्यवस्थित किया गया।

सहायक-ग्रन्थ सूची

१. तर्कभाषा
२. माध्यमिक सूत्र
३. न्याय सू.
४. बौद्ध दर्शन मीमांसा
५. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य
६. भामती
७. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन
८. बौद्ध-प्रमाण-मीमासा
९. जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र
१०. वैदिक तर्कभाषा
११. पद्मपुराण उत्तरखण्ड
१२. न्यायसूत्र विश्वनाथवृत्ति।
१३. नैषधमहाकाव्यम्।
१४. न्यायभाष्य वार्तिक
१५. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका
१६. न्यायमञ्जरी प्रथम परिच्छेद
१७. तर्कभाषा पृ० १० (बदरीनाथ शुक्ल)
१८. महाभारत शान्तिपर्व
१९. मुक्तावली
२०. बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय दर्शन
२१. मिथिलामिहिर
२२. वाचस्पति विशेषांक
२३. भारतीय-दर्शन
२४. न्यायकणिका
२५. दि भण्डारकर इन्ट्रोडेक्शन

२६. न्याय कौमुदी पृ०सं० ४१
२७. वात्स्यायन भाष्य
२८. वै.सू.
२९. व्यासभाष्य
३०. वेदान्त
३१. प्रमाण समुच्चय टीका
३२. तर्क सं. बुद्धिनिरुपण
३३. बौद्धतर्कभाषा
३४. बौद्धप्रमाण मीमांसा
३५. प्रमाणवार्त्तिकम्
३६. प्रमाण समुच्चय
३७. अद्वैत वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा
३८. जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र परिशीलन



डॉ. इन्दुमती मिश्रा

लेखिका परिचय

नाम : डॉ. इन्दुमती मिश्रा
पिता : स्व. सीताराम त्रिपाठी
माता : श्रीमती कैलाशी देवी
जन्म-स्थान : देवरिया, पींड़ी, रुद्रपुर
जन्म-तिथि : 01.08.1956
पति : श्री देवेन्द्र शास्त्री
स्थायी निवास : बी. 36/44-सी-4, कबीरनगर, दुर्गाकु[illegible], वाराणसी
शैक्षिक योग्यता : एम.ए., आचार्य, पी.एच.डी.

1. हाईस्कूल सन् 1972 - संस्था - सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल, वाराणसी
2. इण्टरमीडिएट सन् 1979 - संस्था - माध्यमिक शिक्षा परिषद, दुर्गाचरण गर्ल्स इण्टर कालेज, वाराणसी
3. बी.ए. सन् 1981 - संस्था - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
4. एम.ए. सन् 1986 - संस्था - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
5. आचार्य सन् 2008 - सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
6. पी.एच.डी. सन् 2001 - संस्था - सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

पुरस्कार : उ.प्र.सं. संस्थान द्वारा शंकर पुरस्कार से सम्मानित (2007)

शैक्षिक अनुभव :
1. वागेश्वरी शिक्षण संस्थान में तीन वर्ष तक अध्यापन
2. राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान मानित विश्वविद्यालय द्वारा अनौपचारिक संस्कृत सम्भाषण केन्द्र की शिक्षिका के रूप में कार्यरत।